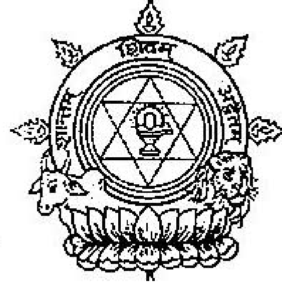
श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—५९



श्रीसदानन्दयतिविरचितः

वेदान्तसारः

श्रीमदापदेवकृता

बालबोधिनी

श्रीदक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वराचार्यमहामण्डलेश्वर
श्रीमहेशानन्दगिरिमहाराज के
निर्देश से

●

न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य
डॉ. सच्चिदानन्दमिश्र
के द्वारा
हिन्दीभाषामयी 'बालव्युत्पत्तिवर्धिनी' व्याख्या
भूमिका, टिप्पणी आदि से संयोजित कर सम्पादित

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक-

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन

डी. ४९/९, मिश्रपोखरा

वाराणसी-२२१०१०

प्रथमसंस्करण

विक्रमाब्द : २०६६

भगवत्पादाब्द : १२२२

ईस्वी सन् : २०१०

मूल्य : २००.०० (दो सौ रूपया मात्र)

मुद्रक :
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी
फोन नं. ०५४२-२२०११०४

ॐ

प्राक्कथन

आत्मकल्याण मानव का अधिकार एवं कर्तव्य है। इसकी उपेक्षा अपूरणीय क्षति देती है क्योंकि श्रेयोमार्ग पर चलने का मौका पुनः कठिनाई से मिलता है। आत्मान्वेषण का एकमात्र प्रामाणिक तरीका भगवान् भाष्यकार आचार्य श्री शङ्कर द्वारा प्रस्थानत्रयी भाष्यों में एवं प्रकरणग्रन्थों में निर्दिष्ट है, जिसका स्पष्टीकरण सम्प्रदाय में हुए असङ्ख्य आचार्यों ने व्याख्योपव्याख्याओं द्वारा तथा विभिन्न प्रक्रियाग्रन्थों एवं वादग्रन्थों द्वारा किया है। मुमुक्षु को उपनिषदर्थ समझना है, उसी प्रयोजन से यह सारा साहित्य उपलब्ध कराया गया है, किसी बुद्धिविलास के लिए नहीं। उपनिषद् अर्थात् वेदान्तों को समझ पाने के लिए जो विचारसरणि का प्रारम्भिक परिचय अनिवार्य है, उसके लिए विरचित कतिपय ग्रन्थों में आचार्य सदानन्द का वेदान्तसार सिरमौर है। शताब्दियों से वेदान्तजिज्ञासु सर्वप्रथम इसी का अध्ययन करते हैं, जिससे व्याकरण में लघुकौमुदी के अध्ययन की तरह वेदान्त में इसका स्थान सुनिश्चित हो गया है। इस पर टीकाएँ होने पर भी इसका स्वयं का जितना महत्त्व है उतना टीकाओं का नहीं। यद्यपि मूल समझने के लिए अनेकत्र उनका अवलम्ब आवश्यक है। विशेष ऊहापोह में उलझने के लिए यह ग्रन्थ नहीं है, वेदान्त की शब्दावली तथा मूल सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए है। अतः व्याख्याओं का उतना ही उपयोग होना ठीक ही है।

तथापि प्रसिद्ध मीमांसक आपदेव की बालबोधिनी नामक टीका महत्त्वपूर्ण है। पूर्व में मुद्रित होने पर भी अनेक दशाब्दियों से दुर्लभ इस व्याख्या को पुनः प्रकाशित कर जिज्ञासुजनों के सम्मुख लाया गया है, ताकि सार के गाम्भीर्य से परिचित हुआ जा सके। इसके सम्पादक तथा सार की हिन्दी व्याख्या के रचयिता श्री सच्चिदानन्द मिश्र ने आपदेव के सभी विचारों का यथोचित सङ्ग्रह कर हिन्दीमात्र के जानकारों का अतीव उपकार किया है। आपदेव स्वतन्त्रप्रज्ञ किन्तु साम्प्रदायिक विद्वान् थे और उनके सामने सार की एकाधिक व्याख्याएँ उपस्थित रहीं। अतः मूल का अर्थमात्र बताने के लिए उन्होंने यह प्रयास नहीं किया वरन् बहुत से विचारों को सुव्यवस्थित करने के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। व्याकरण-न्याय-मीमांसा के वैदुष्य की छाप इनकी व्याख्या में पद-पद पर मिलती है। प्रारम्भ में ही विचार-लक्षणा, अधिकार-विचार, अध्ययन-विधिविचार, नित्यकर्म-साफल्यचिन्ता, प्रायश्चित्त-प्रयोजनविचार, विविदिषन्ति-विचार आदि अनेक गम्भीर प्रसंग उपलब्ध होते हैं, जिनमें ग्रन्थकार की सूक्ष्मदृष्टि का गाम्भीर्य व्यक्त है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव पर अत्यन्त आवश्यक विचार किया गया है। ईश्वर की उपाधि के विषय में चिन्तन मननीय है। समष्टि के सन्दर्भ में किया गया विचार (पृ.१०९ आदि) विशेष समझने लायक है। जीवेश्वरभेद की प्रत्यक्षता (पृ.१४२ आदि) रुचिकर रीति से उपपन्न की गयी है। विवरणानुसार 'घड़े को नहीं जानता' का स्पष्टीकरण अन्यत्र दुर्लभ है (पृ.१५६ आदि)। हिन्दी व्याख्याकार ने मूल के भाव तो समझाये ही हैं, आपदेवोक्त सभी विशेषों को प्रकट किया है, अन्य टीकाओं के आवश्यक अंशों का समायोजन किया है तथा अनेक बिन्दुओं पर स्वयं चिन्तन कर हिन्दी टीका को भी सार-व्याख्याओं में महत्त्व के

स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। विद्वत्तापूर्ण भूमिका एवं परिश्रम से तैयार किये गये परिशिष्टों से सज्जित कर श्री सच्चिदानन्द मिश्र ने संस्करण अत्यन्त सुग्राह्य बना दिया है। आशा है भविष्य में भी वेदान्तग्रन्थों का इसी तरह परिमार्जित उपस्थापन करने में श्रद्धापूर्ण योगदान करते रहेंगे।

भगवत्पादीय
स्वामी पुण्यानन्द गिरि
आचार्य महामण्डलेश्वर

हरद्वार
पूर्णकुम्भ संवत् २०६६

ॐ

भूमिका

मनुष्य का ज्ञान के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण है। जानने की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति मानवमन में उठनेवाली आत्मोन्मुख तथा विषयोन्मुख जिज्ञासाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है। वेदान्तपरम्परा में स्वीकृत अज्ञान की अवधारणा को इस उत्कण्ठा के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। मैं नहीं जानता हूँ, इस प्रकार के सार्वजनीन अनुभव को वेदान्ती अज्ञान की सत्ता में प्रमाण के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। इस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा ही होनी है। दर्शन वस्तुतः विभिन्न व्यक्तियों या परम्पराओं के द्वारा किया जानेवाला अज्ञान की निवृत्ति के लिए ज्ञान के मार्ग के अन्वेषण का प्रयास ही है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। अद्वैत की अपनी एक विशिष्ट दृष्टि है। परन्तु इसके साथ ही साथ इसका वैशिष्ट्य यह भी है कि यह किसी भी दर्शनसम्प्रदाय का विरोधी नहीं है। अद्वैतवेदान्त के परमाचार्य गौडपाद की *'तैरयं न विरुध्यते'* उक्ति को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। विभिन्न दृष्टियों से स्थापित किये जानेवाले सिद्धान्त अधिकारीभेद से सङ्गत हैं, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शन के समान केवल बौद्धिक व्यायाममात्र नहीं है, अपितु मनुष्य को सुसङ्गत रीति से जीवन को जीने की कला सिखाते हुए उसके समग्र आचरण को अनुशासित भी करता है। गौडब्रह्मानन्द सरस्वती 'सिद्धान्तबिन्दु' की व्याख्या में अद्वैतवेदान्त को समस्त दर्शनों में दर्शनीयतम दर्शन बताते हैं, जो कि नितान्त सत्य है। आज के वैज्ञानिक युग में जब धर्म व दर्शन की विभिन्न मान्यताओं को विज्ञान के द्वारा निर्ममता से धराशायी कर दिया जा रहा है, उसमें अद्वैतवेदान्त अपने लिए नये-नये आयाम अन्वेषित कर लेता है क्योंकि अद्वैतवेदान्त जिस प्रकार से तर्क व वैज्ञानिक प्रविधियों का सीमाङ्कन करने के उपरान्त श्रुति का आश्रय ग्रहण करता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि विभिन्न सम्प्रदाय वेदान्त दर्शन के नाम से जाने जाते हैं। इनमें अद्वैत सम्प्रदाय वेदान्तों यानी उपनिषदों पर अपने दर्शन की नींव स्थापित करते हैं, तथा अन्य सम्प्रदाय पाञ्चरात्रादि आगमों को अपने दर्शन का प्रमुख आधार बनाते हैं। वेदान्तों में अद्वैतदृष्टि की कितनी प्रधानता है, इसका पता इसी तथ्य से चलता है कि मध्वाचार्य के अतिरिक्त समस्त वेदान्त सम्प्रदायों में अद्वैत किसी न किसी रूप में अवश्य आ रहा है। आखिर वेदान्तों की जो मूल ध्वनि है, उसको किस प्रकार दबाया जा सकता है। भगवत्पाद आचार्य शङ्कर के पूर्व में भी अनेक अद्वैताचार्य हुए। योगवासिष्ठ का स्वर भी अद्वैत का परिपोषक ही है, तथा ऐतिहासिकों के मतानुसार उसके अनेक भाग आचार्य शङ्कर से पूर्व के हैं। तथापि भगवत्पाद आचार्य शङ्कर ने अद्वैतपरम्परा को जिस प्रकार से प्रतिष्ठापित किया, उससे अद्वैतवेदान्त शब्द के स्थान पर बहुधा विद्वानों के द्वारा शाङ्करवेदान्त शब्द का प्रयोग भी कर दिया जाता है। प्रसिद्ध इतिहासकारों के अनुसार भगवत्पाद शङ्कर का काल ७८८ ईस्वी से ८२० ईस्वी है। मात्र बत्तीस वर्ष के स्वल्प जीवनकाल में भगवत्पाद आचार्य शङ्कर ने जितना कार्य किया

सामान्यतया मनुष्य के लिए उतना कार्य करने के लिए अनेक शताब्दियों की अपेक्षा होगी। वेदान्त के अन्य समस्त सम्प्रदायों के सामने सबसे बड़ी चुनौती रही कि किस प्रकार से आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतमत का खण्डन किया जाये। विना अद्वैतमत का खण्डन किये समस्त वेदान्तसम्प्रदायों के विकास का मार्ग प्रायशः अवरुद्ध सा था। यहाँ तक कि न्याय आदि दर्शनों के समक्ष भी चुनौतियाँ बड़ी विकट आ गयी थीं, जब अद्वैतवेदान्त के अनुयायी श्रीहर्ष ने अपनी वैतण्डिक शैली का प्रदर्शन करते हुए नैयायिकों के इस अभिमान को चूर-चूर कर दिया था कि जो कुछ भी है, वह सब कुछ ज्ञेय है, निर्वचनीय है। यह आलोचना इस बात की भी थी कि समस्त वस्तुओं को जानने की प्रविधि एक ही नहीं हो सकती। घट-पट आदि को जानना जिस प्रक्रिया में होता है, उस प्रक्रिया से आत्मा या ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता। इसी कारण तो श्रुतियाँ बार-बार *'ज्ञातारं बाऽरे! केन विजानीयात्'* का उद्घोष करती हुई दिखती हैं। भगवत्पाद आचार्य शङ्कर द्वारा नवीन युक्तियों तथा तर्कों के द्वारा परिपुष्ट अद्वैतवेदान्त सम्प्रदाय सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मयति, चित्सुखाचार्य, श्रीहर्ष, मधुसूदन सरस्वती, गौडब्रह्मानन्द सरस्वती आदि विभिन्न आचार्यों के द्वारा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की आलोचनाओं के आलोक में नव-नव तर्कों, युक्तियों आदि से परिपोषित, पल्लवित होता रहा। इसकी ग्रन्थ सम्पत्ति विशाल से विशालतर होती गयी।

'वेदान्तसार' का वैशिष्ट्य

विभिन्न विशाल ग्रन्थों के होते हुए भी कुछ ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता भी विद्वानों को महसूस हुई जो सङ्क्षेप में अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों से सामान्य पाठक को, प्रारम्भिक जिज्ञासु को परिचित करा सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। सामान्य पाठक तथा प्रारम्भिक जिज्ञासु के लिए सरल व सहज रूप में बोधगम्य भाषा में अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों से सुपरिचित कराने के लिए लिखे गये ग्रन्थों में वेदान्तसार को जितना आदर प्राप्त हुआ, अद्वैतवेदान्त परम्परा में उतना समादर किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं मिल सका। सामान्य पाठक को यह समझाना कि ब्रह्म ही परमार्थतः सत्य है, जगत् मिथ्या है, कठिन कार्य है। हमारा जो व्यावहारिक जगत् है, उसको मिथ्या बता देने पर भी वह मिथ्या समझ में नहीं आता। इसी कारण बात की जाती है अधिकारी की। जब स्पष्ट किया जाता है कि कौन अद्वैतवेदान्त का अधिकारी है? तो इस स्पष्टीकरण में यह निहित नहीं है कि किसी पर वेदान्ताध्ययन के लिए रोक लगायी जा रही है। परन्तु इसका आशय इसमें है कि यदि इस प्रकार की योग्यता व्यक्ति में है, तभी उसको वेदान्तवाक्यों का श्रवण करने पर अद्वैत का अपरोक्षानुभव होता है, अन्यथा नहीं। सदानन्द योगीन्द्र ने विचारों को अत्यन्त गहनता में न ले जाते हुए उनको इतनी सरलता से प्रतिपादित किया जिससे कि सामान्य पाठक अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों से सुपरिचित हो जाये। इस ग्रन्थ में उस प्रकार के तलस्पर्शी विचारों का अभाव है, जो कि अद्वैतसिद्धि इत्यादि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। परन्तु यह इस ग्रन्थ की न्यूनता नहीं विशिष्टता है, क्योंकि यह ग्रन्थ प्रारम्भिक पाठकों को ही ध्यान में रखते हुए लिखा गया है।

सदानन्द योगीन्द्र द्वारा प्रणीत 'वेदान्तसार' अद्वैतवेदान्त की मूलभूत मान्यताओं को बहुत ही सङ्क्षेप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ बहुत ही बौद्धिक ईमानदारी के साथ उनका प्रतिष्ठापन करता है। यह वेदान्तदर्शन में

प्रवेश करने के लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। बौद्धिक विवादों से बचते हुए अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों की जानकारी प्रदान करता है। साथ ही साथ कुछ जिज्ञासाओं का बीजारोपण भी कर देता है जिससे व्यक्ति उन जिज्ञासाओं के शमन के लिए स्वयं प्रवृत्त हो, तथा अन्यान्य ग्रन्थों का अध्ययन करे। अद्वैतवेदान्त की ग्रन्थसम्पदा अत्यन्त विशाल है। अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर ग्रन्थों के होते हुए भी इस ग्रन्थ की विशिष्टता इसमें निहित है कि यह ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त के मुख्यसिद्धान्तों का सरलतया प्रतिपादन करते हुए वेदान्त के प्राथमिक विद्यार्थी को उनसे सुपरिचित करा देता है। जिज्ञासुओं को स्वल्पकाल में अद्वैत वेदान्त के विशिष्ट सिद्धान्तों से परिचित करा देना इस ग्रन्थ की अनितरसाधारण विशिष्टता है।

वेदान्तसार के लेखक सदानन्द

संस्कृतसाहित्य में सदानन्द नाम अनेक लोगों का मिलता है। परन्तु वेदान्तसार के लेखक कौन से सदानन्द हैं, इस विषय में बहुत सन्देह की सम्भावना नहीं है। एक सदानन्दयति हैं जिन्होंने 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' लिखी है। परन्तु वे सदानन्द योगीन्द्र से अतिरिक्त हैं। सदानन्द योगीन्द्र के गुरु का नाम अद्वयानन्द था, यह 'वेदान्तसार' के मङ्गलश्लोक के द्वारा सुस्पष्ट ज्ञात होता है।

ईसा की सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ सदानन्द योगीन्द्र का स्थितिकाल है, ऐसा निर्धारण विभिन्न स्रोतों तथा युक्तियों से किया जा सकता है। वेदान्तसार की प्राप्त व प्रकाशित संस्कृत व्याख्याओं में नृसिंहसरस्वती द्वारा विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या का काल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसकी सूचना नृसिंहसरस्वती स्वयं ही टीका की समाप्ति के अवसर पर देते हैं।

जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यान्तिथौ
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकाञ्चकारोज्ज्वलाम्।।

इस श्लोक के अनुसार 'सुबोधिनी' टीका के प्रणयन का काल १५१८ शकाब्द सुनिश्चित होता है। तदनुसार १५८८ ईसवी सन् में 'सुबोधिनी' टीका का प्रणयन हुआ, यह निर्धारित होता है। वेदान्तसार के प्रस्तुत टीका 'बालबोधिनी' के लेखक आपदेव का काल सत्रहवीं शताब्दी है, यह भी अत्यन्त सुस्पष्ट है। इस प्रकार सुनिश्चित तौर पर दिखता है कि सदानन्द योगीन्द्र का काल १५८८ ईसवी के बाद का नहीं हो सकता। इनका काल इससे पूर्व का ही होना चाहिए।

'वेदान्तसार' में अनेक स्थलों पर 'पञ्चदशी' के वाक्य उद्धृत प्राप्त होते हैं। 'पञ्चदशी' का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी है। इस कारण सदानन्द योगीन्द्र का काल चौदहवीं शताब्दी के बाद का ही होना चाहिए। इस प्रकार स्थूल रूप में इनका समय निर्धारित है। प्रो. ए. बी. कीथ ने इनका समय १५०० ईस्वी से पूर्व माना है। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल सोलहवें शतक का प्रारम्भ है। इस

ग्रन्थ का रचनाकाल सोलहवें शतक का पूर्वार्ध मानने के पीछे तर्क यह भी दिया जाता है कि अप्पय दीक्षित द्वारा विरचित 'सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह' में 'वेदान्तसार' के लेखक सदानन्द योगीन्द्र का मत उद्धृत नहीं प्राप्त होता। आनन्दगिरि ने भी 'शङ्करविजय' नामक ग्रन्थ की रचना की है तथा सदानन्द योगीन्द्र ने भी। परन्तु अप्पय दीक्षित ने आनन्दगिरि का तो उल्लेख किया है, सदानन्द योगीन्द्रकृत 'शङ्करविजय' नामक ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं कि है। इस कारण इनका काल सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ ही होना चाहिए, अपना ऐसा अभिमत प्रज्ञानन्द सरस्वती 'वेदान्तशास्त्रेर इतिहास' नामक प्रसिद्ध बाङ्ला भाषा में निबद्ध ग्रन्थ में प्रस्तुत करते हैं। इन युक्तियों के आधार पर किसी भी पक्ष को अत्यन्त निश्चय के साथ स्वीकार करने का आधार तो नहीं दिखायी देता, परन्तु सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ इस ग्रन्थ का रचनाकाल मानने का पक्ष अधिक सम्भाव्य दिखता है।

सदानन्द या सदानन्द योगीन्द्र ने 'वेदान्तसार' के अतिरिक्त 'शङ्करविजय' नामक ग्रन्थ भी लिखा है।

'वेदान्तसार' की व्याख्याएँ

यद्यपि 'वेदान्तसार' अत्यन्त बोधगम्य भाषा में प्रारम्भिक अध्येताओं के लिए लिखा गया है, परन्तु इस पर संस्कृत में अनेक विद्वानों के द्वारा व्याख्याएँ लिखित हैं। अब तक उनमें से तीन व्याख्याएँ प्रकाशित हुई हैं—१) श्री नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी व्याख्या, २) श्री रामतीर्थ यति की विद्वन्मनोरञ्जिनी व्याख्या तथा ३) श्री आपदेव की बालबोधिनी व्याख्या।

नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी व्याख्या इन समस्त व्याख्याओं में प्राचीनतम है। सुबोधिनी व्याख्या के लेखक नृसिंह सरस्वती काशी में ही विश्वनाथ मन्दिर के आसपास कहीं रहते थे, ऐसा इनके द्वारा अपनी टीका की समाप्ति के अवसर पर लिखित मङ्गलश्लोकों में काशीपुराधीश्वर विश्वनाथ के प्रति श्रद्धा को देखकर पता चलता है। उन श्लोकों में अपने वाराणसी का निवासी होने का सुस्पष्ट लेखन इन्होंने किया है। इनके समय के बारे में हम पिछले पृष्ठों में चर्चा कर आये हैं। इनके गुरु का नाम था कृष्णानन्द। ऐसा भी कहा जाता है कि सदानन्द योगीन्द्र कृष्णानन्द के गुरु तथा नृसिंह सरस्वती के दादागुरु थे।

'विद्वन्मनोरञ्जिनी' व्याख्या के लेखक श्री रामतीर्थ यति मधुसूदन सरस्वती के समकालीन थे, ऐसा महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज प्रभृति विद्वान् अपना अभिमत रखते हैं। इस व्याख्या का रचनाकाल तदनुसार ईसा की सत्रहवीं शताब्दी का द्वितीय चरण माना जा सकता है। यह व्याख्या अत्यन्त विस्तार से सरल भाषा में लिखी गयी है। मूल के आशय का स्फोरण करने के क्रम में गम्भीर बिषयों की चर्चा से भी टीकाकार पीछे नहीं हटता। यथा नाम तथा गुण के अनुसार विद्वानों को यह व्याख्या अत्यन्त प्रिय है।

'बालबोधिनी' मीमांसा के सुप्रसिद्ध विद्वान् आपदेव के द्वारा लिखी गयी महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। यह व्याख्या इसके पूर्व वाणीविलास प्रकाशन, श्रीरङ्गम्, से सन् १९११ में प्रकाशित हुई थी। इस समय यहाँ पर पुनः सुसंस्कृत-सम्पादित करके प्रकाशित की जा रही है।

इन तीन प्रसिद्ध व्याख्याओं से अतिरिक्त भी अनेक व्याख्याओं का नामोल्लेख हस्तलेखों के सूचीपुस्तकों

में प्राप्त होता है, परन्तु वे अभी तक प्रकाशित नहीं हैं। हिन्दी में आचार्य बदरीनाथ शुक्ल की महत्त्वपूर्ण व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त भी अनेक व्याख्याएँ विभिन्न आधुनिक भाषाओं में प्रकाशित हैं।

'बालबोधिनी' व्याख्या का वैशिष्ट्य

'वेदान्तसार' की इस व्याख्या की प्रमुख विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ की हर एक पङ्क्तिको व्याख्यायित नहीं करती। यह बात हमेशा व्याख्याकार अपने ध्यान में रखता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्त के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए लिखा गया है। इस कारण उन्हीं स्थलों पर लेखक अपनी कलम चलाता है, जहाँ पर उसको लगता है कि सामान्य जिज्ञासु को यहाँ पर अवश्य कुछ जिज्ञासा उत्थित होगी। उन जिज्ञासाओं को न्याय की शैली का आधार लेकर अत्यन्त सुस्पष्ट तरीके से व्याख्याकार उठाता है, तथा उनका समाधान प्रस्तुत करता है। भामती प्रस्थान, विवरणप्रस्थान तथा वार्तिकप्रस्थान अद्वैतवेदान्त के ये तीन प्रमुख प्रस्थान हैं। वेदान्त के प्रारम्भिक जिज्ञासु का प्रश्न यह भी हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ 'वेदान्तसार' किस प्रस्थान को आधार बनाते हुए लिखा गया है? क्या यह समस्त प्रस्थानों का समान रूप से प्रवेशक ग्रन्थ है? निश्चय ही समस्त प्रस्थानों में यह ग्रन्थ प्रवेशक का कार्य करता है क्योंकि इन समस्त प्रस्थानों में भले ही अन्य मतों की विभिन्नता हो, परन्तु इस अंश में तो सभी का मतसाम्य है कि परमार्थतः अद्वैत ही है, तथा द्वैत मायामात्र है। यह व्याख्या उन अनेक स्थलों को उद्घाटित करती है, जहाँ पर कि इन अनेक प्रस्थानों का भेद हो सकता है। इस ग्रन्थ ने जिस न्यायशैली का आश्रय लिया है, उसके कारण सिद्धान्त अत्यन्त विविक्त होकर हमारे सामने आ जाते हैं। अध्यारोप-अपवाद तथा अनिर्वचनीयख्याति का जैसा सुस्पष्ट तथा युक्तिसङ्गत विवेचन सरल तथा विविक्त रूप में प्रस्तुत व्याख्या में प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। न्यायादि दर्शनों से संस्कारों से संस्कारित मन में अद्वैत की वासना न उत्पन्न होने के पीछे जो कारण सम्भावित हैं, प्रस्तुत व्याख्या उनको दूर करने का भरपूर प्रयास करती है। विभिन्न स्थलों पर भामती आदि प्रस्थानों के अनुयायियों का मत क्या हो सकता है? इसकी विस्तार से चर्चा व्याख्याकार ने की है। 'बालबोधिनी' के लेखक आपदेव भामती प्रस्थान का अनुगमन करते दिखायी देते हैं। अनेक स्थलों पर इन्होंने भामतीप्रस्थानानुसारी व्याख्या की है। इस क्रम में अनेक स्थलों पर इनका स्फुट मतभेद मूलकार सदानन्द योगीन्द्र से दिखायी देता है। मूलकार का अभिप्राय कुछ अन्य दिखता है, तथा आपदेव उसको अन्यत्र ले जाते दिखते हैं। मूल ग्रन्थ की शैली जैसी है, उसके अनुसार मूलग्रन्थ तो सरलतया बोध्य है। 'बालबोधिनी' ऐसे अनेक स्थलों पर मूलार्थ का स्फोरण करने का प्रयास करती है, जहाँ पर मूलार्थ सहज बोधगम्य नहीं होता। साथ ही साथ उन जिज्ञासाओं का शमन करने का प्रयास भी करती है, जो जिज्ञासाएँ प्रारम्भिक जिज्ञासु के मन में सहज स्फुरित होती हैं। इसलिए यह व्याख्या अपने नाम को सहज रूप से चरितार्थ करती है तथा एक प्रकार से मूलग्रन्थ का पूरकग्रन्थ बनकर सामने आती है।

'बालबोधिनी' लेखक आपदेव

'बालबोधिनी' के लेखक आपदेव मीमांसा के प्रसिद्ध विद्वान् रहे हैं। इनके द्वारा रचित मीमांसाग्रन्थ

'मीमांसान्यायप्रकाश' यद्यपि अत्यन्त अल्पकाय है, तथापि इसको जितना गौरव मीमांसा परम्परा में प्राप्त हुआ वह बिरले ही ग्रन्थों को प्राप्त हो पाता है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाग्रन्थ उपलब्ध हैं। यह स्वल्पकाय ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ है। इस ग्रन्थ को मीमांसकों के मध्य 'आपोदेवी' या 'आपदेवीय' नाम से भी जाना जाता है। आपदेव को आपदेव द्वितीय नाम से भी जाना जाता है। इसका कारण यह है कि आपदेव के पितामह का नाम भी आपदेव था। जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है, ये देववंश में उत्पन्न महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। ये पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनों के प्रकाण्ड विद्वान् थे, परन्तु इनकी श्रद्धा अद्वैतवेदान्त पर अधिक थी। इसकी अभिव्यक्ति 'मीमांसान्यायप्रकाश' में भी है, तथा 'वेदान्तसार' की 'बालबोधिनी' व्याख्या में भी। इनका समग्र आचारदर्शन अद्वैतवेदान्त से अनुप्राणित था।

महामहोपाध्याय गोपीनाथकविराज द्वारा प्रणीत 'काशी की सारस्वत साधना' के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि सम्भवतः ये ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में वाराणसी आये थे। आपदेव द्वितीय के पुत्र अनन्तदेव कृत 'स्मृतिकौस्तुभ' ग्रन्थ में वर्णित वंशावली के अनुसार एकनाथ के पुत्र थे आपदेव (प्रथम)। इनके पुत्र थे अनन्तदेव (प्रथम)। ये बहुत बड़े मीमांसक तथा वेदान्ती थे। इनके ही पुत्र थे प्रस्तुत व्याख्या के लेखक आपदेव द्वितीय। 'बालबोधिनी' के लेखक आपदेव के पिता का नाम अनन्तदेव था, इसका सङ्केत 'मीमांसान्यायप्रकाश' तथा 'बालबोधिनी' में ग्रन्थकार के द्वारा ग्रन्थारम्भ तथा समाप्ति के अवसर पर किये गये मङ्गलाचरणों से प्राप्त होता है। इन्होंने भी सम्भवतः किसी वेदान्तग्रन्थ की रचना की थी, ऐसा 'बालबोधिनी' के अनेक उद्धरणों से पता चलता है। अनेक स्थलों पर आपदेव ने तातचरण के मत का उल्लेख किया है। 'मीमांसान्यायप्रकाश' में भी 'अस्मत्तातचरणास्त्वेवमाहुः' कहते हुए इनका मत उल्लिखित किया है। इससे आपदेव के पिता अनन्तदेव ने भी मीमांसा तथा वेदान्त पर कोई न कोई ग्रन्थ लिखा होगा, ऐसा ज्ञात होता है। 'स्मृतिकौस्तुभ' से ऐसा पता चलता है कि आपदेव द्वितीय के पिता अनन्तदेव प्रथम ने 'सिद्धान्ततत्त्व' नामक कोई ग्रन्थ लिखा था। परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ अभी तक दृष्टिगत नहीं हो सका है। आपदेव द्वितीय के पुत्र का नाम भी अनन्तदेव था। जिनको अनन्तदेव द्वितीय नाम से भी जाना जाता है। इनके द्वारा ही 'स्मृतिकौस्तुभ' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। आपदेव द्वितीय द्वारा रचित 'मीमांसान्यायप्रकाश' पर अनन्तदेव द्वितीय ने 'भाट्टालङ्कार' नाम की टीका का प्रणयन भी किया था तथा कुछ एक अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे। इनके 'स्मृतिकौस्तुभ' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध विवेचन से आपदेव द्वितीय के विषय में तथा इनके वंशवृक्ष के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। आपदेव द्वितीय के पुत्र 'स्मृतिकौस्तुभ' के लेखक अनन्तदेव द्वितीय बाजबहादुर चन्द्र (१६४५-१६७५) के दरबारी पण्डित थे[१]। इस आधार पर अनन्तदेव द्वितीय के पिता तथा 'वेदान्तसार' की 'बालबोधिनी' व्याख्या के लेखक आपदेव द्वितीय का काल ऐतिहासिकों के द्वारा सत्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग निर्णीत किया जाना युक्तिसङ्गत दिखायी देता है।

आपदेव द्वितीय के द्वारा 'वेदान्तसार' पर लिखी गयी टीका का नाम 'बालबोधिनी' है या 'दीपिका' इस विषय में सन्देह का बीज विद्यमान है क्योंकि दोनों ही नामों की चर्चा स्वयं आपदेव द्वितीय के द्वारा की गयी है।

१.द्रष्टव्य— History of Dharmaśāstra by P. V. Kane Vol.I. p.450

आपदेव 'वेदान्तसार' पर अपनी टीका के प्रारम्भ में कहते हैं—

'आपदेवेन वेदान्तसारतत्त्वस्य दीपिका।
सिद्धान्तसम्प्रदायानुरोधेन क्रियते शुभा।।'

पुनः समाप्ति के अवसर पर वे कहते हैं—

'अनन्ताङ्घ्रियुगं स्मृत्वा रचिता बालबोधिनी।
आपदेवेन वेदान्तसारतत्त्वस्य दीपिका।।'

इस प्रकार यह भी सम्भाव्य प्रतीत होता है कि आपदेव अपनी इस व्याख्या की संज्ञा 'दीपिका' रखना चाहते थे। परन्तु विद्वत्सम्प्रदाय में यह ग्रन्थ 'बालबोधिनी' नाम से प्रचलित हो गया। इसी कारण विभिन्न विद्वानों के मध्य भी इस व्याख्या की संज्ञा को लेकर विवाद है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज इस व्याख्याग्रन्थ का नाम 'बालबोधिनी' है, ऐसा निर्धारित करते हैं। (द्रष्टव्य— काशी की सारस्वतसाधना, पृ. ५६)

आपदेव द्वितीय के इन दो ग्रन्थों 'मीमांसान्यायप्रकाश' तथा 'बालबोधिनी' के अतिरिक्त इनके नाम से कुछ अन्य कृतियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इसमें एक है 'अधिकरणचन्द्रिका', इसका हस्तलेख सरस्वतीभवन पुस्तकालय वाराणसी में उपलब्ध है। यह कहना अभी मुश्किल है कि यह पूर्वमीमांसा के अधिकरणों का विवेचन करता है, या उत्तरमीमांसा के। एक द्वितीय ग्रन्थ 'भक्तिकल्पलता' का उल्लेख भी प्राप्त होता है, इसका उल्लेख इनके पुत्र अनन्तदेव द्वितीय ने 'मथुरासेतु' नामक ग्रन्थ में किया है। इनके नाम से दो अन्य ग्रन्थों 'रुद्रपद्धति' तथा 'वादकुतूहल' का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

प्रस्तुत व्याख्या सन् १९११ में वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् से प्रकाशित हुई थी। परन्तु उसके उपरान्त एक दीर्घकाल व्यतीत हो चला था। श्री दक्षिणामूर्तिमठ के ब्रह्मलीन **आचार्य महामण्डलेश्वर श्रद्धेय श्री महेशानन्द गिरिजी महाराज** हमेशा शास्त्रों के संरक्षण में लगे रहते थे। उन्हीं का कृपामय निर्देश था कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो, तथा साथ में 'बालबोधिनी' के अभिप्राय का स्फोरण करनेवाली एक हिन्दी भाषामयी व्याख्या हो। उनके ही निर्देश तथा श्री दक्षिणामूर्तिमठ के **आचार्य महामण्डलेश्वर श्री पुण्यानन्द गिरिजी महाराज** की सत्प्रेरणा से मैं इस ग्रन्थ के सम्पादन तथा इसकी हिन्दी व्याख्या 'बालव्युत्पत्तिवर्धिनी' के लेखन में प्रवृत्त हुआ। ऐसा सौभाग्य प्रदान करने के लिए आप सबका हृदय से आभारी हूँ। इस हिन्दी व्याख्या 'बालव्युत्पत्तिवर्धिनी' में मूल के अर्थ का प्रतिपादन करने के साथ-साथ 'बालबोधिनी' के सार का हिन्दी भाषा में उद्घाटन करने का प्रयास मैंने किया है। 'बालबोधिनी' नव्यन्याय की शैली में लिखी गयी व्याख्या है। इस कारण उसके अभिप्राय का हिन्दी में बोधन करने के लिए भी अनेक स्थलों पर नव्य-न्याय के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना अपरिहार्य रहा। परन्तु मेरा प्रयास रहा कि इस कारण हिन्दी व्याख्या बोझिल न होने पाये।

मुझे यह विश्वास है कि जिनको नव्यन्याय का तनिक भी संस्कार है, ऐसे विद्यार्थियों के लिए यह व्याख्या निश्चित रूप से अत्यन्त उपयोगी होगी। परन्तु यह भी आशा करता हूँ कि नव्यन्याय की भाषाशैली से अपरिचित

विद्वानों तथा विशेष कर अद्वैत वेदान्त के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए भी 'वेदान्तसार' के विविध उलझे हुए प्रसङ्गों व सन्दर्भों का उद्घाटन करने में यह हिन्दी व्याख्या सफल होगी। भगवान् विश्वनाथ तथा माता अन्नपूर्णा के करकमलों में यह कृति समर्पित है।

—सच्चिदानन्द मिश्र

विषयसूची

●

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

वेदान्तसारः

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।।

बालबोधिनी

अनन्तगुणसम्पन्नमनन्तभजनप्रियम्।
अनन्तरूपिणं वन्दे गुरुमानन्दरूपिणम्।।
आपदेवेन वेदान्तसारतत्त्वस्य दीपिका।
सिद्धान्तसम्प्रदायानुरोधेन क्रियते शुभा।।

बालव्युत्पत्तिवर्धिनी

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।
रमाकान्तपदद्वन्द्वं मनस्याधाय श्रद्धया।
वेदान्ते सुप्रवेशाय टीकेयं प्रवितन्यते।।
टीकायाः बालबोधिन्याः सारं सङ्गृह्य यत्नतः।
कुर्वे वेदान्तसारस्य बालव्युत्पत्तिवर्धिनीम्।।

ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करने की शिष्टपरम्परा है। शिष्टों के इस आचरण को देखकर अनुमान किया जाता है कि मङ्गलाचरण सफल है क्योंकि शिष्टों के अनिन्दित व किसी अनिष्ट को न उत्पन्न करनेवाले आचरण किसी न किसी फल को उद्देश्य करके ही होते हैं, किसी न किसी इष्ट को सिद्ध करनेवाले ही होते हैं। जब मूर्ख व्यक्ति भी विना किसी प्रयोजन के किसी कार्य का आरम्भ नहीं करता, तो बिना विचार किये कोई भी कार्य न करनेवाले शिष्टों के द्वारा किये जानेवाले मङ्गलाचरण का भी निश्चय ही कोई न कोई फल होना चाहिए। यदि किसी कार्य का कोई लौकिक फल अनुभवगम्य हो या कोई लौकिक फल स्वीकार किया जा सकता हो तो उस कार्य का कोई अलौकिक या अदृष्ट फल स्वीकार करना उचित नहीं होता, उस कार्य का दृष्ट फल ही स्वीकार किया जाता है। इसी रीति से ग्रन्थारम्भ में किये जाने मङ्गलाचरण का भी कोई ऐसा फल स्वीकार करना ही उचित है, जो इसी जन्म में प्राप्त होता हो। मङ्गलाचरण का आगामी जन्मों में प्राप्त होने योग्य कोई स्वर्गादि फल नहीं स्वीकार किया जा सकता। चूँकि मङ्गलाचरण ग्रन्थारम्भ में शिष्ट जन करते हैं, इस कारण मङ्गलाचरण का दृष्ट फल विघ्नध्वंस पूर्वक

समाप्ति ही है। अनिन्दित व किसी अनिष्ट को न उत्पन्न करनेवाले शिष्टों के आचरण किसी न किसी श्रुतिवाक्य पर आधारित हुआ करते हैं, इस कारण ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करने का निर्देश करनेवाली निःसन्देह कोई न कोई श्रुति रही होगी, इसका भी अनुमान होता है। यद्यपि वेदान्तानुसारी ब्रह्मज्ञानी सत्त्व, रजस् व तमस् इन तीनों ही गुणों से परे हो जाने के कारण समस्त विधि-निषेधों से भी परे हो जाता है, तथापि *"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्। जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।।"* ज्ञानी कर्म का परित्याग कर अज्ञानी, कर्म में संसक्त लोगों को बुद्धिभेद न उत्पन्न करे, किन्तु लोकसङ्ग्रह की कामना से योगयुक्त होकर समस्त उचित कर्मों का आचरण करता रहे, इस गीतोक्त मार्ग का अनुसरण तथा शिष्टों की इसी परम्परा का अनुपालन करते हुए सदानन्द योगीन्द्र भी अपने ग्रन्थ 'वेदान्तसार' के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हैं—

मैं सदानन्द योगीन्द्र अखण्ड अर्थात् किसी भी प्रकार के विभाग से रहित, सच्चिदानन्द (सत्, चित् व आनन्द स्वरूप), वाणी व मन से अगोचर (वाणी व मन का विषय न होनेवाले) उस प्रत्यगात्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ जो समस्त जगत् का आधार है।

हमारे समस्त व्यवहार भेद पर आधारित होते हैं, कहीं पर धर्म व धर्मी का भेद, कहीं पर गुण-गुणी का भेद, कहीं पर अवयव-अवयवी का भेद, कहीं पर एक अवयव का दूसरे अवयव से भेद, तो कहीं कार्य-कारण का भेद हमारे व्यवहार का आधार बना करता है। इन समस्त व्यवहारों के द्वारा परमार्थतः किसी भी प्रकार का भेद व्यवस्थापित नहीं किया जाता। व्यवहार के विषय बननेवाले इन समस्त भेदों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है सजातीय, विजातीय व स्वगत भेद। प्रत्यगात्मा ब्रह्म इन समस्त प्रकार के भेदों से मुक्त है, यही बताने के लिए मूलकार ने *अखण्ड* पद का प्रयोग आत्मा के विशेषण के रूप में किया है। आत्मा का स्वरूप बताया सच्चिदानन्द, सत्, चित् व आनन्द। सत् से तात्पर्य अनृत, शून्य से भिन्न अबाधित स्वरूपसत्तामात्र से तथा चित् से तात्पर्य ज्ञानस्वरूपता से, स्वप्रकाशता से है। शुद्ध ब्रह्म वाणी व मन से विषय नहीं किया जा सकता, शुद्ध ब्रह्म न तो वाणी से और न तो मन से जाना जा सकता है, यही बताने के लिए *अवाङ्मनसगोचरम्* पद का प्रयोग किया गया है। तो क्या मन व वाणी से अगोचर ब्रह्म जाना ही नहीं जा सकता? जाना जा सकता है परन्तु कारणत्वोपलक्षित ब्रह्म के रूप में, शुद्ध ब्रह्म किसी भी प्रत्यय का विषय नहीं हो सकता। (इस विषय में भामती व विवरण प्रस्थानों का किञ्चित् मतभेद शास्त्रों में द्रष्टव्य है।) कारण के रूप में ही ब्रह्म जाना जा पाता है, यही बताने के लिए *अखिलाधारम्* पद का प्रयोग किया। आशय है कि ब्रह्म इस समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति व प्रलय का आधार है, ब्रह्म से ही यह जगत् उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही यह संसार स्थित है तथा ब्रह्म में ही यह जगत् लय को प्राप्त करता है। उस आत्मा का आश्रय ग्रहण करने का तात्पर्य उस आत्मा की उपासना आदि से नहीं है अपितु उस आत्मा की एकत्वेन प्रतिपत्ति से है। केवल आत्मा ही एकमात्र तत्त्व है उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा दृढनिश्चय कर लेना ही आत्मा का-आश्रय ग्रहण करना है। आत्मा की इस एकत्वेन प्रतिपत्ति का प्रयोजन है अभीष्ट की सिद्धि। अभीष्ट है निःश्रेयस। निःश्रेयस आत्मप्रतिपत्ति के बिना सम्भव नहीं है। वस्तुतः तो आत्मा की प्रतिपत्ति ही निःश्रेयस है।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति।।

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदनुसारीणि शारीरकसूत्राणि च।

प्रतिज्ञातं वेदान्तपदं व्याचष्टे—**वेदान्त** इति। उपनिषद्रूपमात्मनः प्रमाणमित्यर्थः। यद्वा उपनिषच्छब्देनात्मज्ञानमुच्यते; तस्य कारणं प्रमाणमित्यर्थः। **तदनुसारीणि**= उपनिषदनुसारीणि, आत्मप्रतिपादकानीत्यर्थः। क्वचित् तदुपकारीणीति[1] पाठः। तत्रौपनिषदात्मनिर्णयार्थमपेक्षितन्यायप्रतिपादकानीत्यर्थः। शरीरमेव शरीरकम्, शरीरके भवः शारीरको जीवः, तमधिकृत्य प्रवृत्तानि सूत्राणि[2] **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू.१-१-१)** इत्यादीनि च वेदान्त इत्यर्थः।

जो अपने नाम के अनुसार यथानाम तथागुण उक्ति को चरितार्थ करते हुए सभी प्रकार के द्वैतावभास (भेदबुद्धि) के तिरोहित हो जाने के कारण अद्वयानन्द हैं, ऐसे गुरु की श्रद्धापूर्वक आराधना करके वेदान्तों के सार को अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा।

वेदान्तसार के लेखक सदानन्दयोगीन्द्र के गुरु का नाम था अद्वयानन्द, जिसका अर्थ होता है *'अद्वयश्चासौ आनन्दः'* जो अद्वय व आनन्द है।जीवन में सामान्यतया द्वैत का भान होता है, परन्तु ब्रह्मस्वरूप की अवगति हो जाने पर समस्त संसार ब्रह्मरूप में भासित होता है। सदानन्द अपने गुरु अद्वयानन्द के विषय में यही बता रहे हैं कि ब्रह्मात्मावगति हो जाने के कारण उनको समस्त प्राणियों में, समस्त जड-चेतन में किसी भी प्रकार की भेदबुद्धि नहीं रह गयी थी। समस्त द्वैत तिरोहित हो गये थे। ऐसे गुरु की श्रद्धापूर्वक आराधना से शिष्य को भी ब्रह्मात्मावगति सहज होती हैक्योंकि कहा गया है कि 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' श्रद्धावान् को ज्ञान प्राप्त होता है।

'वेदान्तसार को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा ग्रन्थकार ने की है। वेदान्तसार का शाब्दिक अर्थ व तात्पर्य है वेदान्तों का सारांश। इस कारण जिज्ञासा होती है कि वेदान्तपदबोध्य क्या है, वेदान्तशब्द के द्वारा किसको कहा जाता है, जिसका सारांश बताने के लिए ग्रन्थकार ने प्रतिज्ञा की है? इसी जिज्ञासा के समाधानार्थ "वेदान्तपद का क्या अर्थ है" इसे सदानन्द यति स्वयं कह रहे हैं—

आत्मविषयक प्रमा का करण बननेवाले उपनिषद् ही वेदान्त शब्द के द्वारा कहे जाते हैं, तथा उपनिषदों का अनुसरण करनेवाले उपनिषदों के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का ही प्रतिपादन करनेवाले शारीरकसूत्र भी वेदान्तशब्द के द्वारा कहे जाते हैं।

वेदान्तसार में *'उपनिषत्प्रमाणम्'* यह पद आया है। इस पद का तीन प्रकार से समास किया जा सकता है— एक तो कर्मधारय, दूसरा तत्पुरुष तथा तीसरा बहुव्रीहि। प्रथम पक्ष में *'उपनिषत्प्रमाणम्'* इस वेदान्तसारगत समस्तपद का *'उपनिषच्च तत् प्रमाणम्'* जो उपनिषद् भी है तथा प्रमाण भी है, इस प्रकार कर्मधारय समास का

१.तदुपकारीणि इत्यपि पाठो लभ्यते संस्करणेषु।

२.सूत्रादीनि इत्यपि पाठः।

अनुसरण करनेवाला विग्रह होगा। इस पक्ष में आत्मविषयक ज्ञान का एकमात्र साधन उपनिषद् ही हैं, उपनिषदों के अलावा अनुमान, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा आत्मा का यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है, इस कारण उपनिषदों को उपनिषत्प्रमाण कहा गया, ऐसा अर्थ पता चलेगा। यदि द्वितीय पक्ष मानें अर्थात् यदि *'उपनिषत्प्रमाणम्'* इस समस्तपद का *'उपनिषदः प्रमाणम्'* जो उपनिषद् का प्रमाण है, इस प्रकार तत्पुरुष समास किया जाये, तो इसका अर्थ होता है कि उपनिषत् का जो प्रमाण है। इस पक्ष मेंउपनिषत् शब्द का अर्थ आत्मज्ञान ही लिया जाता है। इस प्रकार आत्मविषयक यथार्थज्ञान ही उपनिषत् शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य होता है, तथा प्रमाणपद का अर्थ कारण लिया जाता है। इस तरह *'उपनिषत्प्रमाणम्'* पद का अर्थ आत्मविषयक यथार्थज्ञान का कारण होता है। तीसरा पक्ष यह हो सकता है कि *'उपनिषदः यत्र प्रमाणम्'* उपनिषद् जिसमें प्रमाण हैं। इस प्रकार अर्थ यह होगा कि उपनिषद् जिसमें अर्थात् आत्मा के ज्ञान में प्रमाण हैं, कारण हैं। इस पक्ष में भी आत्मज्ञानकरणता उपनिषदों में बोधित होती है। यद्यपि इन तीनों ही अर्थों की सङ्गति लग जाती है। परन्तु तत्पुरुष समास तथा बहुव्रीहि समास दोनों समासों में लक्षणा करनी पड़ती है तथा लक्षणा जघन्या वृत्ति है। इस कारण कर्मधारय समास को ही समस्त व्याख्याकारों ने प्रधानता दी है।

शारीरकसूत्र शब्द का प्रयोग महर्षि बादरायण द्वारा प्रणीत वेदान्तसूत्रों के लिए होता है। इस प्रयोग का कारण यह है कि शरीर को ही शरीरक शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है क्योंकि संस्कृतभाषा में कुत्सित अर्थ का बोधन कराने के लिए 'क' प्रत्यय किया जाता है। शरीर चूँकि विनाशी है, नाशवान् है, अनेक प्रकार के दुःखादिभोग का साधन है इस कारण कुत्सित है। इसी कारण शरीर को 'शरीरक' शब्द के द्वारा भी कहा गया। *'शरीरके भवः शारीरकः'* शरीरक में जायमान को ही शारीरक कहा जाता है। यद्यपि आत्मा जायमान नहीं है, परन्तु शरीरसम्बन्ध के द्वारा ही सुख-दुःखादि का उपभोग सम्भव होता है, शरीर के जायमान होने पर जन्म का, शरीर के विनष्ट होने पर मृत्यु का व्यवहार तथा आत्मा के भी शरीरक में (कुत्सित शरीर में) जायमानत्व का व्यवहार है। इसलिए आत्मा को ही शारीरक कहा गया। उस आत्मा के ही परमात्मता का, ब्रह्मात्मता का प्रतिपादन करनेवाले जो सूत्र हैं, उनको ही शारीरकसूत्र कहा जाता है। इस प्रकार वेदान्तसूत्रों का ही संज्ञान्तर है शारीरकसूत्र। शारीरकसूत्र उपनिषदों का अनुसरण करनेवाले हैं क्योंकि जिस प्रकार उपनिषदों के द्वारा आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, ठीक उसी प्रकार शारीरकसूत्रों के द्वारा भी आत्मतत्व का प्रतिपादन किया जाता है। विद्वन्मनोरञ्जनी व सुबोधिनी व्याख्याओं के अनुसार यहाँ पर *'तदनुसारीणि'* के स्थान पर *'तदुपकारीणि'* ऐसा पाठ होना चाहिए। वैसा पाठ मानने पर इसका अर्थ बोधित होगा— शारीरकसूत्र उपनिषदों के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मा के स्वरूप का निर्णय करने में उपयोगी न्यायों का प्रदर्शन करनेवाले हैं।

किसी भी ग्रन्थ के निर्माण में जो भी व्यक्ति प्रस्तुत होता है, वह यह प्रथमतः निर्णय करके रखता है कि वह ग्रन्थ किसके लिए लिख रहा है, उसके ग्रन्थ का विषय क्या है, उसके ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है। परम्परा के अनुसार इन्हीं समस्त बातों को अनुबन्धचतुष्टय शब्द के द्वारा कहा जाता है। अनुबन्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ भी यही होता

अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः। तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।

ननु प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमनुबन्धचतुष्टयं वक्तव्यम्, तत्राह— **अस्येति**। **अस्य**= प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्य। **तदीयैः**= वेदान्तीयैरित्यर्थः।

ननु तस्यापि के अनुबन्धा इत्याशङ्क्य तान्वक्तुं सामान्यतस्तावदनुबन्धानाह—**तत्रेति**। पुरुषमनुबध्नाति स्वज्ञानेन प्रेरयतीत्यनुबन्धः। विषयादीनि च तादृशानीति भावः।

है कि 'पुरुषमनुबध्नाति इति अनुबन्धः' पुरुष को जो अनुबन्धित करे, अपने ज्ञान के द्वारा प्रेरित करे, उसे ही अनुबन्ध कहा जाता है। जब तक व्यक्ति को यह पता नहीं चलता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ किसके लिए लिखा गया है तथा उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है, तब तक कोई व्यक्ति उस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त नहीं होता है। इसी कारण पारम्परिक रूप से समस्त ग्रन्थों के प्रारम्भ में उन-उन ग्रन्थों के अधिकारी, सम्बन्ध, विषय व प्रयोजन का वर्णन किया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के भी अधिकारी, सम्बन्ध, विषय व प्रयोजन अवश्य होने चाहिए। तो इस ग्रन्थ के अधिकारी, सम्बन्ध, विषय व प्रयोजन क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा होती है। इस जिज्ञासा के प्रशमनार्थ ग्रन्थकार स्वयं बताते हैं कि—

प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्त का प्रकरणग्रन्थ है, इस कारण वेदान्तशास्त्र के जो अनुबन्ध हैं, वही अनुबन्ध इस ग्रन्थ के भी हैं। इस कारण उनको यहाँ पर अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। अनुबन्ध हैं— अधिकारी, विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन।

प्रकरणग्रन्थ की परिभाषा इस प्रकार से दी जाती है कि—

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।" पराशर उपपुराण १८/२१-२२

जो शास्त्र के एकदेश से सम्बद्ध हो तथा शास्त्र के ही कार्यान्तर में स्थित हो—शास्त्र के ही आशय को अन्य प्रक्रिया से बता रहा हो— उसे ही प्रकरण नामक ग्रन्थभेद से विद्वान् लोग कहा करते हैं। वेदान्तसार भी वेदान्त के एकदेश से सम्बद्ध है, वेदान्तशास्त्र के अभिप्राय को ही सङ्क्षेप में बताने के उद्देश्य से लिखा गया है। अतः यह ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र का प्रकरणग्रन्थ है। प्रकरणग्रन्थों की यह विशेषता होती है कि उन-उन शास्त्रों के जो अधिकारी, विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन हुआ करते हैं, प्रकरणग्रन्थों के भी अधिकारी, सम्बन्ध, विषय व प्रयोजन वही होते हैं, उससे अतिरिक्त नहीं। वेदान्तशास्त्र के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन के बारे में अन्यत्र विस्तार से विवेचन किया गया है। चूँकि इस प्रकरणग्रन्थ के भी अधिकारी, विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन वही हैं, इस कारण उनका अलग से विवेचन व प्रतिपादन करना अनावश्यक है।

यद्यपि यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है कि वेदान्तशास्त्र के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन वही हुआ करते हैं, जो कि यहाँ पर इस ग्रन्थ में आगामी पृष्ठों में प्रतिपादित किये जानेवाले हैं, इसमें ही

ननु वक्ष्यमाणमनुबन्धचतुष्टयं वेदान्तस्येत्यत्र किं मानमिति चेत्? शृणु, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू.१-१-१) इतिसूत्रेण सूत्रितत्वमेव मानम्। तथाहि— अस्मिन् सूत्रे तावत् साकाङ्क्षत्वात् 'कर्तव्या' इतिपदमध्याहार्यम्। जिज्ञासापदाभिधेययोश्च ज्ञानेच्छयोरकर्तव्यत्वात्, ज्ञानस्येच्छोपसर्जनत्वाच्च ज्ञानस्य फलत्वलाभाय ब्रह्मज्ञानफलको विचारो जिज्ञासापदेन लक्ष्यते, जिज्ञासापदशक्यज्ञानेच्छयोर्विचारेण सह साध्यसाधनरूपसम्बन्धसत्त्वात्, गङ्गापदेनेव गङ्गापदशक्यप्रवाहसम्बन्धितीरम्।

क्या प्रमाण है? क्योंकि क्या वेदान्तसूत्रों में कहीं पर इन अनुबन्धों के बारे में बताया गया है? तो इसका उत्तर यह है कि वेदान्तसूत्रों के प्रथमसूत्र के द्वारा इसकी सूचना प्रदान की गयी है। वेदान्तसूत्रों का प्रथम सूत्र है— *"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा "* इस सूत्र में कोई भी क्रियाबोधक पद नहीं दिया गया है। नियम है कि कोई भी वाक्य विना क्रियापद के पूरा नहीं हुआ करता है। इस कारण किसी न किसी क्रियापद का अध्याहार करना आवश्यक है। कर्तव्या इस क्रियापद के द्वारा उक्ताकाङ्क्षा की निवृत्ति सम्भव होने के कारण कर्तव्या पद का ही अध्याहार करते हैं। सन्नन्त *'जिज्ञासा'* पद में दो अंश हैं एक अंश है ज्ञाधातु तथा द्वितीय अंश है सन् प्रत्यय। ज्ञा धातु का अर्थ है ज्ञान तथा सन् प्रत्यय का अर्थ है इच्छा। इस प्रकार जिज्ञासा पद का अर्थ होता है ज्ञानविषयिणी इच्छा। परन्तु समस्या यह है कि न तो ज्ञान और न तो इच्छा ही कर्तव्य हो सकती है। ज्ञान चूँकि वस्तुतन्त्र होता है, वस्तु पर निर्भर होता है इस कारण व्यक्ति अपनी क्रिया या व्यापार के द्वारा उसमें कुछ भी नहीं कर सकता। इच्छा के साथ भी यही स्थिति है, सामान्यतः सुख व सुखसाधनविषयिणी तथा दुःखाभाव व दुःखाभावसाधनविषयिणी इच्छा होती है, या कहें कि जिस वस्तु के विषय में 'यह वस्तु मेरा इष्ट या मेरे इष्ट का साधन है' ऐसा इष्टता या इष्टसाधनता का ज्ञान होता है, उस वस्तु के बारे में इच्छा होती है। इसमें पुरुष का प्रयत्न कुछ भी कर नहीं सकता है। तो पुरुष का प्रयत्न न तो इच्छा के बारे में कुछ भी कर सकता है और न तो ज्ञान के बारे में। कर्तव्य वही हो सकता है, जो कि पुरुषतन्त्र हो, पुरुष के ऊपर निर्भर हो, चाहे तो करे चाहे तो न करे। परन्तु ज्ञान ऐसा नहीं है। इच्छा भी अपने कारणों से उत्पन्न होती हुई पुरुष द्वारा कर्तव्यता के लिए अवसर नहीं प्रदान करती। तो कर्तव्य क्या होगा? इस परिस्थिति में जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों पर गङ्गा पद की गङ्गापद के शक्य गङ्गाप्रवाह से सम्बन्धित तीर में लक्षणा कर ली जाती है तथा गङ्गातीर पर घोष (गृहविशेष) का बोध होता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी *'जिज्ञासा'* पद से लक्षणा के द्वारा विचार बोधित होता है जो कि ब्रह्मज्ञानरूपी फल को जन्म देता है। क्योंकि *'जिज्ञासा'* पद के द्वारा शक्ति द्वारा उपस्थापित ज्ञान व इच्छा के साथ विचार का साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है। ब्रह्मविषयक विचार ब्रह्मविषयक ज्ञान का भी साधन है तथा ब्रह्मविषयिणी इच्छा का भी साधन है। वेदान्तवाक्यों के अर्थ का विचार ब्रह्मविषयकज्ञान का कारण बनता है। ब्रह्म को जान लेने से संसार के समस्त दुःखों की समाप्ति हो जाती है, इस प्रकार मोक्षात्मक परमप्रयोजन का साधन होने के कारण ब्रह्मविषयक ज्ञान की इच्छा भी होती है।

यद्यपि यहाँ पर पूछा जा सकता है कि *'जिज्ञासा'* यह एक पद तो है नहीं, बल्कि ज्ञाधातु व सन् प्रत्यय इन दो पदों का समुदाय है। पदसमुदाय होने के कारण यह तो वाक्य हो गया। पद की लक्षणा की जाती है, वाक्य की लक्षणा नहीं की जाती है। इसका कारण यह है कि *'शक्तम् पदम्'* शक्ति जिसमें है उसको पद कहते हैं, तथा शक्ति

न च प्रकृतिप्रत्ययात्मकपदद्वयेन कथमेको विचारो लक्ष्यत इति वाच्यम्? 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा.सू.१-३-१४) इतिमते एतस्यैकपदत्वात्। 'शक्तं पदम्' इतिमतेऽपि न बाधकम्, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्याद्यनेकपदघटितार्थवादैर्विध्याकाङ्क्षितप्राशस्त्यलक्षणात्।

एतेन 'वाक्ये न लक्षणा' इत्यपास्तम्, अर्थवादानां वाक्यत्वात्, लक्षणाबीजस्य पदवद्वाक्येऽपि तुल्यत्वाच्च।

यत्तु— शक्तस्यैव लक्षकत्वम्, न च वाक्ये शक्तिः, तस्याः पदधर्मत्वात्। अत एव जिज्ञासापदसमुदायेऽपि नैका लक्षणा, तस्य यौगिकत्वेनाशक्तत्वादिति; तन्न, शक्तस्यैव लक्षकत्वमित्यत्र मानाभावात्,

जिसमें है वही अपने शक्य से सम्बन्धी का लक्षणा के द्वारा बोध करा सकता है। जिसमें कोई शक्ति नहीं है, उस पद का कोई शक्य ही नहीं है इस कारण शक्यसम्बन्धात्मिका लक्षणा भी नहीं हो सकेगी। *जिज्ञासा* 'यह एक पद तो है नहीं, फिर इस पद के द्वारा लक्षणा से भी किस प्रकार विचार का बोध हो सकेगा?

तो पद उसी को कहते हों जिसमें शक्ति हो ऐसा नहीं। बल्कि पाणिनि के सूत्र *'सुप्तिङन्तं पदम्'* (पाणिनीय अष्टाध्यायी-१/४/१४) के अनुसार सुबन्त व तिङन्त को पद कहा जाता है। यदि सुबन्त व तिङन्त पदों का समुदाय होगा तभी उसको वाक्य कहा जायेगा, कहा भी गया है— *'सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्'* सुबन्त व तिङन्त के समुदाय को वाक्य कहते हैं। सुबन्त-तिङन्तपदसमुदाय रूप वाक्य की लक्षणा नहीं होती है। *'जिज्ञासा'* यह तो सुबन्त-तिङन्तपदसमुदाय रूप वाक्य नहीं ही है, इस कारण इसकी लक्षणा होने में कोई आपत्ति नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि *'शक्तम् पदम्'* पद की इसी परिभाषा को माना जाये तो भी कोई समस्या नहीं है क्योंकि वाक्य की लक्षणा नहीं होती है, ऐसा नहीं है। मीमांसकलोग अर्थवादवाक्यों से लक्षणा के द्वारा प्रशंसा व निन्दारूपी अर्थ को समझते ही हैं। जैसे *'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'* यह एक वाक्य है। इसका शक्ति के द्वारा अर्थ होता है कि वायु अत्यन्त शीघ्रगामी देवता है। इस वाक्य के द्वारा वायु के शीघ्रगामित्व का प्रतिपादन करने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है, अपितु वायु को उद्देश करके किया जानेवाला यज्ञादि शीघ्र फल देनेवाला होता है, इसमें है। अन्य वाक्यों के द्वारा जो यज्ञादि विधि की जा चुकी है, उससे उन यज्ञादि के प्राशस्त्य की अपेक्षा है। वही प्राशस्त्य *'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'* इत्यादि वाक्यों के द्वारा लक्षणा के द्वारा बोधित होता है। अर्थवाद भी वाक्य होते हैं, तथा उनके द्वारा लक्षणा के द्वारा बोध हुआ करता है। द्वितीयतः लक्षणा का बीज है अनुपपत्तिप्रतिसन्धान। जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर गङ्गा पद के अर्थ गङ्गाप्रवाह के साथ घोष पद के अर्थ गृहविशेष का अन्वय सम्भव नहीं है, आख़िर गङ्गाप्रवाह के ऊपर कोई घर किस प्रकार से हो सकता है? इस कारण गङ्गापद गङ्गातीर पदार्थ का लक्षणा के द्वारा बोध कराता है। यदि अनुपपत्तिप्रतिसन्धान वाक्य में भी हो तो वाक्य के द्वारा भी लक्षणा से बोध को स्वीकार करने में कोई आपत्ति तो नहीं होनी चाहिए। अतः 'वाक्य की लक्षणा नहीं होती है' यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

शक्ति पद की ही होती है, वाक्य की नहीं क्योंकि वाक्य की तो शक्ति ही नहीं होती। इस कारण शक्यसम्बन्धात्मिका लक्षणा भी वाक्य की नहीं हो सकती है। इस कारण समानन्याय से जिज्ञासारूपी पदसमुदाय की भी शक्ति न होने के कारण शक्यसम्बन्धात्मिका लक्षणा नहीं हो सकती है, क्योंकि 'जिज्ञासा' पद तो यौगिक पद

मीमांसकमतेऽशक्तस्यापि वाक्यस्य वाक्यार्थलक्षकत्वाच्च[1], 'जातपुत्रः' इति यौगिकस्यापि पदस्यावस्था-विशेषलक्षकत्वाच्च[2]।

नैयायिकैरपि यौगिकस्य पदस्य लक्षकत्वाङ्गीकारात्[3]। तन्मते ह्यतीतादौ व्यभिचारेण लिङ्गं नानुमितौ करणम्, किन्तु तज्ज्ञानम्। एवं 'धूमात्' इति हेतुवाक्ये धूमपदं यथा ज्ञानलक्षकं पञ्चम्युपस्थापितहेतुत्वस्य

है। यौगिकपदों की विशेषता होती है कि वे अपने अवयवभूत पदों की शक्ति से ही अपने अर्थ का बोध करा लेते हैं। इस कारण यौगिक पद होने के कारण 'जिज्ञासा'पद की भी किसी में शक्ति तो है नहीं, अपने अवयवभूत 'ज्ञा'धातु तथा 'सन्'प्रत्यय के अर्थों के द्वारा ही ज्ञानविषयिणी इच्छा का बोध 'जिज्ञासा'पद कराता है। यदि 'जिज्ञासा'पद की किसी में शक्ति ही नहीं है तो किस प्रकार से शक्यसम्बन्धात्मिका लक्षणा ही हो सकेगी?

तो यह पक्ष उचित नहीं है क्योंकि जिसमें शक्ति होगी वही लक्षणा के द्वारा अर्थ का बोध करा सकेगा ऐसा सिद्धान्त नहीं स्वीकारा जा सकता है। यहाँ तक कि समस्त दार्शनिकों को इस सिद्धान्त का अपलाप करना ही पड़ता है। मीमांसकों के अनुसार वाक्य की शक्ति नहीं होती है, तथापि वाक्यार्थ का बोध वे लक्षणा के द्वारा ही मानते हैं। वाक्यार्थ पदार्थ से अतिरिक्त होता है, केवल पदार्थों का समुदाय ही वाक्यार्थ नहीं कहलाता है, अपितु पदार्थों का आपसी सम्बन्ध वाक्यार्थबोध का विषय होता है। उस सम्बन्ध में किसी भी पद की शक्ति नहीं है. वाक्य की भी शक्ति उसमें नहीं है। पदार्थसम्बन्धरूप वाक्यार्थ वाक्य की लक्षणारूपी वृत्ति के द्वारा बोध्य होता है। इसी प्रकार '*जातपुत्रः* 'इत्यादि पद हैं। ये पद यौगिक ही हैं तथा इस कारण अवयवशक्ति के द्वारा ही स्वार्थ का बोध कराते हैं। इस पद का यौगिक अर्थ होता है, 'पुत्र उत्पन्न हुआ है जिसको ऐसा व्यक्ति'। जो भी व्यक्ति पितृत्व का लाभ कर चुका है, सभी के ऊपर यह शर्त लागू होती है, ऐसे हर व्यक्ति के लिए 'जातपुत्रः' इस पद का प्रयोग होना चाहिए, परन्तु होता नहीं है। '*जातपुत्रःकृष्णकेशोऽग्नीनादधीत*' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा पुत्र जिसको उत्पन्न हो चुका है, तथा केश अभी काले ही हैं, इस अवस्थाविशेष से उपलक्षित व्यक्ति के द्वारा अग्न्याधान का विधान है। यह अवस्थाविशेष किस प्रकार बोधित होता है? तो यही मानना होगा कि यह अवस्थाविशेष इस समस्त पद के द्वारा लक्षणा से ही बोधित होता है। न केवल मीमांसक आदि अपितु नैयायिक भी यौगिकों की अतिरिक्त शक्ति स्वीकार करते हैं, वह अतिरिक्त शक्ति लक्षणा ही हो सकती है। न केवल इतना ही अपितु अवयववाक्यों का प्रयोग करने के समय हेतुवाक्य की लक्षणा तो नैयायिकों को भी माननी ही पड़ती है। पाँच अवयववाक्यों में द्वितीय है हेतुवाक्य।

१.मीमांसकमते वाक्यात् पदार्थानां पारस्परिकः सम्बन्धः शक्त्या न बोध्यते किन्तु लक्षणया बोध्यते। वाक्ये शक्तिविरहेऽपि लक्षणया वाक्यार्थबोधो भवति।

२. 'जातपुत्रः'इतिपदस्य व्युत्पत्त्या यस्य पुरुषस्य पुत्रो जातो विद्यते सः पुरुषः इत्यर्थो भवति। अतो योगसामर्थ्यात् पुत्रवान् पुरुषोऽनेन बोधनीयः। परन्तु अनेन पदेन यस्य पुरुषस्य सद्य एव पुत्रः समुत्पन्नः स एव पुरुषो बोध्यते। स च बोधो लक्षणयैव सम्भवति न त्वभिधया। यौगिकं तु नास्ति एकं पदम्, किन्तु प्रकृतिप्रत्ययरूपपदसमुदायः।

३.यद्यपि नैयायिकाः पदसमुदायस्य लाक्षणिकत्वं न स्वीकुर्वन्ति, परन्तु पदसमुदायभूतस्य यौगिकस्य शक्तिमेव तस्मिन्नर्थे स्वीकुर्वन्ति।

धूमेऽनन्वयात्, तथा 'सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्' इत्यत्रापि तादृशप्रत्यक्षत्त्वस्य हेतुविभक्त्युपस्थापितहेतुत्वेऽनन्वयाज्ज्ञाने लक्षणा वक्तव्या। तादृशप्रत्यक्षत्वपदं यौगिकमेवेति न यौगिकस्य लक्षकत्वं विरुद्धम्।

वेदान्तिमतेऽपि पङ्कजादिपदानां तामरसादौ योग एव, वृत्त्यन्तरकल्पने मानाभावात्, मण्डूकाद्यपेक्षया झटिति तामरसप्रतीतिस्तु दशसु शक्तस्य धेन्वादेश्च झटित्युत्थापकस्य गोशब्दस्येव प्रयोगबाहुल्यात्। तामरसत्वं तु लक्षणया भासते, योगात् पङ्कजनिकर्तृत्वेनैव भानात्। वृत्यन्तरकल्पनातश्च लक्षणा युक्ता गङ्गापदस्येव तीरे। सा चेयं लक्षणा यौगिकपद एवेत्यस्त्येव यौगिकपदस्यापि लक्षकत्वम्।

तस्माद् युक्तमुक्तं जिज्ञासापदेन ब्रह्मज्ञानफलको विचारो लक्ष्यते इति।

केचित्तु— प्रकृत्या साध्यावस्थानं लक्ष्यते, प्रत्ययेन च विचारो लक्ष्यत इति लक्षणाभेदं वदन्ति; तन्न, लक्षणाद्वये मानाभावात्, एकयैव तु लक्षणयोपपत्तेरित्यस्मद्गुरव इति दिक्।

जैसे पर्वत में अग्नि का अनुमान करने के समय हेतुवाक्य का प्रयोग होगा 'धूमात्' इसके घटक पद हैं धूम पद तथा धूमपद के बाद की पञ्चमी। इस पञ्चमी का अर्थ है कारणत्व। धूम न तो अग्नि के प्रति कारण होता है, न तो अग्नि की अनुमिति के प्रति। धूम अग्नि की अनुमिति के प्रति कारण नहीं होता है क्योंकि यदि अनुमिति के प्रति हेतु को कारण माना जायेगा तो अतीत या भावी हेतुओं के द्वारा अनुमिति नहीं हो सकेगी क्योंकि अभी अतीत व भावी हेतु तो हैं ही नहीं, फिर अभी हेतु की कार्यभूता अनुमिति किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है? इस कारण हेतुज्ञान को कारण माना जाता है। इस कारण यहाँ पर धूमपद की धूमज्ञान में लक्षणा कर ली जाती है, तथा उसका पञ्चमी के अर्थ ज्ञाप्यत्व में अन्वय कर लिया जाता है। इस स्थल में केवल एक पद की लक्षणा से निर्वाह हो जाता है, परन्तु जहाँ पर 'सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्' को हेतु बनाते हैं, वहाँ पर वाक्य की लक्षणा किये बिना निर्वाह नहीं हो सकता। उपर्युक्त रीति से यहाँ पर 'सामान्यवत्त्वविशिष्ट असमदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्व' की लक्षणा 'सामान्यवत्त्वविशिष्ट असमदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्व ज्ञान' में करनी पड़ेगी तथा इसका अन्वय पञ्चमी के अर्थ ज्ञाप्यत्वरूपी हेतुत्व में करना पड़ेगा। इसलिए वाक्य की लक्षणा नहीं होती, यह आग्रह नहीं रखा जा सकता।

वेदान्तमत में भी पङ्कज आदि पदों के द्वारा कमल के फूल का बोध यौगिक शक्ति के द्वारा ही होता है। उसमें किसी अन्य वृत्ति की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए अन्य दार्शनिकों की तरह इस शब्द को योगरूढ मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे धेनु, हरि आदि पदों की शक्ति दसियों पदार्थों में होने पर भी गौ, विष्णु आदि का बोध कराने के लिए प्रयोग की बहुलता के कारण गौ, विष्णु आदि का स्मरण त्वरित हो जाता है। उसी प्रकार यद्यपि पङ्क यानी कीचड़ से बहुत सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु शीघ्रता से कमल का बोध उद्बोधक आदि का झटिति समवधान होने के कारण होता है। कमलत्व का बोध तो लक्षणा से होता है क्योंकि यौगिक शक्ति के द्वारा तो पङ्कजनिकर्तृत्व धर्म को ही विशेषण बना कर कमल का बोध होता है। अतिरिक्त शक्ति की कल्पना करने की अपेक्षा तो लक्षणा का स्वीकार ही उचित है।

कुछ अन्य विद्वान् मानते हैं कि 'जिज्ञासा' पद की प्रकृति ज्ञाधातु से ब्रह्मज्ञान का साध्यावस्थापन्नत्व

ब्रह्मज्ञानफलकश्च विचारो वेदान्तवाक्यविचार एव, वेदान्तवाक्यैरेवाखण्डाद्वितीयब्रह्मप्रतिपादनात्। अतस्तेषामेव विचार्यत्वेन सम्बन्धः। ब्रह्मज्ञानञ्च अनर्थनिवर्तकमिति तस्य फलत्वं युक्तम्। तथा च अनर्थनिवर्तकब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्य इत्यर्थः सम्पन्नः।

अथशब्दश्च आनन्तर्यार्थः। तस्यैव चानन्तर्यं वक्तव्यम्, यदनन्तरं वेदान्तवाक्यविचारे प्रवृत्तिरवश्यं भवति। तादृशं च नाध्ययनादि, कृताध्ययनस्यापि तत्राप्रवृत्तेः; किन्तु विवेकादिसाधनचतुष्टयम्, तदनन्तरं तत्रावश्यं प्रवृत्तेः। अतः अथशब्देन साधनचतुष्टयसम्पत्त्यानन्तर्यमुच्यते।

ननु न वेदान्तविचार एव कर्तव्यः, सन्त्यनेकानि कर्माण्यविनाश्यफलसाधनानि, 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादिश्रुतेः इत्येतच्छङ्कानिरासार्थमतः शब्दः। अयमर्थः— साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं वेदान्तवाक्यविचार एव कर्तव्यः, यतः कर्मफलानामनित्यत्वं 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इत्यादिश्रुतिबलादवगम्यते।

न च पूर्वश्रुतिबलान्नित्यत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम्? कृतकत्वाद्यनुमानानुगृहीतत्वेन 'आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इत्यादिस्मृतिबलेन च एतस्याः श्रुतेः बलवत्त्वात्, पूर्वश्रुतेश्चाऽऽकल्पक्षयं नित्यत्वे तात्पर्यात्। तथा चावश्यं वेदान्तविचारः कर्तव्य इति हेतुत्वमतःशब्देनोच्यते। एवञ्च साधनचतुष्टय-सम्पत्त्यनन्तरमनर्थनिवर्तकब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारोऽवश्यं कर्तव्य इति सूत्रार्थः सिद्धः। अत्र च वक्ष्यमाणानुबन्धचतुष्टयं स्पष्टमेवेति साधूक्तं वक्ष्यमाणानुबन्धचतुष्टयम् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू.१-१-१) इतिसूत्रेण सूत्रितमिति। एवञ्च **तदीयैरनुबन्धै**रित्यपि युक्तमिति।

लक्षित होता है, तथा सन् प्रत्यय के द्वारा लक्षणा के द्वारा विचार बोधित होता है। इस प्रकार दोनों ही पदों की लक्षणा के द्वारा ब्रह्मज्ञानफलक विचार बोधित होता है, परन्तु यदि एक पद की लक्षणा से निर्वाह सम्भव है तो दो-दो पदों की लक्षणा का स्वीकार व्यर्थ तथा प्रमाणहीन है।

इस कारण 'जिज्ञासा'पद की लक्षणा के द्वारा ब्रह्मज्ञान फल है जिसका ऐसा विचार बोधित होता है। वेदान्तवाक्यों का विचार ही ऐसा विचार है जिसका फल ब्रह्मज्ञान होता है क्योंकि वेदान्तवाक्यों के द्वारा अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म का बोध होता है। इस कारण वेदान्तवाक्यों की ही विचारविषयता है। ब्रह्मज्ञान चूँकि अनर्थ का निवर्तक होता है, ब्रह्मज्ञान से सांसारिक दुःखादिरूप अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है, इस कारण विचार का फल ब्रह्मज्ञान व्यक्ति का अभीष्ट है। इस प्रकार *ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या* इस का अर्थ होता है कि अनर्थनिवर्तक ब्रह्मज्ञान रूपी फल की प्राप्ति के लिए वेदान्तवाक्यों का विचार करना चाहिए। सूत्र में *अथ* शब्द का भी पाठ है। *अथ*शब्द का अर्थ होता है आनन्तर्य। तो 'किसके अनन्तर अनर्थनिवर्तक ब्रह्मज्ञान रूपी फल की प्राप्ति के लिए वेदान्तवाक्यों का विचार करना चाहिए' ऐसी जिज्ञासा होती है। तो जिसके अनन्तर वेदान्तवाक्यों के विचार में प्रवृत्ति अवश्य होती है, उसी का आनन्तर्य कहना चाहिए। ऐसा क्या है जिसके अनन्तर वेदान्तवाक्यों के विचार में प्रवृत्ति अवश्य हो? केवल वेदाध्ययनादि तो ऐसे नहीं हैं कि उनके बाद वेदान्तवाक्यों के विचार में प्रवृत्ति अवश्य होती हो। अनेक उदाहरण ऐसे देखे जाते हैं कि वेदादि का अध्ययन करने के उपरान्त भी वेदान्तवाक्यों के विचार में प्रवृत्ति नहीं

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तो-

अस्मिन् सूत्रे अथशब्देन प्रथममधिकारिण उक्तत्वात् तं प्रथमं दर्शयति—**अधिकारी त्विति**। अधिकारी

होती। आगे के पृष्ठों में प्रतिपादित किये जानेवाले विवेक आदि साधनचतुष्टय के अनन्तर ही अवश्य ही वेदान्तवाक्यों के विचार में प्रवृत्ति होती है। *अथ*शब्द के द्वारा उक्तसाधनचतुष्टयसम्पत्ति का आनन्तर्य ही कहा जाता है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि वेदान्तवाक्यों का विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि अनेक कर्म ऐसे हैं जो अविनाशी फल को प्रदान करनेवाले हैं। श्रुति सुनायी देती है कि— *'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति'* चातुर्मास्ययाजी को अक्षय्य सुकृत होता है। अन्य श्रुति है— *'अपाम सोमममृता अभूम'* हम सोमपान करके (सोमयाग में सोमपान करके) अमर हो गये। तो इस आशङ्का का निराकरण करने के लिए ही *"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"* इस सूत्र में *अतः* पद दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवाक्यों के पर्यालोचन के द्वारा कर्मफलों की अनित्यता का ज्ञान होता है। श्रुति बताती है कि— *'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'* जिस प्रकार इस लोक में कर्म के द्वारा प्राप्त किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार पुण्य के द्वारा प्राप्त परलोक भी क्षीण हो जाता है। इस प्रकार की श्रुतियों के द्वारा पताचलता है कि कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक व परलोक दोनों ही अनित्य हैं।

यद्यपि चातुर्मास्ययाजी को अक्षय्य सुकृत बतानेवाली तथा सोमयाजी की अमरता को बतानेवाली भी श्रुति है, जो कि कर्मफलों की नित्यता का सङ्केत देती प्रतीत होती है। तथापि कर्म से प्राप्त होनेवाले लोकों की अनित्यता ही स्वीकार्य है क्योंकि *'कर्मचितो लोकोऽनित्यः कृतकत्वात् घटादिवत्'* कर्म से प्राप्तव्य लोक अनित्य है क्योंकि वह जन्य है जैसे कि घटादि, इस प्रकार के अनुमान के द्वारा कर्मचित लोकों की अनित्यता का पता अनुमान से भी चलता है। इस प्रकार चातुर्मास्ययाजी को अक्षय्य सुकृत बतानेवाली तथा सोमयाजी की अमरता को बतानेवाली श्रुति अनुमान प्रमाण से विरुद्ध है। इस कारण *'आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते'* प्रलय काल तक जो अवस्थित रहता है उसको अमर कहा जाता है, इस स्मृति के द्वारा प्रतिपादित जो कल्पक्षयपर्यन्तस्थायित्वरूप लाक्षणिक नित्यत्व है, वही नित्यत्व ही चातुर्मास्ययाजी को अक्षय्य सुकृत बतानेवाली तथा सोमयाजी की अमरता को बतानेवाली श्रुति के द्वारा बताया जा रहा है। चूँकि कर्म के द्वारा नित्य अक्षय मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है, इसलिए अक्षय, नित्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान अपेक्षणीय है, तथा ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्तवाक्यविचार अवश्य कर्तव्य है, यही *"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"* इस सूत्र के घटक हेत्वर्थक *अतः* पद के द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है। इस तरह साधनचतुष्टयसम्पत्ति के अनन्तर अनर्थनिवर्तक ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्तवाक्यविचार अवश्य कर्तव्य है, यही सूत्रार्थ होता है तथा इसमें अग्रिम पङ्क्तियों में वक्ष्यमाण अनुबन्धचतुष्टय स्पष्ट ही सङ्गृहीत हैं।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस वेदान्तसूत्र के प्रथम सूत्र के अङ्गभूत *अथ*शब्द के द्वारा प्रथमतया अधिकारी

पासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टय-सम्पन्नः प्रमाता।

तु प्रमातेति सम्बन्धः। अत्र प्रमातृशब्दः सदाचारयुक्तब्राह्मणादिपरः। तेन च 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न त्रयी श्रुतिगोचरा' इत्यादिना निषिद्धाधिकारकस्त्र्यादीनां निरासः। मैत्रेय्याः श्रवणं त्वर्थवादमात्रमिति द्रष्टव्यम्।

तादृशब्राह्मणमात्रस्याधिकारं व्यावर्तयति— **साधनेति**। तथा च साधनचतुष्टयसम्पत्तिरधिकारि-विशेषणम्।

अत्र वदन्ति— न साधनचतुष्टयसम्पत्तिरधिकारिविशेषणम्; किन्तु मुमुक्षामात्रम्, कामाधिकारे कामनाया एवाधिकारनिमित्तत्वात्। किञ्च विवेकादीनां हि न क्वचित् साकल्येन श्रवणम्; अपितु कस्यचित् क्वचिच्छ्रवणम्। एवञ्च प्रथममेकशाखापर्यालोचनया किञ्चिद्विशिष्टस्यैव श्रवणकर्तव्यताप्रतिपत्तिर्जायते, पश्चात् सर्वशाखापर्यालोचनया सकलविशिष्टस्य श्रवणकर्तव्यता। तथा च सकलविशिष्टस्य श्रवणकर्तव्यता-

का ही निरूपण किया गया है, इस कारण वेदान्तशास्त्र के प्रकरणग्रन्थ वेदान्तसार के लेखक सदानन्द यति भी प्रथमतया अधिकारी का ही विवेचन कर रहे हैं—

विधिपूर्वक वेदों व वेदाङ्गों का अध्ययन कर लेने के कारण प्राथमिक रूप से समस्त वेदों के अर्थों को जिसने अधिगत कर लिया है, इस जन्म में या जन्मान्तर में काम्य व निषिद्ध कर्मों का वर्जन (परित्याग) पूर्वक नित्य व नैमित्तिक कर्मों, प्रायश्चित्त तथा उपासना के अनुष्ठान के द्वारा समस्त कल्मष (राग-लोभ-मोहादि दोष) निर्गत हो जाने के कारण जिसका अन्तःकरण नितान्त निर्मल हो गया है, ऐसा साधनचतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता ही वेदान्ताध्ययन का अधिकारी है।

यहाँ पर प्रमाता को अधिकारी बताया जा रहा है। प्रमाता पद का शाब्दिक अर्थ होता है जो ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इस शाब्दिक अर्थ पर निर्भर न रहते हुए प्रमातापद का अर्थ अन्यान्य व्याख्याकार अन्यान्य रीति से करते हैं। बालबोधिनी व्याख्या के लेखक आपदेव प्रमाता शब्द को सदाचार से युक्त ब्राह्मणादिपरक मानते हैं, तथा इस प्रकार की व्याख्या से स्त्री, शूद्रादि जिनका वेदाध्ययन में अधिकार नहीं, उनका वेदान्तश्रवण में भी अधिकार नहीं है, ऐसा बताते हैं। वहीं विद्वन्मनोरञ्जनी टीका के लेखक श्री रामतीर्थ यति प्रमाता पद के द्वारा 'लौकिक व वैदिक व्यवहारों में अभ्रान्त जीव' को समझते हैं। जीवमात्र को प्रमाता शब्द से नहीं लिया जा सकता है क्योंकि उसको भ्रम सम्भव होने के कारण शास्त्र के अभिप्राय की प्रतिपत्ति उसको सम्भव नहीं है। परन्तु कैसे प्रमाता को अधिकारी समझना? जिस प्रमाता ने प्राथमिक रूप से समस्त वेदों के अर्थों को अधिगत कर लिया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद ये चार वेद हैं। वेदों के अर्थों का बोध वेदाङ्गों के माध्यम से ही सम्भव हो पाता है। व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, शिक्षा, कल्पसूत्र तथा छन्द ये वेदों के छः अङ्ग कहे गये हैं। इन समस्त अङ्गों के द्वारा ही वेदों का सम्यग् अर्थावबोध हो पाता है, अन्यथा नहीं। इस कारण वेदों के अर्थों का परिज्ञान करने के लिए यह आवश्यक है कि वेदाङ्गों सहित वेदों का विधिपूर्वक अध्ययन किया जाये। अविधिपूर्वक किया गया अध्ययन वेदों के अर्थ का परिज्ञान नहीं करा सकता है, इस कारण विधिपूर्वक अध्ययन की अपेक्षा बतायी गयी।

प्रतिपत्त्या एकैकविशिष्टस्य श्रवणकर्तृताप्रतिपत्तिर्बाधनीया। एवञ्च प्रसज्यप्रतिषेधप्रसङ्गः। किञ्च साधनचतुष्टयस्य अधिकारिविशेषणतावादिनापि विवेकादेर्मुमुक्षाहेतुत्वमवश्यं वाच्यम्; एवञ्च विवेकादीनां मुमुक्षाजननेनान्यथासिद्धेर्नाधिकारिविशेषणत्वम्। तस्मात् चरमभाविन्येका मुमुक्षैवाधिकारिविशेषणमिति।

अत्रास्मद्गुरवः— पुरुषविशेषणत्वेन हि श्रुतमधिकारिविशेषणं भवति, यथोपनयनमध्ययनाधिकारिणः। 'शान्तो दान्तः' इत्येवमादौ च विवेकादिकं श्रवणाधिकारिविशेषणत्वेन श्रुतमिति तस्याप्यधिकारिविशेषणत्वम्।

न च कामाधिकारे कामनाया एव निमित्तत्वम्? तथा सति राजसूयेऽपि स्वाराज्यकामब्राह्मणादेरप्यधिकारप्रसङ्गः। यदि च श्रुतत्वाद् राजत्वमप्यधिकारिविशेषणम्, तदा विवेकादावपि तुल्यम्।

न च विवेकादीनां मुमुक्षाजननेनान्यथासिद्धिः? मुमुक्षायां कारणीभूतस्यापि विवेकादेरधिकारिविशेषणत्वस्य पुरुषविशेषणत्वेन श्रुतत्वादावश्यकत्वात्, अन्यथा सामर्थ्यादेरपि स्वाराज्यकामनाजननेनान्यथासिद्धेर्न तत्स्यात्। तथा च 'अर्थी समर्थो विद्वान्' इत्यादेर्व्याकोपः।

न च प्रसज्यप्रतिषेधः? सकलविशिष्टस्य श्रवणकर्तव्यताप्रतीतेरेकैकविशिष्टस्य श्रवणकर्तव्यताप्रतीत्या विरोधाभावात्। न हि एकैकविशिष्टस्य श्रवणकर्तव्यताविधायकेन विवेकवता श्रवणं कर्तव्यम्— इत्येवमादिना सकलविशिष्टेन न कर्तव्यमिति बोध्यते, तादृशपदाभावात्, आर्थिकेऽर्थे मानाभावात्। अर्थाद्धि

यहाँ पर आशङ्का हो सकती है कि—समस्त वेदों के अन्तर्गत वेदान्त भी आ जाते हैं। समस्त वेदों के अभिप्राय का परिज्ञान वेदान्तविचार के लिए अपेक्षित है, यदि प्रमाता ने समस्त वेदों के अर्थों को अधिगत कर लिया है, तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान भी प्रमाता को वेदाध्ययनकाल में हो चुका होगा। इस कारण वेदान्तविचार के पहले वेदाध्ययनकाल में ही ब्रह्मज्ञान होकर अनर्थनिवृत्ति सम्भव होगी, अतः श्रवणादि की क्या आवश्यकता रह जायेगी? फिर वेदान्त-विचार करने की कोई आवश्यकता तो नहीं दिखती।

इसका समाधान यह है कि इसी कारण मूलकार ने 'आपाततः' शब्द का प्रयोग किया है। प्राथमिक दृष्ट्या वेदार्थ का परिज्ञान हो चुका होने पर भी वेदान्तार्थ का परिज्ञान इस रूप में दृढ निश्चित नहीं हुआ है कि 'यह ऐसा ही है'। 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार से वेदान्तों के अभिप्राय का परिज्ञान हुए विना आत्मज्ञान नहीं हो सकता है, तथा विना इस प्रकार के वेदान्तार्थ का निश्चय हुए अनर्थनिवृत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए वेदान्तविचार की सार्थकता है।

समस्त वेदों के अर्थों का अधिगम इस कारण उपयोगी होता है क्योंकि समस्त वेदों के अर्थों का अधिगम हो जाने पर निषिद्ध जो कर्म हैं उन कर्मों में पाप के भय से प्रवृत्ति नहीं होगी, तथा काम्य कर्मों में भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि उनके द्वारा साध्य जो फल होते हैं वे अनित्य होते हैं, उनकी अनित्यता का ज्ञान हो जाने के कारण उनसे भी विरक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त *'नात्मलाभात् परम्'* इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा प्रेरित हुआ व्यक्ति परमपुरुषार्थ आत्मज्ञान को सिद्ध करनेवाले विचार के लिए उपयोगी जो साधनचतुष्टयसम्पत्ति होती है, उसके सम्पादनार्थ परम आवश्यक अन्तःकरणशुद्धि के लिए नित्यादि कर्मों में प्रवृत्ति होता है। इस कारण समस्त वेदार्थाधिगम आत्मज्ञान के लिए उपयोगी होता है।

अविवेकिना न कर्तव्यमिति भासते, न तु विवेकवतापि इतरविशिष्टेन न कर्तव्यमिति। सकलविधाने एकविधानस्याप्यावश्यकत्वान्न विरोधः। तस्माद्विरोधाभावान्न प्रसज्यप्रतिषेधः।

न च लाघवादेका मुमुक्षैवाधिकारिविशेषणम्? राजत्ववत् पुरुषविशेषणत्वेन विवेकादेरपि श्रुतत्त्वाद् गौरवस्यापि न्याय्यत्वात्। तस्मात् साधनचतुष्टयसम्पन्न एवाधिकारीति।

साधनचतुष्टसम्पत्तौ हेतुमाह—**नितान्तेति**। स्वान्तमन्तःकरणम्। अन्तःकरणशुद्धौ हेतुमाह—**अस्मिन्नित्यादिना**। **काम्येति**। 'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः' इति वचनादिति भावः। काम्यादिवर्जनपुरस्सरं नित्याद्यनुष्ठाने हेतुमाह— **अधिगतेति**। अखिलवेदार्थाधिगमे, निषिद्धे तावत्पापभयेन न प्रवृत्तिः। नापि काम्ये, तत्साध्यफलस्यानित्यत्वेन ज्ञानात् ततो विरक्तत्वात्। 'नात्मलाभात् परम्' इति श्रुतेश्च परमपुरुषार्थात्मज्ञानसाध्यकविचारोपयुक्तसाधनचतुष्टयसम्पत्त्युपयुक्तान्तःकरणशुद्ध्यर्थं नित्यादिषु प्रवर्तते इत्यर्थः।

परन्तु यहाँ यह भी सोचना चाहिए कि ज्ञान के सामान्य रूप से दो वर्ग होते हैं निश्चय व संशय। ज्ञान या तो निश्चयात्मक होगा या तो संशयात्मक। तो आपाततः या प्रथम दृष्ट्या होनेवाला ज्ञान या तो निश्चयात्मक होगा या तो संशयात्मक। यदि वेदाध्ययनकाल में वेदान्तार्थविषयक निश्चयात्मक ज्ञान हो गया तो फिर श्रवणादि की व्यर्थता ही होगी क्योंकि श्रुति कहती है कि आत्मा को जान लेनेवाला शोक को पार कर जाता है। ब्रह्म का ज्ञान ही अनर्थकारण संसार की निवृत्ति करा सकता है, तथा सामान्य लोकव्यवहार से यही ज्ञात होता है कि निश्चय ही भ्रम की निवृत्ति कराता है। आत्मनिश्चय तो वेदाध्ययनकाल में ही हो गया। इस लिए वेदान्तविचार व्यर्थ हो जायेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वेदान्तवाक्यों से आपाततः जायमान ज्ञान निश्चयात्मक न होकर संशयात्मक होता है क्योंकि *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्यों में कहीं पर भी द्वितीय कोटि का उपस्थापक कोई पद तो दिखायी ही नहीं देता है। संशय एककोटिक नहीं होता अपितु द्विकोटिक होता है। यथा 'यह मनुष्य है' ऐसा एककोटिक जो ज्ञान होता है वह संशयात्मक नहीं ही होता है अपितु निश्चयात्मक ही होता है। 'यह मनुष्य है या नहीं' इस प्रकार का जो द्विकोटिक ज्ञान होता है वही संशयात्मक होता है। संशय व निश्चय का यही वैलक्षण्य है कि निश्चय एककोटिक तथा संशय द्विकोटिक ही होता है। एक धर्मी में विरोध के भासमान होने पर नाना अर्थों का जो ज्ञान है उसी को संशय कहा जाता है, इस कारण संशय कभी भी एककोटिक नहीं हो सकता। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों में द्वितीय कोटि का उपस्थापक कोई पद दिखायी ही नहीं देने के कारण प्रथमदृष्ट्या भी उनसे संशयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह भी है कि वेदान्तमत में ज्ञान की अयथार्थता न्यायमत के समान इस कारण नहीं मानी जाती है कि ज्ञान व्यधिकरणप्रकारक होने के कारण अयथार्थ होता है। न्यायमत यह है कि जिस धर्मी में जो विद्यमान नहीं है, यदि उस धर्म का प्रकार (विशेषण) के रूप में भान हो रहा हो, तो ज्ञान अयथार्थ होता है। उदाहरण के रूप में शुक्ति में, सीप में होनेवाला 'इदं रजतम्' (यह चाँदी) ऐसा ज्ञान लिया जा सकता है। नैयायिकों के अनुसार इदं के रूप में जिसका उँगली के द्वारा निर्देश किया जा रहा है, वही धर्मी है। उस धर्मी में रजतत्व विद्यमान नहीं है, क्योंकि

नन्वखिलवेदार्थाधिगमे, सत्यादिवाक्येभ्यो ब्रह्मणोऽप्यवगतत्वाद्विचारात्प्रागेवानर्थनिवृत्तेः श्रवणादिवैयर्थ्यम्? तत्राह— **आपातत** इति। ननु किमापाततो ज्ञानं, निश्चयः संशयो वा? आद्ये, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः, 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानस्यैव तन्निवर्तकत्वान्निश्चयत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वदर्शनाच्च। न द्वितीयः, सत्यादिवाक्येषु कोट्यन्तरोपस्थापकपदाभावात्तज्जन्यज्ञानस्य संशयत्वानुपपत्तेः। न चैककोटिकः संशयः सम्भवति, एकस्मिन् धर्मिणि विरोधे भासमाने नानार्थावमर्शस्य संशयलक्षणत्वेन तस्यानेककोटिकत्वात्, स्वतन्त्रपरिभाषाकल्पने मानाभावात्। किञ्च सिद्धान्ते ज्ञानस्याऽयथार्थत्वं न परेषामिव व्यधिकरणप्रकारकत्वेन, अनिर्वचनीयख्यात्यङ्गीकारात्, किन्तु विषयमिथ्यात्वेन। संशयस्य त्वयथार्थत्वं सकलवादिसिद्धम्। एवञ्च सत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य संशयत्वे ब्रह्मणो मिथ्यात्वापातः। अनिर्वचनीयख्यातिस्त्वग्रे वक्ष्यते। किञ्च वेदवाक्यस्य स्वविषये यथार्थज्ञानजनकत्वमिति सर्ववैदिकसम्मतम्। तत्र वेदान्तवाक्यानामयथार्थसंशयरूपापातज्ञानजनकत्वे अप्रामाण्यापातः। संशयधर्मी सामान्यतो ज्ञातो विशेषतश्चाज्ञातो वक्तव्यः। ब्रह्मणि च सामान्यविशेषभावोऽनुपपन्न इति नापातज्ञानस्य संशयत्वमिति। ततश्च किमापाततो ज्ञानमिति चेत्?

संशयाविरोधिनिश्चय एव। न च निश्चयस्य संशयविरोधित्वात् कथमेतदिति वाच्यम्? दोषानास्कन्दितस्यैव तस्य संशयविरोधित्वात्, अन्यथा 'जलम्' इति निश्चये सति प्रामाण्यसंशयास्कन्दिताद्विषयसंशयो

पुरोदृश्यमान (सामने दिखायी पड़नेवाली) जिस वस्तु का उँगली दिखा कर निर्देश किया जा रहा है, वह वस्तु वस्तुतः तो शुक्ति है, उसमें रजत का धर्म रजतत्व कैसे रह सकता है? इसी कारण यह ज्ञान अन्यथाख्याति है, अन्य का अन्य रूप में भान है, शुक्ति का रजतत्वरूप में प्रतिभास है। परन्तु वेदान्तमत में ऐसा नहीं है क्योंकि वेदान्तमत में अन्यथाख्याति का स्वीकार नहीं किया गया है अपितु अनिर्वचनीयख्याति का स्वीकार है। अनिर्वचनीयख्याति के अनुसार ज्ञान का मिथ्यात्व विषय-मिथ्यात्व के कारण होता है न कि विषय का अन्य रूप में भान होने के कारण। विषय पश्चाद्भावी ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाता है, इसी कारण विषय का मिथ्यात्व है। चूँकि उसका प्रतिभास भी हो रहा है तथा बाध भी, इसीलिए भ्रमस्थल में जो भासित हो रहा है वह न तो सत् है न असत्, किन्तु अनिर्वचनीय है, ऐसा सिद्धान्त है। विषय के मिथ्या होने के कारण अनिर्वचनीयख्याति है। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा भी अनिर्वचनीय जगत् का प्रतिभास होता है, तथा एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता बतानेवाले उपनिषदों के अनुसार पारमार्थिक रूप से ब्रह्म की एकता बतायी जा रही है। इस प्रकार तात्त्विक व व्यावहारिक प्रामाण्य लेकर श्रुति व अन्य प्रमाणों का विषयव्यवस्थापन सम्भव होता है। इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है ऐसा सिद्धान्त है। इस प्रकार संशयातिरिक्त समस्त ज्ञानों का प्रामाण्य किसी न किसी रूप में अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार स्वीकार्य है। *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्य यदि संशयात्मक ज्ञान उत्पन्न करेंगे तो संशय को तो सभी वादि-प्रतिवादियों के मत में अयथार्थ ही माना जाता है। इस कारण *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्यों से जन्य संशयात्मक अयथार्थज्ञान का विषय ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा। समस्त वैदिक दर्शनों को यह सिद्धान्त स्वीकार्य है कि वेदवाक्य अपने विषय में यथार्थ ज्ञान के जनक होते हैं। यदि *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्यों से जन्य ज्ञान

न स्यात्। यदि च प्रामाण्यसंशयादिना निश्चयस्य प्रतिबद्धत्वान्न संशयविरोधित्वम्, तदाऽसम्भावनादि-दोषप्रतिबद्धत्वात् नापातनिश्चयस्य अज्ञानादिसकलप्रपञ्चविरोधित्वमिति तुल्यम्, असति प्रतिबन्धके निश्चयस्य संशयविरोधित्वात्। तस्माद् आपातनिश्चये सत्यपि संशयादेर्जायमानत्वात् तन्निरासार्थं श्रवणादौ प्रवृत्तिर्युक्तेति भावः।

संशयात्मक होता है, तो निश्चय ही वेदान्तों का अप्रामाण्य हो जायेगा।

दूसरी एक और समस्या है कि संशय का जो धर्मी होता है वह सामान्यतः ज्ञात तथा विशेषतः अज्ञात होता है। जैसे 'यह मनुष्य है या नहीं' इस संशय का जो पुरोदृश्यमान (सामने दिखायी पड़नेवाला) धर्मी है (क्योंकि उसी में तो सन्देह हो रहा है कि क्या मनुष्य है या मनुष्य नहीं है) वह सामान्यतया ज्ञात है। मनुष्य व मनुष्येतर साधारण जो उच्चैस्त्वादि धर्म हैं, वे तो ज्ञात हैं, परन्तु मनुष्यत्व ज्ञात नहीं है। इसी प्रकार *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्य ब्रह्मविषयक संशयात्मक ज्ञान तभी उत्पन्न करा सकते हैं यदि ब्रह्म सामान्यतः तो ज्ञात हो तथा विशेषतः अज्ञात हो। परन्तु ब्रह्म में तो सामान्यविशेषभाव सम्भव ही नहीं है क्योंकि ब्रह्म में जब कोई भी धर्म है ही नहीं तो सामान्य क्या और विशेष क्या? इस कारण वेदाध्ययनकाल में *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्यों से आपाततः जायमान ज्ञान संशयात्मक नहीं हो सकता है। तो फिर कैसा ज्ञान *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न होता है?

यहाँ सिद्धान्तपक्ष यह है कि वह ज्ञान होता तो निश्चयात्मक ही है, संशयात्मक नहीं। परन्तु आपाततः (प्राथमिक तौर पर) होने वाला वह निश्चयात्मक ज्ञान संशय का विरोधी नहीं होता है। आपाततः जायमान ज्ञान के संशयविरोधी न होने के पीछे कारण यह है कि दोष से युक्त ज्ञान संशय का विरोधी नहीं होता, दोषानास्कन्दित (दोष से रहित) ज्ञान ही संशय का विरोधी होता है। सामान्यतः निश्चय के संशय का विरोधी होने पर भी दोष से आस्कन्दित (युक्त)होने के कारण वह निश्चयात्मक ज्ञान भी संशय का विरोधी होता नहीं। इसी कारण एक बार 'जल है' इस प्रकार का निश्चय होने के उपरान्त जब उस ज्ञान में 'यह ज्ञान यथार्थ है या नहीं' ऐसा प्रामाण्य का संशय हो जाता है, तो उस प्रामाण्यसंशय के कारण 'जल है या नहीं' ऐसा विषय-संशय भी होता है। यदि निश्चयमात्र ही संशय का विरोधी होता तो यहाँ पर 'जल है' इस प्रकार का निश्चय पूर्व में ही होने से उसके उपरान्त 'जल है या नहीं' ऐसा विषय-संशय नहीं होना चाहिए था, जो कि होता है। इस कारण यही मानना उचित जान पड़ता है कि दोष से रहित निश्चय ही संशय का प्रतिबन्धक या विरोधी होता है दोषयुक्त निश्चय नहीं। प्रकृत स्थल में प्रामाण्यसंशय ही दोष का कार्य करता है, इसी कारण उस दोष से युक्त होने के कारण विषय-संशय भी सम्भव होता है। इसी प्रकार से सर्वत्र दोषानास्कन्दित (दोषरहित) निश्चय को ही संशय का विरोधी मानना चाहिए। *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वाक्य आपाततः भी यद्यपि निश्चयात्मक ज्ञान ही कराते हैं, तथापि अविद्या, राग-द्वेषादि दोषों के द्वारा आस्कन्दित (युक्त) वह आपाततः उत्पन्न निश्चय भी संशय का विरोधी नहीं हो पाता। यहाँ पर यदि कोई यह कहे कि दोषानास्कन्दित निश्चय को संशय का प्रतिबन्धक नहीं माना जाता, किन्तु निश्चयमात्र

आपातनिश्चये हेतुमाह— **अधीतेति**। अधीतेः प्रकारमाह—**विधिवदिति**। विध्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः। ब्रह्मचर्यादिः प्रकारः। उक्तप्रकारविशिष्टेन कृताध्ययनजन्यबोधो नित्यादिकर्मसु उपयुज्यते, न त्वन्यथेति भावः।

को ही संशय का प्रतिबन्धक माना जाता है। 'जल है' इस प्रकार का निश्चय पूर्व में होने के उपरान्त 'जल है या नहीं' ऐसा विषय-संशय होने का कारण यह है कि प्रामाण्य का संशय होने के कारण निश्चय ही प्रतिबद्ध हो जाता है, उस निश्चय का निश्चयत्व ही निवृत्त हो जाता है, इसी कारण वह पूर्वभावी निश्चय संशय का प्रतिबन्ध नहीं कर पाता, तथा संशय उत्पन्न हो जाता है। तो समान रूप से यहाँ भी उसी प्रकार स्वीकारा जा सकता है। यद्यपि *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन'* इत्यादि वाक्यों के द्वारा आपाततः अद्वैत ब्रह्म का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है, परन्तु असम्भावना आदि दोषों के द्वारा प्रतिबद्ध हो जाने के कारण आपाततः जायमान निश्चय अज्ञान आदि सकल प्रपञ्च का निवर्तक नहीं हो पाता। इस पक्ष में यही मानना पड़ेगा कि प्रतिबन्धक के न रहने पर ही निश्चय संशय का विरोधी हुआ करता है, प्रतिबन्धक के रहने पर नहीं। चूँकि आपाततः निश्चय हो जाने पर भी संशय, असम्भावना आदि होते देखे जाते हैं, इस कारण उन असम्भावना आदि का निराकरण करने के लिए श्रवणादि की भी आवश्यकता होती है।

आपाततः(प्राथमिक तौर पर) होने वाला निश्चय भी अपने कारण की अपेक्षा रखता है, सांयोगिक रूप में नहीं होता है। विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य आदि नियमों का पालन करते हुए वेदों का अध्ययन, स्वाध्याय करने से आपाततः निश्चय हो पाता है। इसका कारण यह है कि विधिपूर्वक किये जानेवाले अध्ययन से जन्य वेदार्थावबोध का ही नित्यकर्मादि में उपयोग होता है, अविधिपूर्वक किये गये अध्ययनादि से जायमान बोध का नित्यकर्मादि में उपयोग नहीं हुआ करता।

मूल में आया हुआ *'अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा'* (इस जन्म में या जन्मान्तर में) वाक्यांश देहली-दीपकन्याय से दोनों तरफ अन्वित होता है। जिस प्रकार दरवाजे पर रखा हुआ दीपक अन्दर भी प्रकाश करता है, तथा बाहर भी प्रकाश करता है उसी प्रकार यह वाक्यांश *'विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थो'* के साथ भी अन्वित होता है, तथा *'काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया'* के साथ भी अन्वित होता है। इस प्रकार अर्थ यह निकलता है कि आपाततः समस्त वेदों के अर्थों का अधिगम हो चुका होना चाहिए, विधिपूर्वक अध्ययन चाहे इस जन्म में किया हो या किसी पूर्व जन्मान्तर में। इसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त-उपासना आदि का अनुष्ठान इस जन्म में करने के कारण चित्त के समस्त कल्मष दूर हो चुके हों अथवा किसी पूर्व जन्म में करने के कारण। इस कारण विदुर आदि जिन्होंने इस जन्म में वेदों का विधिपूर्वक अध्ययन नहीं किया, उनको भी पूर्वजन्म में किये गये अध्ययन के द्वारा चित्त का परिपाक हो जाने के कारण इस जन्म में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। इस कारण तत्त्वज्ञान के लिए विधिपूर्वक वेदादि का अध्ययन निष्फल है, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती।

विधिपूर्वक वेदाध्ययन की बात की जाये तो एक अवान्तर प्रश्न भी समुपस्थित होता है। अध्ययन किस

अध्ययनञ्च अध्यापनविधिप्रयुक्तमित प्राभाकराः[१]। नेति वेदान्तिनः[२]। तथा हि— 'अध्यापयीत' इतिविधिविधेयत्वे अध्ययनस्य अध्यापनविधिप्रयुक्तता न स्यात्। न च अध्यापने विधिरस्ति—

"षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः।।"

इत्यादिना वृत्त्यर्थत्वेन तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। न च रागतः प्राप्ते विधिरस्ति, भोजनादावपि तत्प्रसङ्गात्, 'प्राङ्मुखोऽन्नानि अश्नीत' इत्यस्य च प्राङ्मुखत्वमात्रविधायकत्वात्।

न च 'अध्यापयीत' इति प्रत्यक्षो विधिरस्तीति वाच्यम्? तत्र 'अधीयीत' इति वचनविपरिणामात्। अन्यथा 'एतया ग्रामकामं याजयेत्' इत्यत्र 'ग्रामकामो यजेत' इति च वचनविपरिणामो न स्यात्। तत्र च यदि याजनस्य वृत्त्यर्थत्वेन रागतः प्राप्तत्वान्न विधिरिति वचनविपरिणामाश्रयणम्, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। तस्माद् रागतः प्राप्तत्वान्नाध्यापने विधिरस्तीति कथमध्यापनविधिप्रयुक्तताऽध्ययनस्य।

विधि से प्रयुक्त है? क्या अध्ययन अध्ययनविधि से प्रयुक्त है या अध्यापनविधि से प्रयुक्त? कारण यह है कि दोनों ही प्रकार के श्रुतिवाक्य उपलब्ध होते हैं। श्रुतिवाक्य यह भी प्राप्त होता है कि *'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'* तथा श्रुतिवाक्य यह भी प्राप्त होता है कि *'अध्यापयीत'*। इसमें अन्यान्य दार्शनिकों का मत भिन्न-भिन्न है। प्राभाकर का मत है कि वेदाध्ययन *'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'* इसअध्ययनविधि से प्रयुक्त नहीं होता है किन्तु *'अध्यापयीत'* इस अध्यापनविधि से प्रयुक्त होता है। अभिप्राय यह है कि *'अध्यापयीत'* इस प्रकार से अध्यापनविधि प्राप्त होती है, परन्तु शिष्य, ब्रह्मचारी के द्वारा अध्ययन के बिना अध्यापन सम्भव नहीं है। इस कारण अध्यापनविधि से ही ब्रह्मचारी की प्रवृत्ति अध्ययन में होती है। वेदान्तियों का मत है कि अध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त नहीं होता, किन्तु अध्ययनविधिप्रयुक्त ही होता है। इसका कारण यह है कि अध्ययन को यदि अध्यापनविधि से प्रयुक्त माना जाये तो यही मानना होगा कि *'अध्यापयीत'* इस अध्यापनविधि से प्रयुक्त ही अध्ययन होता है। परन्तु मुश्किल यह है कि अध्यापन में विधि तो मानी ही नहीं जा सकती है क्योंकि जो राग से प्राप्त होता है उसमें विधि नहीं हो सकती है। ब्राह्मण के लिए जिन छह कर्मों का विधान किया गया है वे कर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान व प्रतिग्रह हैं। इनमें से तीन कर्म ब्राह्मण की जीविका हैं याजन, अध्यापन तथा प्रतिग्रह (दान का ग्रहण)। जो आजीविका के लिए है वह तो निश्चय ही राग से ही प्राप्त है। जो राग से प्राप्त होता है, उसमें विधि नहीं हो सकती है क्योंकि राग से प्राप्त में विधि होने पर भोजनादि में भी विधि का प्रसङ्ग होगा। यद्यपि *'अध्यापयीत'* इस प्रकार से प्रत्यक्ष विधि उपलब्ध होती है, तथापि रागवश ही अध्यापन के प्राप्त होने के कारण अध्ययन को अध्यापनविधि से प्रयुक्त नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसलिए *'अध्यापयीत'* इसका वचनविपरिणाम करके *'अधीयीत'* इस प्रकार से अध्ययनविधि ही माननी चाहिए। जैसे कि *'एतया ग्रामकामं याजयेत्'* इससे ग्राम की कामना करनेवाले को याग कराये, इस प्रकार से प्राप्त श्रुति का *'ग्रामकामो यजेत'* ग्राम की कामना करनेवाला इस याग को करे, इस

---

१. भाट्टास्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमिति वदन्ति।

२. वेदान्तिनोऽपि भाट्टमतमेवानुसरन्ति।

किञ्च यावत्स्वविधिप्रयुक्तत्वं सम्भवति, तावन्नान्यविधिप्रयुक्तता। तथा च 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इतिस्वविधिप्रयुक्ततैव सम्भवतीति किमित्यध्यापनविधिप्रयुक्तत्वम्। यदि च अध्ययनमन्तरेण अध्यापन-मनुपपन्नमिति अध्यापनविधिप्रयुक्तताध्ययनस्य, तर्ह्यध्यापनमन्तरेण अध्ययनानुपपत्तेः अध्ययनविधिप्रयुक्ततैव अध्यापनस्य किं न स्यात्?

किञ्च अध्यापनस्यैव विधेयत्वे अध्येतुर्नियोगाभावात् स्वयं प्रवृत्तिर्न स्यात्। न चेष्टापत्तिः? 'सत्यकामो ह वै जाबालो हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच' इत्यादिश्रुतौ स्वयं प्रवृत्तेः श्रूयमाणत्वात्। तस्मादध्ययनं स्वविधिप्रयुक्तम्, न त्वध्यापनविधिप्रयुक्तमिति सूक्तम्। विस्तरस्तु विवरणादौ बोद्धव्यः।

अध्ययनस्य च फलमर्थावबोधः, दृष्टत्वादिति मीमांसकाः। नेति सिद्धान्तः[१]। तथा हि— 'स्वाध्यायो-

प्रकार से वचनविपरिणाम कर लिया जाता है। यहाँ पर भी समान स्थिति है, याजन (यज्ञ कराना) आजीविका के लिए होने के कारण रागवश ही प्राप्त है। रागतः प्राप्त में विधि नहीं हो सकती है, इस कारण उक्त श्रुतिवाक्य का अन्य रूप में परिणाम कर लिया गया कि ग्राम की कामना वाला पुरुष उक्त याग करे। याग करना रागवश प्राप्त नहीं है क्योंकि श्रुति से अतिरिक्त किसी भी प्रमाण के द्वारा याग से ग्राम का प्राप्त होना पता नहीं चलता। इस कारण अत्यन्त अप्राप्त होने के कारण उसमें विधि हो सकती है। ठीक उसी प्रकार से अध्यापन के रागवश ही प्राप्त होने के कारण चूँकि अध्यापन में विधि नहीं हो सकती है, इस कारण *'अध्यापयीत'* इस प्रकार से प्रत्यक्षतः उपलब्ध विधि का *'अधीयीत'* इस प्रकार से वचनविपरिणाम कर लिया जाता है, तथा अध्ययनविधि ही मानी जाती है।

एक अन्य बात भी है कि जब तक स्वविधिप्रयुक्तता सम्भव हो तब तक अन्यविधिप्रयुक्तता नहीं माननी चाहिए। जब यहाँ पर *'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'* इस प्रकार से साक्षात् अध्ययनविधायक वाक्य उपलब्ध है तो अध्ययन को अध्ययनविधि से प्रयुक्त ही मानना उचित है न कि अध्यापनविधि से प्रयुक्त मानना। जैसे यह कहा जा सकता है कि अध्यापन विना शिष्य, ब्रह्मचारी के द्वारा अध्ययन के सम्भव नहीं है, इस कारण अध्यापनविधि प्रयुक्त ही अध्ययन सम्भव होता है। तो ठीक उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि विना आचार्य द्वारा अध्यापन के अध्ययन भी सम्भव नहीं है। इस कारण अध्ययनविधि से प्रयुक्त ही आचार्यकृत अध्यापन होता है।

एक दूसरी समस्या भी यहाँ पर है कि यदि अध्यापन ही विधेय है, अध्ययन नहीं तो अध्येता का प्रवर्तक कोई शास्त्र या श्रुतिवाक्य तो है नहीं। इस कारण कहीं पर भी अध्येता की प्रवृत्ति स्वयं नहीं होनी चाहिए, जबकि श्रुति सत्यकाम आदि के अध्ययनार्थ गुरुसमीपगमन को स्वयं बताती है। इसलिए अध्ययन को अध्ययनविधिप्रयुक्त मानना ही उचित है न कि अध्यापनविधि से प्रयुक्त मानना।

इसी प्रकार अध्ययन का फल क्या है? इस विषय में भी मतभेद है। मीमांसकों का मत है कि अध्ययन का फल अर्थावबोध है क्योंकि लोक में अन्यान्य विषयों के अध्ययन का फल अर्थावबोध ही देखा गया है। जबकि वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार अध्ययन का फल अर्थावबोध नहीं है। किन्तु अध्ययनविधि मात्र अक्षरग्रहणार्थ है।

१.सिद्धान्ततस्तु अध्ययनस्य फलमक्षरग्रहणमेव। अर्थावबोधस्तु नाध्ययनस्य फलं किन्तु विचारस्य। अयमाशयो विवरणादिषु प्रथमसूत्रस्य तृतीयवर्णके विस्तरेण प्रकटीकृतः।

ऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना तावद् अध्ययनं विधीयते। तस्य च फलाकाङ्क्षायां नार्थावबोधस्य फलत्वेनान्वयः, मानाभावात्।

न च दृष्टत्वादिति वाच्यम्; अध्ययनानन्तरमर्थावबोधस्येवावाप्तेरपि दृष्टत्वात्।

न चावाप्तेरपुरुषार्थत्वान्न फलत्वमिति वाच्यम्; अर्थावबोधेऽपि तुल्यत्वात्।

न चार्थावबोधे परम्परयाहवनीयादिवत्पुरुषार्थानुबन्धित्वात्फलत्वमिति वाच्यम्; अवाप्तेरपि तुल्यत्वात्।

किञ्चाध्ययनस्यार्थावबोधादवाप्तिरव्यवहितदृष्टा। स तु व्यवहितः, अव्यवहितस्य फलत्वे सम्भवति न व्यवहितस्य तत्कल्पनं युक्तम्।

वेदान्ती अपने मत के समर्थन में इस प्रकार युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं— *'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'* इस अध्ययनविधि के द्वारा अध्ययन का विधान किया जाता है। सभी विधियों का कोई न कोई फल होता है, इस कारण अध्ययनविधि का भी कोई न कोई फल होना चाहिए। तो अध्ययन का फल क्या है? अध्ययन का फल अर्थावबोध नहीं हो सकता है क्योंकि अर्थावबोध के अध्ययन का फल होने में कोई प्रमाण ही नहीं है। यदि यह कहा जाये कि लोक में अर्थावबोध अध्ययन के फल के रूप में देखा गया है, तो लोक में अध्ययन के फल के रूप में तो अक्षरग्रहण भी देखा ही गया है। इस कारण अर्थावबोध को अध्ययन का फल माना जाये या अक्षरग्रहण को फल माना जाये यह संदेह अवश्य उपस्थित होगा। यदि यह कहो कि अक्षरग्रहण तो पुरुषार्थ है नहीं इस कारण उसको फल नहीं माना जा सकता, तो यह बात तो समान रूप से अर्थावबोध पर भी लागू होती है। अर्थावबोध भी पुरुषार्थ नहीं है, इस कारण उसको भी फल नहीं माना जा सकेगा। परम्परया अर्थावबोध पुरुषार्थानुबन्धी होने के कारण पुरुषार्थ होगा, तो अक्षरग्रहण भी इस प्रकार पुरुषार्थ हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी युक्ति भी है अर्थावबोध की अपेक्षा अक्षरग्रहण को अध्ययन का फल मानने में लाघव है क्योंकि अध्ययन से अर्थावबोध की अपेक्षा अक्षरग्रहण बिना व्यवधान के लब्ध है। अक्षरग्रहण पहले होता है, अर्थावबोध बाद में। यदि अव्यवहित को फल माना जा सकता हो तो व्यवहित को फल मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। तीसरी युक्ति यह भी है कि *'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'* इस अध्ययनविधि में तव्यप्रत्यय का श्रवण प्राप्त होता है, इस तव्यप्रत्यय के अनुरोध से स्वाध्याय की कर्मता प्रतीत होती है। अर्थावबोध तो ज्ञानरूप है, अतः वस्तुतन्त्र व प्रमाणतन्त्र है, पुरुष के द्वारा उसमें कुछ भी नहीं किया जा सकता है। अक्षरग्रहण ऐसा नहीं है, इस कारण उसमें स्वाध्याय की कर्मता हो सकती है। इस कारण अक्षरग्रहण को ही अध्ययन का फल मानना उचित व सङ्गत है।

इस प्रकार चाहे इस जन्म में या जन्मान्तर में विधिपूर्वक अध्ययन के द्वारा वेदों के अर्थों को जिसने अधिगत कर लिया हो, चाहे इस जन्म में या जन्मान्तर में काम्य व निषिद्ध कर्मों का वर्जन करते हुए नित्य व नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा तथा प्रायश्चित्त व उपासना के अनुष्ठान के द्वारा जिस—लौकिक व वैदिक व्यवहारों में अभ्रान्त जीव—का चित्त नितान्त निर्मल हो गया है (राग-द्वेषादि से रहित हो गया है), तथा जो नित्य व अनित्य वस्तुओं के विवेक, ऐहिक व पारलौकिक कर्मफलों से वैराग्य, शम-दमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व इन चार

किञ्च तव्यप्रत्ययानुरोधेन स्वाध्यायस्य कर्मत्वं प्रतीयते, तच्च उत्पत्त्यादेरभावादवाप्यत्वेनेत्यवाप्तिः श्रुता न त्वर्थावबोधः। 'श्रुताश्रुतयोर्मध्येच श्रुतं बलवत्' इतिन्यायादवाप्तेरेव फलत्वम्।

किञ्चाध्ययनस्यार्थावबोधार्थत्वे क्षत्रियाणां निषादेष्ट्याद्यध्ययनं न स्यात्, तत्र तेषामधिकाराभावेन कर्मोपयुक्तार्थावबोधस्य व्यर्थत्वात्। अवाप्त्यर्थत्वे तु ब्रह्मयज्ञार्थं तेषामध्ययनं युज्यते। तस्माद-ध्ययनस्यावाप्तिरेव फलमिति।

प्रकार के साधनों से सम्पन्न है, ऐसा प्रमाता ही अधिकारी कहा जा रहा है। इस प्रकार के विवेचन से सुस्पष्ट है कि इन चार साधनों की सम्पत्ति अधिकारी का विशेषण है। इन चार साधनों से सम्पन्न तथा उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट प्रमाता ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। इस विषय में एक मतभेद प्राप्त होता है।

कुछेक आचार्यों का मानना है कि ये चार साधन अधिकारी के विशेषण नहीं हैं किन्तु केवल मुमुक्षा ही अधिकारी का विशेषण है। इसमें उनके कुछ तर्क हैं। प्रथम तर्क यह है कि कामाधिकार में कामना ही अधिकार की निमित्त होती है। इस कारण मोक्ष की इच्छारूप मुमुक्षा ही ब्रह्मज्ञान के लिए अधिकारिता सम्पादन करती है। द्वितीय तर्क यह है कि विवेक आदि सभी का किसी भी श्रुति में एक स्थान पर समग्रता में अधिकारी के विशेषण के रूप में श्रवण नहीं प्राप्त होता है, अपितु किसी का कहीं पर तथा किसी अन्य का कहीं अन्य स्थल में अधिकारी के विशेषण के रूप में श्रवण प्राप्त होता है। इस कारण एक-एक शाखा का पर्यालोचन करने पर किसी एक साधन से सम्पन्न प्रमाता के द्वारा श्रवण कर्तव्य है, इसकी प्रतिपत्ति होती है, बाद में समस्त शाखाओं का पर्यालोचन करने पर इन चारों ही साधनों से सम्पन्न प्रमाता के द्वारा श्रवण कर्तव्य है, यह बात समझ में आती है। इस स्थिति में इन चारों ही साधनों से सम्पन्न प्रमाता के द्वारा ही श्रवण कर्तव्य है, इसकी प्रतिपत्ति तभी हो सकती है, यदि भिन्न-भिन्न शाखाओं में सुने गये एक-एक साधन से सम्पन्न प्रमाता के द्वारा श्रवणकर्तव्यता का निषेध कर दिया जाये, जो कि अनुचित होगा। तीसरा तर्क वे यह देते हैं कि जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता को श्रवण का अधिकारी मानते हैं, वे भी यह तो मानेंगे ही कि विवेक आदि के द्वारा मुमुक्षा उत्पादित की जाती है। यदि नित्यानित्यविवेक नहीं है तो मुमुक्षा तो हो ही नहीं सकती। इस कारण विवेक आदि तो मुमुक्षा को उत्पादित कर अन्यथासिद्ध हो जायेंगे, फिर उन विवेक आदि को अधिकारी का विशेषण मानने की क्या आवश्यकता है? इस कारण विवेक आदि के द्वारा अन्त में उत्पाद्य मुमुक्षा ही अधिकारी का विशेषण है, यही मानना उचित है।

परन्तु बालबोधिनी टीका के लेखक आपदेव अपने गुरु का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए इस पक्ष का खण्डन कर देते हैं(द्रष्टव्य-पृ.१२-१३)। उनकी युक्तियाँ इस प्रकार हैं— जो पुरुष के विशेषण के रूप में सुना जाता है, वह अधिकारी का विशेषण होता है। *'शान्तो दान्तः'* इत्यादि श्रुतियों में शम-दम आदि का तथा अन्य श्रुतियों में विवेक आदि को पुरुष के विशेषण के रूप में सुनायी देते हैं। इस कारण उन श्रवण आदि को भी अधिकारी का विशेषण मानना चाहिए। यह कहना ग़लत है कि कामाधिकार में कामना ही निमित्त होती है; क्योंकि ऐसा होने पर तो राजसूय आदि यज्ञों को करने में उस ब्राह्मण आदि का भी अधिकार होने लगेगा जो कि स्वाराज्य की कामना करता है। यदि वहाँ पर राजत्व का भी अधिकारी के विशेषण के रूप में श्रवण होने के कारण स्वाराज्य की कामना

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि।
निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि।
नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।
नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि।
प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।

काम्यानीति। यद्यपि 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इतिवीप्सानुरोधेन ज्योतिष्टोमस्य नित्यत्वम्, तथापि नित्यस्य सतः काम्यस्येदमुदाहरणम्[१]। आदिशब्देन च केवलकाम्यपुत्रकामेष्ट्यादीनां सङ्ग्रहः। वर्जनञ्च कामनापुरस्कारेणेति ज्ञेयम्। **इष्टेति**। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतेरित्यर्थः। **अनिष्टेति**। असति प्रायश्चित्ते इति शेष इति केचित्[२]। तन्न, प्रायश्चित्तदशायामपि ब्रह्महत्यादेरनिष्टसाधनत्वानपायात्। न हि साधनपदेनात्र फलोपधानं विवक्षितमस्ति[३], मानाभावात्।

करनेवाले ब्राह्मण आदि का राजसूय में अधिकार नहीं होता, ऐसा माना जाये; तब तो समान युक्ति से विवेक आदि का भी अधिकारी के विशेषण के रूप में श्रवण होने के कारण विवेक आदि को भी अधिकारी का विशेषण मानना ही होगा। विवेक आदि मुमुक्षा को उत्पन्न कराके अन्यथासिद्ध हो जायेंगे, ऐसा भी नहीं है क्योंकि भले ही मुमुक्षा को विवेक आदि उत्पन्न कराते हों, परन्तु साक्षात् श्रुति का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इस कारण विवेक आदि को भी अधिकारी का विशेषण मानना ही होगा। सकलसाधनों से सम्पन्न की श्रवणकर्तव्यता की प्रतिपत्ति से एक-एक साधनों से सम्पन्न की श्रवणकर्तव्यता की प्रतिपत्ति का कोई विरोध भी नहीं है। इस कारण वस्तुतः इन दोनों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि सकल साधनों के विधान में एक विधान तो आवश्यक रूप से स्वतः ही आ जाता है। लाघव के आधार पर भी केवल मुमुक्षा को अधिकारी का विशेषण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो लाघव साक्षात् श्रुति के साथ सङ्गत नहीं है, उस लाघव की अपेक्षा गौरव ही न्यायसङ्गत है जो श्रुति के साथ सङ्गत हो।

इसमें जिज्ञासा होती है कि वे काम्य व निषिद्ध कर्म कौन से हैं जिनका वर्जन करना है, नित्य-नैमित्तिक, प्रायश्चित्त-उपासना आदि कर्म कौन से हैं जिनका अनुपालन करना है? इन्हीं जिज्ञासाओं के समाधानार्थ मूलकार कहते हैं—

काम्य कर्म वे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ हैं जो कि स्वर्गादि इष्ट का साधन करते हैं।

निषिद्ध कर्म वे हैं जो नरकादि अनिष्ट का साधन बनते हैं जैसे कि ब्राह्मण की हत्या आदि।

१.यद् अकरणे प्रत्यवायं जनयति, नियमेन च करणीयं तत् कर्म नित्यकर्मेति प्रोच्यते। 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इति रीत्या प्रत्येकं वसन्ते ज्योतिष्टोमस्य नियमेन कर्तव्यता बोध्यत इति ज्योतिष्टोमस्य नित्यता भवति। स्वर्गकामनाश्रवणाच्चास्य काम्यताऽपि भवति। पुत्रकामेष्ट्यादौ तु नियमेन कर्तव्यता न बोध्यते इति तस्य केवलं काम्यकर्मता भवति।

२.सुबोधिन्यां विद्वन्मनोरञ्जन्यां वा नैवं व्याख्यातम्, कस्येदं मतमिति न जानीमः।

३.फलोपधायकत्वरूपं साधनत्वं तु प्रायश्चित्तदशायां ब्रह्महत्यादौ नास्ति, परन्तु स्वरूपयोग्यत्वरूपं साधनत्वं तु विद्यत एव।

उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।

एवं वर्जनीयान्युक्त्वा अनुष्ठेयान्याह—**नित्यानी**ति।

ननु नित्यानामकरणे प्रत्यवायसाधनत्वम्, अकरणस्य वा? नाद्यः, तदानीं नित्याभावेन कारणत्वानुपपत्तेः, न ह्यसतः कारणत्वं सम्भवति। न द्वितीयः, अकरणस्याभावत्वेन सिद्धान्ते तस्य कारणत्वाभावात्, ग्रन्थविरोधाच्चेति चेत्? उच्यते—नित्यानि तावद् विधिविहितानि। विधिश्च भाव्यमन्तरेणानुपपन्नः किञ्चिद् भाव्यं कल्पयति।

न च विश्वजिन्न्यायेन[1] स्वर्गो भाव्यतया कल्पयितुं युक्तः; सदा स्वर्गकामनाया अभावेन कदाचिदननुष्ठानप्रसङ्गात्।

नित्य कर्म वे हैं जो न करने पर प्रत्यवाय के साधन बनते हैं जैसे सन्ध्यावन्दन आदि कर्म।

ये नित्य कर्म हैं क्योंकि इनको नियम से करने की विधि है, न करने पर ये प्रत्यवाय का साधन बनते हैं।

नैमित्तिक कर्म वे हैं जो किसी निमित्त पर आधारित होते हैं जैसे पुत्रजन्म के उद्देश्य से किये जानेवाले जातेष्टि इत्यादि कर्म।

प्रायश्चित्त पापक्षय के साधन चान्द्रायणव्रत आदि हैं।

उपासनाएँ सगुण ब्रह्म विषयक मानसव्यापारात्मक होती हैं, जैसे शाण्डिल्य विद्या आदि।

यहाँ पर कर्मों के चार भेद बताये गये हैं काम्य, निषिद्ध, नित्य व नैमित्तिक।

काम्य कर्म कामनावश किये जाते हैं। कहा जाता हैं कि कामनावान् पुरुष ही काम्य कर्मों को करने का अधिकारी है। इनको करने से पुण्य होता है, परन्तु न करने से कोई पाप नहीं लगता है। इन कर्मों को करने या न करने में कर्ता अत्यन्त स्वतन्त्र है। चाहे तो करे चाहे तो न करे। यदि करता है तो कर्मफल का भागीदार बनता है, यदि नहीं करता है तो कर्मों के फल से वञ्चित हो जाता है। परन्तु काम्य कर्मों को अनुष्ठान न करना प्रत्यवाय का जनक नहीं होता। जैसे पुत्रेष्टियाग आदि यज्ञ काम्य कर्म के उदाहरण हैं। इनको करने से पुत्रेष्टि याग के फल पुत्र की प्राप्ति होती है,परन्तु न करने से कोई पाप नहीं होता है, कोई प्रत्यवाय नहीं होता है। यहाँ पर वेदान्तसार मूल में काम्य कर्मों के उदाहरण के रूप में ज्योतिष्टोम याग का उदाहरण दिया गया है। ज्योतिष्टोम याग काम्य है क्योंकि श्रुति कहती है कि *'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'* स्वर्ग की कामना रखनेवाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करे। इस श्रुति के अनुसार स्वर्गकामनावान् पुरुष का ज्योतिष्टोम याग में अधिकार बोधित होता है। इस कारण ज्योतिष्टोम याग काम्य कर्म है। परन्तु शुद्ध काम्य नहीं है, नित्य भी है तथा काम्य भी है। ज्योतिष्टोम याग को नित्य कर्म क्यों मानते हैं? तो ऐसा मानने के पीछे कारण यह है कि श्रुति कहती है *'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत'* प्रत्येक वसन्त में ज्योतिष्टोम याग करे। यहाँ पर *'वसन्ते वसन्ते'* इस प्रकार वसन्ते इस पद की आवृत्ति सुनायी देती है। इस वसन्ते

१. 'विश्वजिता यजेत' इति विधिरस्तावत् श्रूयते, परन्तु तत्र कस्यचन फलस्य निर्देशो नास्ति। स्वर्गस्य सर्वेषामपि काम्यतया स्वर्ग एव विश्वजिद्यागस्यापि फलमिति कल्प्यते। एष एव विश्वजिन्न्यायः।

न चाकरणे प्रत्यवायप्रागभावपरिपालनं फलमिति वाच्यम्; तथा सति प्रागभाववतः कार्यस्योत्पत्ति-नियमेन नियमानुष्ठानानन्तरमपि कदाचित्प्रत्यवायोत्पत्तिप्रसङ्गात्। अत एव दुःखप्रागभावपरिपालनं न मोक्ष इत्युक्तं न्यायग्रन्थेषु।

किञ्च नित्यानां स्वाकरणे प्रत्यवायस्य प्रागभावपरिपालनं फलम्, उतान्याकरणप्रत्यवायस्य? नाद्यः, तदानीं तादृशप्रत्यवायस्य खपुष्पतुल्यत्वेन प्रागभावानुपपत्तेः। न द्वितीयः, अन्याकरणे प्रत्यवायप्रागभाव-परिपालनस्य एतत्फलत्वेऽन्यकरणव्यर्थतापत्तेः। तस्मान्नाकरणे प्रत्यवायप्रागभावपरिपालनं भाव्यम्। किन्तु ज्ञानाज्ञानकृतानां पापानां क्षय एव, तस्य सर्वदिप्सितत्वात्। एवञ्च न नित्यानामकरणे स्वतन्त्रप्रत्यवायोत्पादः, पूर्वोक्तरीत्या कारणाभावात्। किन्तु न पापक्षय इति तत्र पापं तिष्ठति। तस्य च पापस्य नित्यानामकरणं ज्ञापकम्, 'अकुर्वन् विहितं कर्म'[1] इतिशतृप्रत्ययस्य लक्षणार्थत्वात्, 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः'(पाणिनिसूत्रम्-३/२/१२६)[2] इत्युक्तत्वात्।

पद की वीप्सा के अनुरोध से ज्योतिष्टोम याग के नित्यत्व का पता चलता है। नित्य कर्मों में ही इस प्रकार से वीप्सा दिखायी देती है, जैसे सन्ध्यावन्दन, जो कि नित्यकर्म है, उसके विधायक वाक्य *'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'* प्रत्येक दिन सन्ध्यावन्दन करे, में दिवसवाचक अहः पदकी आवृत्ति रूप वीप्सा दिखती है। यह दिवसवाचक अहः पदकी आवृत्ति रूप वीप्सा सन्ध्यावन्दनादि के नियमतः कर्तव्यत्व रूप नित्यता को बताती है। ठीक उसी प्रकार ज्योतिष्टोम याग विधायक वाक्य में भी *वसन्ते* इस पद की आवृत्ति रूप वीप्सा दिख रही है, इससे पता चलता है कि ज्योतिष्टोम याग की भी नियमतः कर्तव्यत्व रूप नित्यता अभिप्रेत है। इससे पता चलता है कि ज्योतिष्टोम याग केवल काम्य नहीं है किन्तु काम्य होते हुए भी नित्य है। केवल काम्य तो पुत्रकामेष्टि याग आदि ही हैं।

परन्तु यदि ज्योतिष्टोम आदि याग काम्य भी हैं तथा नित्य भी हैं, तो समस्या होगी। काम्य कर्मों के वर्जन के लिए कहा जा रहा है, तथा नित्य कर्मों के सम्पादन के लिए कहा जा रहा है। एक ही विषय में वर्जन व सम्पादन दोनों कैसे सम्भव होंगे? ज्योतिष्टोम आदि याग यदि नित्य-काम्य हैं तब तो इनका वर्जन होना चाहिए क्योंकि चित्तशुद्धि के लिए काम्यवर्जन की बात कही गयी है। दूसरी बात यह है कि यह नित्य भी है इस कारण इसका अनुष्ठान भी होना चाहिए। पूर्व में काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सर नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान की बात कही गयी है। तो यह कैसे सम्भव होगा? तो इसका समाधान यह दिया जाता है कि ज्योतिष्टोम आदि कर्म नित्य कर्म होने के कारण अवश्य करणीय हैं। परन्तु इनको कामना का परित्याग करके करना चाहिए। कामना रखते हुए इन कर्मों को नहीं करना चाहिए। कामना का परित्याग करके करने पर ज्योतिष्टोम आदि का अनुष्ठान नित्य कर्म का अनुष्ठान ही होता है। स्वर्गकामनापुरस्सर किया गया ज्योतिष्टोम याग स्वर्गात्मक फल प्राप्त कराता है, परन्तु कामना का परित्याग कर कर्तव्य बुद्धि से किया गया वही ज्योतिष्टोम याग चित्त की शुद्धि करने में उपयोगी होता है।

१.अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति।। मनुस्मृति ११/४४

२.क्रिया के परिचायक तथा हेतु अर्थ में वर्तमान काल में धातु से विहित लट् के स्थान में शतृ व शानच् हो जाते हैं।

न च—अकरणस्य ज्ञापकत्वमिति कथम्; ज्ञापकत्वं हि ज्ञानजनकत्वम्, न चाभावस्य तत् सम्भवतीति— वाच्यम्? जनकज्ञानविषयस्यैव गमकत्वात्, धूमादेरपि वह्निगमकत्वं न तज्ज्ञानजनकत्वम्, अतीतादौ व्यभिचारात्, किन्तु तादृशज्ञानविषयत्वमेव। तथा च अकरणज्ञानस्य जनकत्वान्नाकरणस्य जनकत्वप्रसङ्गः।

न च 'विहितस्याननुष्ठानात्' इतिपञ्चम्या अकरणस्य हेतुत्वं बोध्यत इति वाच्यम्? अभावस्य हेतुत्वान्यथानुपपत्त्या पञ्चम्या ज्ञापकत्वार्थकत्वात्। एवञ्च नित्यानामकरणं प्रत्यवायज्ञापकम्। तथा च 'अकरणे साधकानि' ज्ञापकानीत्यर्थः।

न च नित्याकरणस्यैव प्रत्यवायज्ञापकत्वं न नित्यानामिति वाच्यम्? विशिष्टस्य ज्ञापकत्वे विशेषणस्यापि ज्ञापकत्वात्।

निषिद्ध कर्म वे हैं जिनको न करने के लिए श्रुति कहती है, जो करने पर नरकादि अनिष्ट के साधन होते हैं। जैसे ब्रह्महत्या आदि। यद्यपि हत्यामात्र ही अनिष्टसाधन है क्योंकि श्रुति कहती है *'न हिंस्यात् सर्वभूतानि'* सभी भूतों की हिंसा न करे। परन्तु ब्रह्महत्या की उत्कटता के कारण उसका उल्लेख किया गया है। अनिष्टसाधन का तात्पर्य अनिष्ट के प्रति कारण होने से है। कारणता दो प्रकार की होती है एक तो फलोपधायकतारूपा तथा दूसरी स्वरूपयोग्यता रूपा। जितने भी निषिद्ध कर्म हैं उन समस्त कर्मों में अनिष्टसाधनता है ही। यदि किसी निषिद्ध कर्म को किया गया है, तथा बाद में उसका प्रायश्चित्त भी कर लिया गया है। उस स्थिति में भी निषिद्ध कर्म में फलोपधायकता न रहने पर भी स्वरूपयोग्यता तो है ही। अतः कृतप्रायश्चित्त निषिद्ध कर्म में भी अनिष्टसाधनता है ही। अनिष्टसाधन शब्द से अनिष्ट की फलोपधायकता रूपा कारणता ही अभिप्रेत हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है।

नित्य कर्मों की विशेषता यह है कि वे नियम से अवश्य करणीय हैं, वे करने पर किसी अतिरिक्त फल को प्रदान नहीं करते, किन्तु न करने पर प्रत्यवाय को अवश्य उत्पन्न करते हैं। जैसे सन्ध्यावन्दन आदि कर्म नित्य कर्म माने जाते हैं, इनको नियम से तीनों कालों में करना होता है। इन कर्मों को करने से कोई पुण्य नहीं होता, कोई स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं होती है। तो सन्ध्यावन्दन आदि कर्म किस लिए करना? क्योंकि यदि सन्ध्यावन्दनादि कर्म न किये गये तो प्रत्यवाय होगा। प्रत्यवायवश नरकादि की प्राप्ति होगी, इस कारण सन्ध्यावन्दनादि कर्म अनुष्ठित करने का प्रयोजन है कि हम प्रत्यवाय के भागीदार न बनें।

नैमित्तिक कर्म वे हैं जिनको किसी निमित्तवश करने का विधान किया गया है। किसी निमित्तविशेष के उपस्थित होने पर जिन कर्मों का आचरण करने का विधान किया गया है, उन कर्मों को नैमित्तिक कर्म कहा जाता है। जैसे पुत्र उत्पन्न होने पर जातेष्टिनामक एक याग का विधान किया गया है। यह जातेष्टि याग नैमित्तिक है क्योंकि पुत्रजन्मरूप निमित्त को लेकर इस याग का विधान किया गया है। इन नैमित्तिक कर्मों की विशेषता यह है कि निमित्तवश इनको करना अनिवार्य है नित्यकर्मों की तरह। काम्य कर्मों की तरह इनको करना या न करना कर्ता की इच्छा पर निर्भर नहीं करता।

नित्य कर्मों की तरह नैमित्तिक कर्मों को भी नियमतया निमित्त के उपस्थित होने पर करना आवश्यक है। न

अथवा[१] यद्यपि नित्यानामकरणस्य न प्रत्यवायहेतुत्वम्, तथापि नित्यकालेऽनुष्ठितक्रियाया एव स्वतन्त्रप्रत्यवायहेतुत्वम्, 'अकुर्वन्' इतिशतृप्रत्ययस्य 'विहितस्याननुष्ठानात्' इतिपञ्चम्याश्चाकरणस्य नियतपूर्ववृत्तित्वे तात्पर्यात्, यथा 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'[२] इतिसूत्रे पञ्चम्याः। मूलेऽपि नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानीत्यनेन नित्याकरणस्य प्रत्यवायनियतपूर्ववृत्तित्वमेवोच्यत इति सर्वमवदातम्।

नैमित्तिकानीति। एतदकरणस्यापि प्रत्यवायज्ञापकत्वं तन्नियतपूर्ववृत्तित्वं वा द्रष्टव्यम्। **पुत्रे**ति। 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते' इति श्रुतेरित्यर्थः।

करने पर ये नैमित्तिक कर्म भी प्रत्यवाय के जनक होते हैं। परन्तु नित्य कर्मों से नैमित्तिक कर्मों की विशिष्टता मात्र इस अंश में है कि नित्य कर्म नियम से करणीय होते हैं परन्तु नैमित्तिक कर्म नियम से करणीय नहीं होते हैं, केवल निमित्त के उपस्थित होने पर अवश्य करणीय होते हैं। विना निमित्त के नैमित्तिक कर्मों को करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। जातेष्टि याग, सूर्य-चन्द्रग्रहण के समय अनुष्ठेय दान आदि नैमित्तिक कर्म माने जाते हैं।

इस प्रसङ्ग में एक समस्या पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। कहा यह गया कि नित्य कर्म न करने पर प्रत्यवाय के जनक होते हैं। तो विचारणीय यह है कि 'नित्य कर्म न करने पर प्रत्यवाय के जनक होते हैं' इस वाक्य का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह है कि अकृत नित्य-कर्म प्रत्यवाय के जनक होते हैं, अथवा इस वाक्य का अर्थ क्या यह है कि नित्य कर्मों का अकरण प्रत्यवाय का जनक होता है। इन दोनों पक्षों में सिद्धान्ततः अन्तर क्या है? प्रथम पक्ष में न किया गया नित्य कर्म प्रत्यवाय का जनक है ऐसा माना जा रहा है। द्वितीय पक्ष में नित्य कर्मों के करण का अभाव प्रत्यवाय का जनक माना जा रहा है। प्रथम पक्ष मानना तो सम्भव नहीं है क्योंकि अकृत नित्य कर्म प्रत्यवाय के जनक नहीं हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि जो नित्य कर्म अभी किया ही नहीं गया है, वह नित्य कर्म अभी है ही नहीं। जो है नहीं वह किस प्रकार से कारण बन सकता है। असत् का तो कारणत्व सम्भव ही नहीं है। यदि कहा जाये कि दूसरा पक्ष मानेंगे अर्थात् नित्य कर्मों का अकरण यानी नित्य कर्मों के आचरण का अभाव प्रत्यवाय का जनक होता है। तो यह भी शक्य नहीं है क्योंकि नित्य कर्मों का अकरण भी नित्यकर्मकरणाभाव रूप होता है। वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार अभाव को कारण नहीं माना जा सकता है। साथ ही साथ इस पक्ष को स्वीकार करने पर ग्रन्थ का विरोध होगा क्योंकि *'अकुर्वन् विहितं कर्म'* इस ग्रन्थ का तात्पर्य सीधा-सीधा तो यही प्रतीत होता है कि अकृत नित्य कर्म प्रत्यवाय का साधन होता है।

इस समस्या का समाधान यह दिया जाता है कि नित्य कर्मों का विधान किया गया है। विधि तभी सम्भव

---

१. अकरणं करणाभावः। प्राभाकरमतेऽभावस्यातिरिक्ता सत्ता नैव स्वीकृतेति नित्यकर्मकाले कृतक्रियारूप एवैषोऽभावः, तस्यैव प्रत्यवायहेतुत्वं भवति।

२. तत्त्वज्ञानाव्यवहितोत्तरकालमेव निःश्रेयसाधिगमो न भवति, किन्तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति, मिथ्याज्ञानापाये च दोषा अपयन्ति, दोषापाये च प्रवृत्तेरपायो भवति, प्रवृत्त्यपाये च जन्मापैति, जन्मापाये च दुःखापाय इतिक्रमेण निःश्रेयसावाप्तिर्भवतीति न्यायसम्प्रदायः। अस्मात् कारणात् न तत्त्वज्ञानस्यापवर्गकारणत्वं सम्भवति किन्तु परम्परया प्रयोजकत्वमेव भवितुमर्हति। अत एव तत्रत्यया पञ्चम्या नियतपूर्ववर्तित्वमात्रं बोधितं भवति।

प्रायश्चित्तानीति। अत्र वदन्ति— न प्रायश्चित्तानां पापक्षयः फलम्, अपुरुषार्थत्वात्। पुरुषार्थो हि सुखं दुःखाभावो वा। न च पापक्षयस्यैतदन्यतरत्वमस्ति। तस्मात्पापक्षयफलत्वे प्रायश्चित्ते प्रवृत्तिरेव न स्यात्,पुरुषार्थानुबन्धाभावात्। किञ्च प्रायश्चित्तस्य पापक्षयफलत्वे नित्यादेः प्रायश्चित्तस्य को विशेषः। तस्माद्दुःखप्रागभावपरिपालनमेव फलम्, पापक्षयस्तु द्वारम्— इति; तन्न,तथा सति अहिकण्टकादिपरिहारे प्रवृत्तिर्न स्यात्। यदि च अहिकण्टकादेर्दुःखहेतुत्वेन द्वेष्यतया तन्निवृत्तौ प्रवृत्तिः, तदा पापस्यापि तद्धेतुत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तिर्युक्तैव, अन्यथा सुखसाधनेऽपि प्रवृत्तिर्न स्यात्। यदि सुखसाधनेऽपि रागात् प्रवृत्तिः, तर्हि दुःखवत् तत्साधनेऽपि द्वेषात् तन्निवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तेऽपि प्रवृत्तिर्युक्तैव।

है यदि कोई भाव्य हो,यदि कोई फल हो। किसी भाव्य फल के विना विधि सम्भव नहीं है। तो नित्य कर्मो का भाव्य फल क्या है? स्वर्गादि तो नित्य कर्मो का फल नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा कहीं पर श्रुत नहीं है। विश्वजिन्न्याय से भी स्वर्ग को नित्य कर्मों का फल नहीं माना जा सकता है। 'विश्वजिता यजेत' विश्वजित् याग करे, ऐसा श्रुति द्वारा विधान प्राप्त होता है। परन्तु इस विधान में किसी फल का श्रवण नहीं है, यह नहीं बताया गया कि विश्वजित् याग किस उद्देश्य से करे। तो स्वर्ग समस्त प्राणियों की अभिलाषा का विषय होने के कारण विश्वजित् याग का फल भी स्वर्ग ही है, ऐसा माना जाता है। इसी को विश्वजिन्न्याय कहते हैं। उसी प्रकार सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मो का अनुष्ठान करने का विधान तो प्राप्त होता है, परन्तु उनका कोई फल कहीं पर श्रुत नहीं है। तो विश्वजिन्न्याय से सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मो का फल भी स्वर्ग ही मान लिया जाये, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सर्वदा सन्ध्यावन्दनादि अनुष्ठान काल में स्वर्गादिकामना रहती नहीं है। स्वर्गादि को यदि सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों का फल माना जाये तो स्वर्गादि की कामना से रहित पुरुष की प्रवृत्ति सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों में नहीं हो सकेगी, तथा इस कारण इनका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं होगा। इस कारण विश्वजिन्न्याय से स्वर्गादि को सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मो का फल नहीं माना जा सकता है।

अकुर्वन् विहितं कर्म का तात्पर्य सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्मों को न करने का फल प्रत्यवाय के प्रागभाव का परिपालन करना है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि जिस किसी भी कार्य का प्रागभाव होता है, उस कार्य की उत्पत्ति निश्चित रूप से होती है। इसलिए यदि प्रत्यवाय का प्रागभाव है, तो प्रत्यवाय की उत्पत्ति होगी ही होगी। इस कारण नित्यकर्मों का अनुष्ठान करने के उपरान्त भी कभी न कभी प्रत्यवाय का उत्पन्न होना आवश्यक व अनिवार्य होगा। यदि नित्यकर्मों का अनुष्ठान करने के उपरान्त भी प्रत्यवाय का उत्पन्न होना आवश्यक है, तब तो नित्यकर्मो का अनुष्ठान करना व्यर्थ ही है। इसी कारण न्यायग्रन्थों में दुःखप्रागभाव के परिपालन को मोक्ष नहीं माना गया है, अपितु दुःखध्वंस को मोक्ष माना गया है। दुःखप्रागभाव के रहने पर कभी न कभी दुःख का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी होगा। दुःखध्वंस तो यदि एक बार उत्पन्न हो गया तो उसके उपरान्त फिर उसका प्रतियोगी दुःख नहीं उत्पन्न हो सकेगा।

इस कारण सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों का भाव्य फल प्रत्यवाय के प्रागभाव का परिपालन नहीं है किन्तु पापक्षय ही है। जानबूझ कर या अनजाने किये गये पापों का क्षय ही सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मो का भाव्य

न च नित्यादिना प्रायश्चित्तस्याभेदः; अनिमित्ते विहितं नित्यम्, यथा— 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यनेन सन्ध्यावन्दनम्। नैमित्तिकञ्च नियतनिमित्ते विहितमपि पापव्यतिरिक्ते निमित्ते विहितम्, यथा—

फल है। जीवन में हम अनेक बार बिना जाने भी अनेक पाप कर जाते हैं। सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों के द्वारा इन्हीं ज्ञाताज्ञात पापों का क्षय कर दिया जाता है। पापक्षय तो अनिष्टनिवृत्तिरूप है इस कारण हमेशा ही ईप्सित है। इस प्रकार नित्य कर्मों के न करने से स्वतन्त्र प्रत्यवाय की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि प्रत्यवाय का उत्पादक कोई कारण नहीं है। अपितु ज्ञाताज्ञात पापों का क्षय नहीं होता है, इसलिए पाप विद्यमान रहता है। नित्य कर्मों का न करना उस पाप का उत्पादक कारण नहीं होता है किन्तु ज्ञापक कारण है। *'अकुर्वन् विहितं कर्म'* के द्वारा नित्य कर्मों का न करना पाप को लक्षित करता है, यही ज्ञात होता है।

यहाँ पर यह अवश्य पूछा जा सकता है कि नित्य कर्मों का न करना पाप का ज्ञापक कारण भी किस प्रकार से बनेगा? जैसे नित्य कर्मों को न करना पाप का उत्पादक कारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार ज्ञापक कारण भी नहीं हो सकेगा। नित्य कर्मों का न करना उत्पादक कारण क्यों नहीं हो सकता है, इस प्रसङ्ग में युक्तियाँ पूर्व में प्रदर्शित हैं। ज्ञापकत्व भी तो ज्ञानजनकत्व ही है, तो जिस प्रकार नित्य कर्मों का न करना अभावस्वरूप होने के कारण पाप का उत्पादक कारण नहीं हो सकता, समान युक्ति से ज्ञान का उत्पादक कारण भी नहीं हो सकेगा। ज्ञान का उत्पादक कारण ही तो ज्ञापक कहा जाता है।

तो इसका समाधान यह है कि ज्ञान का उत्पादक कारण ज्ञापक नहीं कहा जाता, किन्तु जनक ज्ञान का जो विषय होता है वही ज्ञापक कहा जाता है। धूमादि भी वह्नि के ज्ञापक होते हैं तो वह्निज्ञान के जनक नहीं होते किन्तु वह्निज्ञान का जनक जो ज्ञान है, उस ज्ञान के विषय होते हैं। इसी आधार पर धूमादि में वह्निज्ञापकता का व्यवहार होता है। इसका कारण यह है कि धूमादि में वह्निज्ञापकता तब आये, यदि धूमादि वह्निज्ञान के जनक हों, तो जब अतीत धूम से अतीतवह्नि का अनुमान किया जाता है वहाँ अतीतधूम में वह्निज्ञापकता नहीं आ पायेगी। परन्तु ऐसे स्थल में भी धूम में वह्नि की ज्ञापकता स्वीकार की जाती है। इस कारण जनकज्ञानविषयत्व ही ज्ञापकत्व है। अतीतधूम में भी अतीतवह्निज्ञान के जनक व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान का विषयत्व है ही। इस कारण अतीतधूम में भी अतीतवह्निज्ञापकता बन जाती है। इसी प्रकार नित्यकर्मों का अकरण स्वयं में अभावरूप हो तब भी कोई समस्या नहीं है क्योंकि नित्यकर्मों के अकरण का ज्ञान अभावात्मक नहीं होता है, वही पापज्ञान का जनक बन रहा है। इस प्रकार नित्यकर्मों का अकरण प्रत्यवाय का ज्ञापक होता है।

अथवा यहाँ पर द्वितीय विकल्प माना जा सकता है कि नित्यकर्मों का अकरण अभावरूप होने के कारण प्रत्यवाय का जनक नहीं हो सकता, परन्तु नित्यकाल में अनुष्ठित जो क्रिया है, वही क्रिया प्रत्यवाय की उत्पादक बनती है। नित्यकर्म के काल में नित्यकर्म न करते हुए जो अन्य कर्म किये जाते हैं, उन अन्य कर्मों के द्वारा ही प्रत्यवाय का उत्पादन किया जाता है। नित्य कर्म के काल में अनुष्ठित अन्य कर्म तो भावरूप हैं अभावरूप नहीं इसकारण उनको प्रत्यवाय का जनक मानने में कोई असुविधा नहीं है। *'अकुर्वन् विहितं कर्म'* व *'विहितस्याननुष्ठानात्'*

पुत्रजन्मादिनिमित्तं जातेष्ट्यादि। प्रायश्चित्तं तु पापे निमित्ते विहितम्, यथा—'परस्त्रीकामः प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इत्यादि। एवञ्च नैतेषामभेदः।

यत्तु— दुःखाभावपरिपालनं फलमिति; तन्न, तथा सति प्रायश्चित्तानन्तरं दुःखोत्पत्तिप्रसङ्गात्, प्रागभाववतः कार्यस्योत्पत्तिनियमात्, विजातीयप्रागभावकल्पने मानाभावात्। तस्माद्युक्तमुक्तं प्रायश्चित्तानां पापक्षयसाधनत्वम्।

के द्वारा अकरण का प्रत्यवाय के प्रति पूर्ववृत्तित्वमात्र बताया जा रहा है। जैसे *'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'* इस स्थल में तत्त्वज्ञानपदोत्तर हेत्वर्थक पञ्चमी के द्वारा तत्त्वज्ञान की निःश्रेयसकारणता नहीं बतायी जा रही है किन्तु प्रयोजकता बतायी जा रही है क्योंकि तत्त्वज्ञान के ठीक बाद में निःश्रेयस तो होता ही नहीं है, यदि तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण होता तो तत्त्वज्ञान के उपरान्त शीघ्र ही निःश्रेयस होना चाहिए था। समान रीति से यहाँ पर भी मूल में जो वाक्य आया है कि *'नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि'* नित्य कर्म न करने पर प्रत्यवाय के साधन बनते हैं, इसका तात्पर्य भी इसी में है कि नित्य कर्मों को न करने से प्रत्यवाय उत्पन्न होता है, परन्तु इसका तात्पर्य इसमें नहीं है कि वह प्रत्यवाय नित्यकर्मों के अकरण से जन्य होता है।

जिस प्रकार नित्य कर्मो का अकरण प्रत्यवाय का ज्ञापक होता है अथवा प्रत्यवायोत्पत्ति के प्रति नियतपूर्ववर्ती होता है, उसी प्रकार नैमित्तिक कर्मों का अकरण भी प्रत्यवाय का ज्ञापक होता है अथवा प्रत्यवायोत्पत्ति के प्रति नियतपूर्ववर्ती होता है।

प्रायश्चित्त पापक्षय के साधन होते हैं, ऐसा कहा गया। परन्तु सवाल यह है कि प्रायश्चित्त का फल यदि पापक्षय होता भी है तो उससे क्या अन्तर पड़ता है क्योंकि पापक्षय तो कोई पुरुषार्थ है नहीं। पुरुषार्थ दो ही प्रकार के हो सकते हैं या तो सुखप्राप्ति या तो दुःखपरिहार। पापक्षय न तो स्वयं सुखरूप है और न तो दुःखाभावरूप है। इस कारण यदि प्रायश्चित्त का फल पापक्षय है तो पुरुषार्थानुबन्ध न होने के कारण उसमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। दूसरी समस्या यह है कि नित्यकर्मों का प्रयोजन भी पापक्षय है ऐसा बताया गया। प्रायश्चित्त का फल भी यदि पापक्षय होता है तो नित्यकर्मो व प्रायश्चित्त में क्या भेद होगा? नित्यकर्मों की अपेक्षा प्रायश्चित्त में कुछ विलक्षणता तो होनी चाहिए।

इस पर एक पक्ष यह कहता है कि प्रायश्चित्त का फल दुःखप्रागभाव का परिपालन करना है। पापक्षय तो प्रायश्चित्त का व्यापार है। जैसे प्राचीनों के मत में मङ्गलाचरण का फल तो ग्रन्थसमाप्ति है विघ्नध्वंस तो व्यापार है। उसी प्रकार प्रायश्चित्त का फल दुःखप्रागभावपरिपालन है। परन्तु दुखप्रागभाव का परिपालन तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक कि पापक्षय न हो। इस कारण दुःखप्रागभावपरिपालन के क्रम में प्रायश्चित्त का व्यापार बनता है पापक्षय।

परन्तु यह पक्ष युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि सर्प,कण्टक आदि का परिहार करने में भी व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, परन्तु सर्प,कण्टक आदि का परिहार पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि वह न तो स्वयं सुखरूप है और न तो दुःखाभावात्मक ही। यदि कहो कि सर्प,कण्टक आदि दुःख का साधन होते हैं। इस कारण दुःख के समान वे भी

यच्च 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति, तदकृतप्रायश्चित्तप्रारब्धविषयम्। अकृतप्रायश्चित्तस्यापि सञ्चितकर्मणो ज्ञानेन नाशात्, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्युक्तेरिति द्रष्टव्यम्।

सगुणेति। निर्गुणविषयनिदिध्यासनं तत्त्वज्ञानायैवोपयुज्यत इति भावः। एतच्चोपलक्षणम्, सगुणब्रह्मा-तिरिक्तविषयकाणामप्युपासनानां दर्शनात्। **मानसव्यापारेति।** मानसक्रियारूपाणीत्यर्थः। न तु ज्ञान-

द्वेष्य होते हैं। अतः उनका परिहार करने में प्रवृत्ति हो जाती है। तो पाप भी दुःख का साधन होता है, इस कारण पापपरिहारार्थ प्रायश्चित्त में भी प्रवृत्ति सम्भव है। यदि आपकी युक्ति को स्वीकार किया जाये कि या तो सुखप्राप्ति के लिए या तो दुःखपरिहार के लिए ही प्रवृत्ति होती है, तब तो सुखसाधन में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि सुखसाधन भी न तो स्वयं सुखरूप है और न तो दुःखाभावरूप ही। यदि सुख के समान सुखसाधन में भी रागवश प्रवृत्ति सम्भव है तो दुःख के समान दुःखसाधन से भी द्वेष होने के कारण जिस प्रकार दुःखनिवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार दुःखसाधननिवृत्ति के लिए भी प्रवृत्ति हो सकती है। यद्यपि नित्यकर्मों का प्रयोजन भी पापक्षय है तथा प्रायश्चित्त का फल भी पापक्षय है। परन्तु नित्य कर्मों व प्रायश्चित्त में विलक्षणता यह है कि विना किसी निमित्त के नित्य कर्मों को करने का विधान है, परन्तु प्रायश्चित्त का विधान नियत निमित्त रहने पर ही करने का किया गया है। यद्यपि नैमित्तिक कर्म निमित्त के रहने पर ही किये जाते हैं, साथ ही साथ नित्य कर्मों को न करने पर जिस प्रकार प्रत्यवाय होता है, उसी प्रकार नैमित्तिक कर्मों को न करने पर भी प्रत्यवाय होता है। परन्तु पाप से अतिरिक्त निमित्त रहने पर नैमित्तिक कर्म को करने का विधान है, प्रायश्चित्त का विधान तो पापरूपी निमित्त के रहने पर ही करने का है जैसे *'परस्त्रीकामः प्रायश्चित्तं कुर्यात्'* परस्त्री की कामना करनेवाला प्रायश्चित्त करे। इस कारण न तो प्रायश्चित्त का नित्य कर्मों के साथ और न तो नैमित्तिक कर्मों के साथ ही अभेद होता है।

यह कहना कि प्रायश्चित्त का फल दुःखप्रागभाव का परिपालन करना है, तो यह नितान्त ग़लत है क्योंकि यदि प्रायश्चित्त के द्वारा दुःख-प्रागभाव का परिपालन किया जा रहा है, तब तो प्रायश्चित्त करने के बाद भी दुःख की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आयेगा, क्योंकि नियम है कि जिस वस्तु का प्रागभाव है, उस वस्तु की उत्पत्ति अवश्य होती है। यदि ऐसा कहें कि विजातीय ही प्रागभाव है जिसका प्रायश्चित्त के द्वारा परिपालन किया जाता है। उस प्रागभाव की विजातीयता यही है कि इस परिपालित प्रागभाव के प्रतियोगी दुःख की उत्पत्ति कभी भी नहीं होती। तो इस तरह के विजातीय प्रागभाव को—जिसका प्रतियोगी दुःख कभी उत्पन्न नहीं होता है उसे—स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि जो अभाव कभी नष्ट होता हो अर्थात् जिसका प्रतियोगी कभी उत्पन्न होता हो, वही अभाव तो प्रागभाव कहलाता है। इस कारण यही मानना युक्तिसङ्गत है कि प्रायश्चित्त के द्वारा पाप का क्षय हो जाता है।

जो यह कहा जाता है कि *'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'* विना भोग किये कर्म का क्षय करोड़ों कल्पों में भी नहीं होता है, वह जिस प्रारब्ध कर्म का प्रायश्चित्त नहीं किया गया है, उसके बारे में कहा गया है। विना भोग किये भी सञ्चित कर्मों का विनाश ज्ञान के द्वारा होता है, उसी प्रकार विना भोग किये भी प्रायश्चित्त के द्वारा कर्म का विनाश होने में कोई असुविधा नहीं है।

एतेषां नित्यानां बुद्धिशुद्धिः परमं प्रयोजनम्, 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः, 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादिस्मृतेश्च।

रूपाणीत्यर्थः, उपासनानां ज्ञानत्वे विधेयत्वानुपपत्तेः, प्रमाणवस्तुपरतन्त्रस्य ज्ञानस्य सिद्धान्ते विधेयत्वाभावात्। तदुक्तं टीकायाम्— 'इच्छातोऽनुष्ठेयत्वान्मानसी क्रियैषा न ज्ञानम्'[1] इति। अत एव 'द्रष्टव्यः' इति दर्शनमनूद्येत्युक्तं विवरणे[2]। शाण्डिल्यऋषिणोक्ता शाण्डिल्यविद्या। **आदि**शब्देन दहरादिविद्या ग्राह्या।

एवं नित्यादीनां स्वरूपमुक्त्वा **निर्गतनिखिलकल्मषतये**त्येतद्व्याचष्टे— **एतेषामिति**। **परममिति**। आवश्यकमित्यर्थः। न तु मुख्यमित्यर्थः; 'विविदिषन्ति' इति श्रुत्युपन्यासानुपपत्तेः। तत्र हि विविदिषादेरेव मुख्यत्वात्, चित्तशुद्धेस्तु द्वारत्वात्। कथं नित्यादिषु चित्तशुद्धेरावश्यकत्वमिति चेत्?

शृणु—नित्यादीनां हि प्रकारत्रयेणानुष्ठानम्। एकं वेदनोद्देशेन, अन्यत् संस्कारार्थत्वेन, अपरमीश्वरार्पण-बुद्ध्या। तत्र तावत् खादिरतावत् तत्तत्फलार्थं विहितानामपि यज्ञादीनां संयोगपृथक्त्वन्यायेन वेदनोद्देशेन

उपासना निर्गुण ब्रह्म की भी की जा सकती है, सगुण ब्रह्म की भी। परन्तु निर्गुण ब्रह्म की उपासना निदिध्यासनात्मिका होती है तथा तत्त्वज्ञान के लिए साक्षात् उपयुक्त होती है। सगुण ब्रह्म की उपासना तथा अन्य भी उपासनाएँ वेदान्तविद्या की अधिकारिता प्राप्त कराने के लिए आवश्यक चित्तशुद्धि के लिए उपयुक्त होती हैं। उपासनाएँ मानसक्रिया रूप हैं, ज्ञानरूप नहीं। क्योंकि यदि उपासना ज्ञानरूप होगी तो वह विधेय नहीं हो सकेगी। अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार ज्ञान प्रमाणतन्त्र तथा वस्तुतन्त्र होता है, तथा इसी कारण विधेय नहीं होता। उपासना यदि ज्ञानरूप होगी तो विधेय नहीं हो सकेगी। ज्ञान में इच्छा की कोई भूमिका नहीं हो सकती। भगवत्पाद आचार्य शङ्कर बार-बार कहते हैं कि ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है। ज्ञान क्रिया नहीं है, क्रिया में तो विधान किया जा सकता है परन्तु ज्ञान में कोई भी विधान सम्भव नहीं। सगुण व निर्गुण ब्रह्म की उपासना के दोनों ही प्रकार के विधान उपलब्ध होते हैं। उपासना की विधिरूपता तभी सम्भव है, यदि उपासना क्रियारूप हो। अतः ध्यान व उपासना मानसी क्रिया हैं। ये उपासनाएँ शाण्डिल्यविद्या आदि के भेद से विभिन्न प्रकार की हैं। शाण्डिल्य ऋषि के द्वारा प्रोक्त यह उपासना है, इसी कारण इसे शाण्डिल्यविद्या इस नाम से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त दहर आदि विद्याएँ भी हैं।

नित्य कर्म आदि का फल क्या है? नित्य कर्मादि का सम्पादन क्यों आवश्यक है? तो इसका फल बताना प्रारम्भ करते हैं—

इनमें से नित्यादि कर्मों का परम प्रयोजन (आवश्यक प्रयोजन) बुद्धि की शुद्धि (चित्त को निर्मल करना) है क्योंकि 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' उस इस आत्मा को वेदों के अनुवचन के द्वारा तथा यज्ञ के द्वारा ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं, तथा अन्य श्रुति भी है कि 'तपसा कल्मषं हन्ति' तपस्या के द्वारा कल्मष को नष्ट करता है।

१.पञ्चपादिका पृ. ११५, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी

२.अमृतत्वसाधनमात्मदर्शनं द्रष्टव्य इत्यनूद्य तादर्थ्येन मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नामाङ्गि विधीयत इति। पृ. १८, पञ्चपादिकाविवरण, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी

उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम्। नित्यनैमित्तिकयोरुपासनानां चावान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः, 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इत्यादिश्रुतेः।

विहितत्वादनुष्ठानम्। तदा त्वावश्यिकी पापक्षयरूपा चित्तशुद्धिः, यावत्पापं वेदनानुपपत्तेः, तस्या यज्ञादिभिर्वेदनजनने द्वारत्वात्।

एवञ्च वेदनोद्देशेन यज्ञाद्यनुष्ठानेऽप्यवश्यं चित्तशुद्धिर्भवतीत्येतदभिप्रेत्याह—**विविदिषन्तीति**।

यदापि न वेदनोद्देशेनानुष्ठानं किन्तु नित्यत्वात्, तदा त्वावश्यिकः पापक्षयः, नित्यविधीनां भाव्यान्तराभावाच्छ्रुतत्वाच्च इत्यभिप्रेत्याह—**तपसेति**।

उपासनाओं का फल तो चित्त की एकाग्रता है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का तथा उपासना का अवान्तरफल पितृलोक व सत्यलोक की प्राप्ति है क्योंकि श्रुति प्राप्त होती है 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है तथा विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है।

नित्य आदि कर्मों को करने का आवश्यक फल है कि चित्त को शुद्ध करना। मूल में आये हुए परम शब्द का अर्थ यहाँ पर मुख्य नहीं है, केवल चित्त के शुद्ध हो जाने मात्र से किसी पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होनी है। अपितु चित्तशुद्धि हो जाने से विवदिषा उत्पन्न होगी। विविदिषा उत्पन्न हो जाने पर ब्रह्म को जान लेना सरल हो जाता है। ब्रह्म को जानने के लिए वस्तुतः तो विविदिषा ही प्रधान है। चित्तशुद्धि तो व्यापार है। जिस प्रकार जब तक दर्पण से धूल नहीं हटती है, तब तक दर्पण साफ़ नहीं होता है। विना धूल हटे दर्पण का शुद्ध होना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार विना राग-द्वेषादि मलों के दूर हुए चित्त का शुद्ध होना भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः तो दर्पण से धूल का हटना व दर्पण की शुद्धि एक ही वस्तु है, उसी प्रकार से चित्त के मलों का हटना तथा चित्तशुद्धि दोनों ही एक ही बात है। इस प्रकार वेदाध्ययन, यज्ञ तथा तपस्या के द्वारा चित्त की शुद्धि ही की जाती है।

किस प्रकार नित्यादि कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि सम्भव है? इस विषय में कुछ अन्य भी ध्येय बिन्दु हैं। नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान तीन प्रकार से किया जा सकता है— एक तो ज्ञान के उद्देश्य से, दूसरा संस्कार के लिए तथा तीसरा ईश्वरार्पणबुद्धि से।

जब नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान वेदनार्थ किया जाता है तो चित्तशुद्धि आवश्यकतया हो जाती है क्योंकि विना चित्तशुद्धि के आत्मवेदन सम्भव ही नहीं होता। यज्ञादि जो कर्म किये जाते हैं उनका फल तो वेदन ही है। यज्ञादि तो वेदनार्थ (आत्मा को जानने के लिए ही) विहित हैं। तो उसमें पाप का क्षय आवश्यक है क्योंकि जब तक पाप हैं, तब तक तो आत्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतः यज्ञादि के द्वारा आत्मवेदनेच्छा उत्पन्न करने के लिए पापक्षयरूपा चित्तशुद्धि आवश्यक है। इसी कारण विविदिषा के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान करने पर भी चित्तशुद्धि आवश्यकतया होगी ही क्योंकि पापक्षयात्मिका चित्तशुद्धि विविदिषा में व्यापार है।

जब आत्मवेदन के उद्देश्य से अनुष्ठान नहीं किया जाता, किन्तु नित्य होने के कारण अनुष्ठान किया जाता है, संस्कारार्थ अनुष्ठान किया जा रहा है, तब पाप का क्षय आवश्यक है क्योंकि नित्य कर्मों का तो कोई दूसरा भाव्य

यदापि 'यत्करोषि' इत्यादिवचनादीश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठानम्, तदा त्वीश्वरप्रसादः फलम्। स च नाशुद्धचित्तानामिति चित्तशुद्धिरावश्यकी। एतदभिप्रेत्य चकारप्रयोगः। तदेवं सुष्ठूक्तं नित्यादिषु चित्तशुद्धेरावश्यिकत्वम्। उपासनानामिति। अनुगतमिति शेषः। तत्तत्फलार्थं विहितोपासनामात्रेण चित्तैकाग्र्यस्य जननात्।

यत्तु मुख्यमिति शेष इति; तन्न, देवलोकाद्यर्थत्वेन विहिते कर्मणि द्वारीभूतस्य चित्तैकाग्र्यस्य मुख्यत्वाभावात्। यद्धि यदुद्देशेन विहितम्, तत्तस्य मुख्यं फलम्; अन्यथा स्वर्गाद्युद्देशेन विहितस्य यागादेरपूर्वेण मुख्यफलत्वापत्तेः। न च चित्तैकाग्र्योद्देशेनोपासनानि विहितानि सन्ति, येन तस्य मुख्यत्वं स्यात्। तस्मादुपासनानां

फल है ही नहीं। जो फल है वही फल उत्पन्न होगा। तो फल है पापक्षय, वही उत्पन्न होगा। पापक्षय ही तो चित्तशुद्धि है। यही बात 'तपस्या के द्वारा कल्मष को दूर करता है' इस स्मृति के द्वारा कही गयी है।

ईश्वरार्पणबुद्धि से भी अनुष्ठान किया जाता है क्योंकि स्मृतियों में ईश्वरार्पणबुद्धि से अनुष्ठान करने के लिए उपदेश प्राप्त होते हैं। जैसे गीता में कहा गया है— *'यत्करोषि यदश्नासि...तत्कुरुष्व मदर्पणम्'* जो कुछ भी करो जो कुछ भी भोग करो सब मुझे अर्पित करो, ऐसा गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। तो ईश्वरार्पणबुद्धि से किये गये कर्मानुष्ठान का फल ईश्वर-प्रसाद (ईश्वर की प्रसन्नता) होता है। वह ईश्वरप्रसाद ऐसे व्यक्तियों को नहीं प्राप्त हो सकता है जिनका चित्त अशुद्ध है। जब तक चित्त निर्मल नहीं होगा, तब तक ईश्वर की कृपा भी नहीं प्राप्त होती। *ईश्वर उसी पर कृपा करते हैं जिनका चित्त निर्मल होता है। इसी कारण पुराण आदि में दीर्घ काल तक तपस्या करने* की कथाएँ प्राप्त होती हैं। दीर्घकाल तक की गयी तपस्या से चित्त निर्मल हो जाता है, तथा ईश्वर की कृपा, ईश्वर का प्रसाद प्राप्त हो जाता है। इस कारण ईश्वरार्पणबुद्धि से किये गये कर्मानुष्ठानपक्ष में भी चित्त की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह नित्य कर्मों का अनुष्ठान चाहे जिस प्रकार से किया जाये— आत्मवेदन के उद्देश्य से, संस्कार के उद्देश्य से अथवा ईश्वरार्पणबुद्धि से, सर्वथा नित्यादि कर्मों के द्वारा पापक्षय होगा, चित्तशुद्धि होगी।

उपासनाएँ विभिन्न फलों की कामना से की जाती हैं। उपासनाओं से उन-उन फलों की प्राप्ति तो होती ही है। परन्तु साथ ही साथ समस्त उपासनाओं का अनुगत फल चित्त की एकाग्रता भी प्राप्त होती है। उन-उन फलों के लिए विहित उपासनाओं से आनुषङ्गिक रूप से चित्त की एकाग्रतारूप फल की प्राप्ति होती है। चित्त की एकाग्रता उन-उन उपासनाओं का मुख्य फल नहीं है। यदि कोई यह कहे कि तत्तत्फलों की कामना से की जानेवाली भिन्न-भिन्न उपासनाओं का प्रमुख फल चित्त की एकाग्रता है, तो यह मानना समुचित नहीं है क्योंकि *देवलोकावाप्ति इत्यादि तत्तत्फलों की कामना से की गयी उपासना का मुख्य फल तो देवलोकावाप्ति इत्यादि तत्तत्फल ही हो सकते हैं। जो जिस उद्देश्य से विहित होता है वही उस कर्म का प्रमुख फल होता है।* यदि इस नियम को न मानें तो स्वर्गादि के उद्देश्य से विहित यज्ञादि का मुख्य फल अपूर्व होने लगेगा। मीमांसकों का सिद्धान्त है कि यज्ञादि कर्म करने पर यज्ञादि कर्म तो आशुविनाशी हैं तो किस प्रकार से वे फल प्रदान कर सकेंगे? इस कारण उनका पक्ष है कि यज्ञादि के द्वारा अपूर्व उत्पन्न होता है, वह अपूर्व यज्ञादि के फल स्वर्गादि को प्राप्त कराता है। विना अपूर्व के स्वर्गादि प्राप्त नहीं हो सकते हैं। परन्तु अपूर्व यज्ञादि कर्म का मुख्य फल नहीं है स्वर्गादि जनन के

चित्तैकाग्र्यं न मुख्यं फलम्, किन्त्वनुगतम्। देवलोकादिप्राप्तिश्च मुख्या। एवञ्च नित्यनैमित्तिकयोरुपासनानां च अवान्तरफलमित्यत्र मुख्यफलमित्यपि द्रष्टव्यम्।

'विविदिषन्ति' इत्यत्र वेदनोद्देशेन यज्ञादीनि विधीयन्ते, वेदनस्येच्छासम्बन्धित्वेन प्रतीयमानत्वात्। यथा 'अश्वेन जिगमिषति' इत्यत्राश्वस्येच्छाविषयीभूतगमनार्थत्वम्, न तु जिगमिषार्थत्वम्। अत एव 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इति सूत्रेऽश्वदृष्टान्तः। विविदिषोद्देशेन च यज्ञादिविधाने विविदिषायाः कामसम्बन्ध-कल्पनापत्तेश्च। ततश्च वेदनार्थत्वमेव यज्ञादीनाम्।

ननु न वेदनार्थत्वं यज्ञादीनाम्, तथा सति ज्ञानसामान्यसामग्र्यतिरिक्तयज्ञादिसाध्यत्वे वेदनस्य स्वतस्त्वव्याघातः।

लिए व्यापारमात्र है। उसी प्रकार यहाँ पर उपासना का मुख्यफल तत्तल्लोकों की प्राप्ति है। चित्त की एकाग्रता तो व्यापारमात्र है। चूंकि उपासना चित्त की एकाग्रता के विना नहीं हो सकती है इस कारण चित्त की एकाग्रता अनुगत रूप से आ रही है, वह तो व्यापार ही हो सकती है मुख्य फल नहीं। ऐसा तो है नहीं कि चित्त की एकाग्रता के उद्देश्य से उपासनाओं का विधान किया गया हो। यदि ऐसा होता तो चित्त की एकाग्रता को उपासना का फल माना जा सकता था। चूँकि देवलोकादि की प्राप्ति के लिए ही उपासना का विधान किया गया है, इस कारण देवलोकादिप्राप्ति ही उपासना के फल हो सकते हैं। इस प्रकार नित्यादि कर्मों का मुख्य फल आत्मज्ञान ही है क्योंकि आत्मज्ञान के उद्देश्य से ही यज्ञादि का विधान है।

मूलकार के—*'नित्य-नैमित्तिक कर्मों का तथा उपासना का अवान्तरफल पितृलोक व सत्यलोक की प्राप्ति है'*—इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि पितृलोक व सत्यलोक की प्राप्ति वस्तुतः नित्यनैमित्तिक कर्मों व उपासना का अवान्तर फल है। बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि पितृलोक व सत्यलोक की प्राप्ति नित्यनैमित्तिक कर्मों व उपासना का अवान्तरफल व मुख्य फल है क्योंकि उपासना का विधान तो प्रमुखतया देवलोकादि प्राप्ति के उद्देश्य से ही किया गया है। उपासना का मुख्य फल तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अवान्तरफल पितृलोक सत्यलोकादि की प्राप्ति है।

यहाँ पर एक अन्य प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या यज्ञादि विविदिषा के लिए होते हैं या आत्मवेदनार्थ? सिद्धान्त है कि यज्ञादि आत्मवेदनार्थ हैं। श्रुति प्राप्त होती है *'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'*। इस श्रुति के आधार पर पता चलता है कि यज्ञादि का उद्देश्य आत्मवेदन है। जैसे जब 'अश्वेन जिगमिषति' अश्व से जाना चाहता है, ऐसा प्रयोग किया जाता है, तो इच्छा का विषय जो गमन है तदर्थता अश्व की बोधित होती है। अश्व की इच्छार्थकता नहीं होती है। उसी प्रकार यज्ञादि का उद्देश्य विविदिषा प्राप्त करने के लिए नहीं है अपितु आत्मवेदन के लिए है। इसी कारण *'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'* (ब्रह्मसूत्र ३/४/२६) इस सूत्र में अश्व का दृष्टान्त दिया गया है। यदि विविदिषा के लिए यज्ञादि का विधान माना जाये तो विविदिषा में कामना के सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी क्योंकि विविदिषा अपने आपमें कोई फल नहीं हो सकती। आत्मवेदनार्थ यज्ञादि का विधान मानने पर तो कोई असुविधा नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान तो स्वयमेव समस्त अनर्थ का निवर्तक होने के कारण फलरूप होता है।

न च प्रमायाः सामान्यसामग्र्यतिरिक्तगुणजन्यत्वेन स्वतस्त्वव्याघात इष्ट एवेति वाच्यम्? गुणजन्यत्वे मानाभावात्।

न च प्रमायाः सामान्यसामग्रीजन्यत्वे भ्रमत्वापत्तिरिति वाच्यम्? दोषाभावेन तदनुपपत्तेः। भ्रमस्य दोषजन्यत्वं ह्युभयवादिसिद्धम्, तदभावे सति सामान्यसामग्र्यैव प्रमोत्पत्तिसम्भवेऽतिरिक्तगुणजन्यत्वे गौरवात्। गुणस्तु नोभयवादिसिद्धः। न च दोषाभावे सति सत्यां च ज्ञानसामान्यसामग्र्यां गुणाभावेन कार्याभावो दृश्यते।

न च दोषाभाव एव गुण इति वाच्यम्? तदतिरिक्तगुणाङ्गीकारात्। तस्य गुणत्वे वा न स्वतस्त्वव्याघातः, दोषाभावस्य तुच्छत्वेन सिद्धान्ते तस्य कारणत्वाभावात्। तदुपलक्षितायाः सामान्यसामग्र्या भावरूपाया एव प्रमोत्पादकत्वाभ्युपगमात्। तस्मात् प्रमाया ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वात् स्वतस्त्वमस्त्येव। तच्च यज्ञादिजन्यत्वे विरुद्धमिति।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि यज्ञादि आत्मज्ञानार्थ नहीं होते क्योंकि यदि यज्ञादि को आत्मज्ञानार्थ माना जाये तो आत्मज्ञान ज्ञानसामान्यसामग्री से अतिरिक्त सामग्री से साध्य होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा मानने में मुश्किल यह है कि आत्मज्ञान के स्वतस्त्व की हानि होगी। प्रमा व प्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व 'ज्ञानसामान्यसामग्री से अतिरिक्त सामग्री से असाध्य होना' ही है। इस कारण यज्ञादि को आत्मज्ञानार्थ माना जाये तो आत्मज्ञान ज्ञानसामान्यसामग्री से अतिरिक्त यज्ञादिरूप सामग्री से साध्य होने के कारण आत्मविषयक प्रमा का परतस्त्व हो जायेगा। वेदान्ती प्रमा को नैयायिकों की तरह ज्ञानसामान्यसामग्री से अतिरिक्त गुण आदि सामग्री से साध्य नहीं मानते। न्यायमत इसी कारण प्रामाण्य का परतस्त्ववादी मत है। प्रमा ज्ञानसामान्यसामग्री से ही जन्य होती है, तथा दोष से अघटित ही ज्ञानसामान्यसामग्री होती है, इस कारण प्रमा भ्रमात्मक ज्ञान नहीं है। अप्रमा को दोषजन्य नैयायिक भी मानते हैं तथा वेदान्ती भी। तो दोष न रहने मात्र से ही प्रमात्मक ज्ञान ज्ञानसामान्यसामग्री के द्वारा ही उत्पन्न हो जायेगा। अतिरिक्त गुण को प्रमा के प्रति कारण मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

यद्यपि गुण या दोष दोनों ही अनुगत नहीं हैं, इस कारण जहाँ पर ज्ञान की सामान्य सामग्री मात्र से प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न हो रहा है, उन स्थलों में भी यह कहा जा सकता है कि दोषाभावरूप गुण वहाँ पर विद्यमान है। नैयायिक दोषाभाव को भी गुण में गिनते ही हैं। दोषाभाव ज्ञानसामान्यसामग्री में अन्तर्भूत नहीं होता है। तथापि दोषाभाव प्रथमतः तो गुण नहीं है। द्वितीयतः यदि वह गुण हो भी तो दोषाभाव अभाव होने के कारण अत्यन्त तुच्छ है, इसलिए वह कारण नहीं हो सकता। अपितु दोषाभाव से उपलक्षित जो सामान्यसामग्री भावरूपा है वही प्रमा की उत्पादिका होती है। इस कारण प्रमा में ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्व स्वीकार किया जाता है। प्रमा को ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्र से जन्य होना चाहिए, प्रमा का ज्ञानसामान्यसामग्री से अतिरिक्त सामग्री से असाध्य होना आवश्यक है। यदि यज्ञादि की उपयोगिता आत्मज्ञानार्थ मानी जाये तो निश्चय ही आत्मज्ञानार्थ ज्ञानसामान्यसामग्री से अतिरिक्त यज्ञादिरूप सामग्री की आवश्यकता होगी। इस कारण प्रमा के स्वतस्त्व का सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा।

मैवम्; न हि स्वतस्त्वाङ्गीकारः क्रतुधर्मायातः, किन्तु ज्ञानसामान्यसामग्र्यतिरिक्तगुणजन्यत्वे मानाभावः। यज्ञादिजन्यत्वं च वचनसिद्धमिति तदङ्गीक्रियत एव। एवञ्च ज्ञानसामान्यसामग्री वचनसिद्धयज्ञादि, तदतिरिक्ताजन्यत्वमेव स्वतस्त्वम्।

वस्तुतस्तु— यज्ञादीनां वेदनप्रतिबन्धनिवृत्तौ हेतुत्वं श्रवणादीनामिवासम्भावनादिनिवृत्तौ। वेदनं तु प्रतिबन्धकाभावोपलक्षितज्ञानसामान्यसामग्र्यैव इति न स्वतस्त्वव्याघात इति साम्प्रदायिकाः। ततश्च युक्तं वेदनोद्देशेन कर्मणामनुष्ठानम्।

नन्वेकोद्देशेनानेकविधाने वाक्यभेदान्न वेदनोद्देशेन यज्ञाद्यनेकं विधातुं शक्यमिति चेत्? तर्हि, *विविदिषोद्देशेनापि तद्विधानं न स्याद्दोषस्य समत्वात्। तथापि कः प्रतीकार इति चेत्? शृणु— अत्र यज्ञादिपदैः* विहितं कर्मसामान्यं लक्ष्यते 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यत्र जातपुत्रकृष्णकेशपदाभ्यामिवा-

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से दिया जाता है कि प्रमा का स्वतस्त्व इस कारण स्वीकार किया जाता है क्योंकि प्रमा का परतस्त्व स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रमा को ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रप्रयोज्य न मानकर ज्ञानसामान्यसामग्री से अतिरिक्त गुण से प्रयोज्य मानने में कोई प्रमाण नहीं है, इसी कारण प्रमा को स्वतः माना जाता है। अब यदि आत्मविषयक प्रमा का यज्ञादिजन्यत्व वचन से सिद्ध हो रहा है तो उसको स्वीकार करना ही चाहिए। इस प्रकार वचन से सिद्ध यज्ञादि भी ज्ञानसामान्यसामग्री के अन्तर्गत ही आते हैं। यदि उससे अतिरिक्त सामग्री से प्रमा को जन्य माना जाये तभी प्रमा के स्वतस्त्व की हानि होगी। इस प्रकार यज्ञादि को वेदनार्थ मान कर आत्मविषयक प्रमा को यज्ञादिजन्य मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

सिद्धान्तपक्षीय समाधान यह है कि यज्ञादि के द्वारा आत्मज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु आत्मज्ञान की प्रक्रिया में जो प्रतिबन्ध होते हैं उन प्रतिबन्धों की निवृत्ति में यज्ञादि का उपयोग हुआ करता है। यह ठीक उसी प्रकार से होता है, जैसे श्रवण, मननादि का उपयोग वेदान्तों से बोधित अर्थविषयक असम्भावना की निवृत्ति में होता है। आत्मज्ञान तो प्रतिबन्धकाभाव से उपलक्षित ज्ञानसामान्यसामग्री के द्वारा ही उत्पन्न होता है। इस कारण आत्मविषयिणी प्रमा के स्वतस्त्व की हानि नहीं होती है। इस कारण आत्मज्ञान के उद्देश्य से यज्ञादि का अनुष्ठान युक्तिसङ्गत है।

इसमें एक अन्य प्रश्न यह है कि यदि एक के उद्देश्य से अनेक का विधान किया जाये तो वाक्यभेद होगा। जिस श्रुतिवाक्य के आधार पर यज्ञादि का आत्मज्ञानार्थ उपयोग स्वीकार किया जा रहा है, उस वाक्य में तो अनेक का विधान किया गया है। जैसे कि उस श्रुति में आता है *'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'* इस वाक्य में जैसा श्रवण हो रहा है उसके अनुसार विवदिषाविषय वेदन के लिए वेदानुवचन व यज्ञ का विधान प्राप्त हो रहा है। वेदनरूप एक उद्देश्य से वेदानुवचन व यज्ञ इन दो का विधान किया जा रहा है। मीमांसा का सिद्धान्त है कि विधेय का भेद होने पर वाक्य का भेद हो जाता है क्योंकि एक वाक्य से एक विधान ही हो सकता है, अनेक नहीं। इस कारण आत्मवेदनार्थ वेदानुवचन व यज्ञ इन दो का विधान नहीं किया जा सकता है। तो विविदिषा (आत्मा को जानने की इच्छा) के लिए भी एक ही वाक्य से द्विविध विधान सम्भव नहीं हैं। इस कारण

वस्थाविशेषः। तच्च कर्मसामान्यं वेदनोद्देशेन विधीयत इति न वाक्यभेद इत्यस्मद्गुरवः। तस्माद्युक्तमुक्तं वेदनोद्देशेन यज्ञादीनि विधीयन्त इति।

कर्मणेति। ननु नित्यविधिषु फलाश्रवणात् हिरण्यधारणन्यायेन एतदर्थवादसिद्धा पितृलोकप्राप्तिर्मुख्यमेव फलं किं न स्यादिति चेत्? न, पितृलोकप्राप्तेः सर्वदा सर्वेषामनभीप्सितत्वेन कदाचिदननुष्ठानप्रसङ्गात्। पापक्षयस्तु सर्वदा आस्तिकानामभीप्सित इति तस्य युक्तं फलत्वम्। हिरण्यधारणं तु न नित्यमिति युक्तं तस्यार्थवादिकी भ्रातृव्यदुर्वर्णता फलम्। तस्मात् पितृलोकप्राप्तिरानुषङ्गिकी।

न तो आत्मवेदनार्थ और न आत्मविविदिषार्थ ही दो विधान एक वाक्य से सम्भव हैं। तो इसका समाधान यह है कि यहाँ पर यज्ञादि पदों के द्वारा वेदानुवचन व यज्ञ इन दो का विधान नहीं किया जा रहा है, किन्तु इन पदों के द्वारा कर्मसामान्य लक्षित होते हैं। उन समस्त कर्मों का सामान्यतया ही आत्मवेदनार्थ उपयोग के विषय में श्रुति उपदेश कर रही है। चूँकि वेदन के उद्देश्य से कर्मसामान्य का विधान किया जा रहा है, इस कारण एक वाक्य से एक ही विधान हुआ, अनेक विधान नहीं हुए। इस कारण वाक्यभेद की आपत्ति समाहित हो जाती है। इसी प्रकार की समस्या एक अन्य स्थल में भी है। विधान है कि *'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत'* पुत्र उत्पन्न होने के बाद केशों के कृष्ण रहते हुए अग्नि का आधान करे। यहाँ पर भी प्रश्न समान रूप से आता है कि क्या विधान किया जा रहा है? पुत्र उत्पन्न होने के बाद अग्नि का आधान करे या केशों के कृष्ण रहते हुए अग्नि का आधान करे। यदि श्रुति दोनों का विधान कर रही है, तो वाक्यभेद हो जायेगा। इस पर मीमांसक यह समाधान देते हैं कि जातपुत्र तथा कृष्णकेश इन दोनों पदों के द्वारा अवस्थाविशेष लक्षित होता है। तथा उस अवस्थाविशेष में अग्नि के आधान करने का विधान किया जा रहा है। इस कारण एक का ही विधान किया जा रहा है, दो का नहीं। वैसे ही यहाँ पर भी कर्मसामान्य का आत्मज्ञानार्थ विधान किया जा रहा है।

मूलकार ने श्रुति को उद्धृत करते हुए "कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है, तथा विद्या से देवलोक प्राप्त होता है" ऐसा कहा है। परन्तु किन कर्मों से पितृलोक की प्राप्ति होती है? निश्चय ही उन काम्य कर्मों से नहीं जिनका कोई न कोई फल किसी न किसी रूप में वर्णित है। नित्य कर्मों का ही फल कहीं पर श्रुत नहीं है, उन्हीं नित्य कर्मों के द्वारा पितृलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा ग्रन्थकार का तात्पर्य प्रतीत होता है। इस कारण पापक्षय को नित्य कर्मों का फल मानने की अपेक्षा पितृलोकप्राप्ति को नित्य कर्मों का फल मानना अधिक उचित दिखता है क्योंकि अर्थवाद उस तात्पर्य में प्राप्त है। तो पापक्षय को नित्य कर्मों का मुख्य फल मानने की अपेक्षा पितृलोकप्राप्ति को नित्य कर्मों का मुख्य फल क्यों न मान लिया जाये? तो ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सभी के लिए पितृलोक प्राप्ति अभीष्ट हो ये आवश्यक नहीं है। अनेक मुमुक्षु विरक्त जन होते हैं, जिनको पितृलोक की कामना नहीं रहती। तो जो ऐसे विरक्त जन हैं, जिनके लिए पितृलोक अभीष्ट नहीं है, उनकी नित्यकर्मों में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। पापक्षय तो समस्त आस्तिकों को अभीष्ट है, इस कारण नित्यकर्म यदि पापक्षयफलक हैं तो नित्य कर्मों को करने में समस्त आस्तिकों की प्रवृत्ति समान रूप से सम्भव होगी। इसलिए नित्य कर्म का मुख्य फल तो पापक्षय ही है, पितृलोकप्राप्ति तो आनुषङ्गिक है, अनुषङ्गतः प्राप्त हो जाती है।

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्क-सम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।

साधनचतुष्टयेत्येतद्व्याचष्टे— साधनानीति। अत्र विवेकादीनां क्रमो हेतुहेतुमद्भावेन द्रष्टव्यः। **ब्रह्मैवे**ति। ननु ब्रह्मैव नित्यमन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनं निश्चयः संशयो वा? नाद्यः, विवेककाल एव ब्रह्मणो ज्ञातत्वात्, श्रवणादिवैयर्थ्यापातात्। नान्त्यः, तथा सति विवेकस्य वैराग्यहेतुत्वं न स्यात्। न हि सन्देहमात्रेणैहलौकिकपारलौकिकार्थविरागः सम्भवति। एतेनापातज्ञानमेतदिति निरस्तम्, आपातज्ञानेन विरागासम्भवादिति चेत्? सत्यम्; इदं सर्वमनित्यं कृतकत्वादिहेतुभ्यः, एतस्याधिष्ठानं किञ्चिन्नित्यं

मूलकार ने अधिकारी की विशिष्टताएँ वर्णित करते हुए स्थापित किया कि साधनचतुष्टय से सम्पन्न जो प्रमाता है वही वेदान्तशास्त्र का अधिकारी है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह साधनचतुष्टय है क्या? इसी का समाधान करने के लिए मूलकार कहते हैं—

वे चार साधन क्रमशः नित्य व अनित्य का विवेक (क्या नित्य है तथा क्या अनित्य है इसका निर्धारण करना), ऐहिक (इस संसार में प्राप्त होनेवाले) व आमुष्मिक (मरणोपरान्त परलोक, स्वर्गादि में प्राप्त होनेवाले) फलों के भोग से वैराग्य, शम आदि छह सम्पत्तियाँ तथा मुमुक्षुत्व हैं।

नित्यानित्यवस्तुविवेक का तात्पर्य है कि ब्रह्म ही केवल नित्य वस्तु है, उससे अन्य जो कुछ भी प्रतीयमान है, सब कुछ अनित्य है, इसका विवेचन।

यहाँ पर जो चार नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि जिस क्रम से गिने गये हैं, वह क्रम भी अपने आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जब नित्यानित्यवस्तुविवेक होगा तो ऐहिक (इस संसार में प्राप्त होनेवाले) व आमुष्मिक (मरणोपरान्त परलोक, स्वर्गादि में प्राप्त होनेवाल) फलों के भोग से वैराग्य होगा, जब ऐहिक व आमुष्मिक फलों के भोग से वैराग्य होगा तो शम, दम आदि छह साधनों की सम्पत्ति हो सकेगी। तथा अन्ततः छह साधनों की सम्पत्ति होने के उपरान्त ही मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) सम्भव होगी। इस कारण इन सबमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति कारण होता है।

नित्यानित्यवस्तुविवेक का अभिप्राय बताते हुए कहा गया कि ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उससे अतिरिक्त समस्त संसार अनित्य है, ऐसा ज्ञान ही नित्यानित्यविवेक है। ज्ञान दो ही प्रकार के हो सकते हैं या तो निश्चय या तो संशय। अतः यह ज्ञान या तो निश्चयात्मक होगा या तो संशयात्मक? दोनों ही पक्ष सम्भव नहीं हैं क्योंकि यदि यह ज्ञान निश्चयात्मक होगा तो विवेक के काल में ही ब्रह्म का ज्ञान हो जायेगा, क्योंकि ब्रह्मज्ञान का तात्पर्य यही तो है कि ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है, उससे अतिरिक्त समस्त जड-चेतन अवस्तु है। इस कारण श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि की जो साधनापद्धति बतायी गयी है, वह व्यर्थ हो जायेगी। यदि कहा जाये कि द्वितीय पक्ष मानेंगे, कहेंगे कि नित्यानित्यवस्तुविवेक निश्चयात्मक नहीं होता है किन्तु संशयात्मक होता है। तो यह पक्ष भी सङ्गत नहीं है क्योंकि संशयात्मक नित्यानित्यवस्तुविवेक वैराग्य का कारण नहीं हो सकता है। कोई भी बुद्धिमान्

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्।

ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगाणां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववत् आमुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगाणामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरक्तिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः।

निरधिष्ठानस्यानित्यस्यासम्भवात्, इत्यालोचनात्मकप्रत्ययविशेषस्य विवेकत्वेन विवक्षितत्वात्। एतत्प्रत्ययात्मकविवेकानन्तरं कृतकेभ्य ऐहिकामुष्मिकेभ्यो विरागः सम्भवत्येव। यदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः— 'मा भूदिदं नित्यमिदमनित्यमिति धर्मिविशेषयोर्विवेकः, धर्मिमात्रयोर्नित्यानित्ययोर्विवेकं निश्चिनोत्येव' इति। एवञ्च वस्तुतो विषयो यस्यैतादृशः, यदस्ति किञ्चिन्नित्यमित्यन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्, स विवेक इति योजना मूले द्रष्टव्या।

प्राणी 'ब्रह्म ही सम्भवतः नित्य वस्तु है, उससे अतिरिक्त समस्त संसार अनित्य है' इस सन्देहमात्र से इस संसार के तथा परलोक के समस्त सुखों से विरक्त नहीं हो सकता। यह भी कह पाना सम्भव नहीं कि यह आपातज्ञान है, (है तो निश्चयात्मक परन्तु प्रामाण्यसंदेह से आहित है) क्योंकि आपातज्ञान से भी उसी प्रकार विराग नहीं हो सकता है, जिस प्रकार संशयात्मक ज्ञान से वैराग्य नहीं हो सकता।

तो यह प्रश्न सही है। ब्रह्मज्ञान के रूप में नित्यानित्यवस्तुविवेक नहीं हो सकता। अपितु यह सब कुछ अनित्य है क्योंकि कृतक है, इस प्रकार से संसार की अनित्यता का निर्धारण करना। तथा इसका अधिष्ठान कुछ नित्य है क्योंकि निरधिष्ठानक अनित्य सम्भव नहीं है, इस प्रकार आलोचनात्मक प्रत्ययविशेष को ही यहाँ पर नित्यानित्यवस्तुविवेक समझना चाहिए। इस प्रकार का निश्चय होने के उपरान्त अनित्य जो ऐहिक तथा आमुष्मिक स्वर्गादि भोग हैं उनसे वैराग्य सम्भव है। ब्रह्म नित्य है, ब्रह्मातिरिक्त समस्त संसार अनित्य है, इस प्रकार से धर्मीविशेष को लेकर नित्यानित्यवस्तुविवेक भले ही सम्भव न हो परन्तु इस प्रकार से नित्यानित्यवस्तुविवेक तो सम्भव है ही। इस कारण वेदान्तसार की पङ्क्तियों का अभिप्राय शब्दशः न लेते हुए किञ्चित् भिन्नरूप में लेना चाहिए तथा इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उससे अतिरिक्त समस्त संसार अनित्य है, इसका ज्ञान कुछ इस रूप में होना चाहिए कि अब तक अज्ञात कुछ नित्य है, जिससे अतिरिक्त सब कुछ अनित्य है।

द्वितीय साधन ऐहिक व आमुष्मिक विषय भोगों से वैराग्य है। यह वैराग्य किस प्रकार से सम्भव होता है, इसे ग्रन्थकार बताते हैं—

ऐहिक—इस संसार के— माला, चन्दन, स्त्री आदि विषय भोग कर्म से जन्य होते हैं, इस कारण अनित्य होते हैं। उसी प्रकार आमुष्मिक— पारलौकिक— भी अमृतादिविषयक भोग भी कर्मजन्य होने के कारण अनित्य होंगे, ऐसा समझकर उन दोनों ही ऐहिक व पारलौकिक कर्मों से नितान्त विरक्ति ही यहाँ पर द्वितीय साधन

अनित्यतयेति। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इत्यादिवचनादिति भावः। **तेभ्यो नितरां विरक्तिरिति**। तदिच्छाविरोधिचेतोवृत्तिविशेष इत्यर्थः। न तु तदिच्छाविरहः, अभावस्य विधेयत्वाभावात्, विरागस्य 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इत्यनेन विहितत्वात्। विरहश्च यदि प्रागभावात्यन्ताभावान्योन्याभावाः, तदा तेषामनादित्वेनाननुष्ठेयत्वाद्विधेयत्वाभावः। अथ ध्वंसः, तर्हि कृतकस्य ध्वंसोऽयत्नसिद्ध इति विरागस्य विवेकसापेक्षत्वं न स्यात्, विधिवैयर्थ्यापाताच्च, सिद्धान्ते अत्यन्ताभावातिरिक्तप्रध्वंसस्य मानाभावेनानङ्गीकाराच्च। 'प्रध्वस्तो घटः'[1] इति प्रतीतेश्च घटविरुद्धकपालमालाविषयत्वात्। तदुक्तं तातचरणैः[2]—'ऐहिकपारलौकिकफलेच्छाविरोधिचेतोवृत्तिविशेषात्मको विरागः' इति।

के रूप में ऐहिक व आमुष्मिक फल भोगविराग के रूप में गिना गया है।

यहाँ पर माला, चन्दन, स्त्री आदि से गीत, संगीत आदि समस्त सांसारिक भोगों को लेना है। समस्त सांसारिक भोगों के कर्म से जन्य होने के कारण उनके अनित्य होने में तो कोई सन्देह नहीं है क्योंकि जो भी जन्य होता है वह अनित्य होता है। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इनके अनित्य होने के कारण इनसे वैराग्य क्योंकर होगा? जो अहितकर, द्वेष्य होता है, उससे अरुचि या वैराग्य सम्भव है। अनित्य होने के कारण इनसे वैराग्य का कोई कारण तो नहीं दिखायी देता है। तो इसका समाधान यह है कि वस्तुतः अनित्य होने के कारण कर्मजन्य जो भी सुख व भोग हैं, वे अपने नष्ट हो जाने पर सुख से अधिक दुःख ही प्रदान करते हैं। प्रिय से मिलन का सुख वियोग की आशङ्का होने पर सुख न होकर दुःख में परिवर्तित हो जाता है। इस कारण सांसारिक सुख-भोगों से वैराग्य उनकी अनित्यता को देखकर नितान्त सम्भव है। जिस प्रकार सांसारिक कर्म से प्राप्त भोग अनित्य होते हैं, ठीक उसी प्रकार पारलौकिक पुण्य के द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि भी अनित्य होते हैं। इस कारण उनका भी नष्ट होना स्वाभाविक है। जो व्यक्ति जितने अधिक सुख-सुविधाओं में रह चुका होता है, उसके लिए उन सुख-सुविधाओं के छिन जाने का कष्ट उतना ही अधिक हुआ करता है। इस कारण समस्त सांसारिक व पारलौकिक भोग जितना सुख प्रदान करते हैं, अनित्य होने के कारण उससे ज़्यादा दुःख प्रदान करते हैं। जो सुखमय है, वह भी दुःखानुविद्ध है। इसलिए उनसे वैराग्य हो जाता है। दोषदर्शी को वैराग्य होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

यहाँ पर वैराग्य का तात्पर्य राग के अभाव से नहीं है क्योंकि अभाव का विधान नहीं किया जा सकता है। अभाव के चार प्रकार हैं प्रागभाव, ध्वंस, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। प्रागभाव उस अभाव को कहा जाता है जो कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व में वस्तु का अभाव है। ध्वंस नाश को कहा जाता है। अत्यन्ताभाव किसी सम्बन्ध से वस्तु का अभाव है। तथा अन्योन्याभाव तादात्म्यसम्बन्ध से वस्तु का अभाव कहा जाता है। इनमें से प्रागभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव तीनों ही अनादि होते हैं, किसी के द्वारा इनको उत्पादित नहीं किया जा सकता है। इस कारण ये अनुष्ठेय नहीं होते तथा अनुष्ठेय न होने के कारण विधेय भी नहीं हो सकते। ध्वंस उत्पन्न होनेवाला अभाव है इस कारण अनुष्ठेय हो सकता है, तथा इसी कारण विधेय भी हो सकता है। परन्तु जन्य भाव पदार्थ का

१. 'प्रध्वस्तोऽद्य' इति तु पूर्वसंस्करणे पाठः, स च न सङ्गतः।

२. अनन्तदेव इति आपदेवस्य पितुर्नाम। तस्य कश्चनापि ग्रन्थो नोपलभ्यते, कुत्र तैरेवमुक्तमिति न जानीमः।

शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः।

शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।

दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्।

निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः, अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः।

तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।

निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।

तद्व्यतिरिक्तेति। श्रवणादिव्यतिरिक्तेत्यर्थः।

नन्विन्द्रियनिग्रहे तेषां विषयेभ्यो निवर्तनमर्थसिद्धमित्यस्वरसादाह—**अथवेति।** संन्यास इत्यर्थः। **विहितानामिति।**श्रवणाद्यतिरिक्तानामिति शेषः। **विधिनेति।** आलस्यादिना कर्मत्यागस्य 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' इत्यादिना निषिद्धत्वादिति भावः। **तदनुगुणेति।** गुरुशुश्रूषादावित्यर्थः। **एवम्भूत** इति। एवं च गृहस्थस्य न श्रवणेऽधिकारः, अधिकारिविशेषणस्य संन्यासस्याभावात्[1]।

न च संन्यासस्याधिकारिविशेषणत्वे मानाभावः; विवेकादिवत्पुरुषविशेषणत्वेन सत्यादिवाक्ये श्रुतत्वात्।

विनाश तो विना किसी प्रयास के ही सिद्ध है। इस कारण ध्वंसात्मक रागाभाव विवेक की अपेक्षा से नहीं होगा, दूसरी बात यह है कि ध्वंस का विधान करने की आवश्यकता भी नहीं है। एकवस्तुविषयक राग उत्पन्न होकर स्वयं ही कारणान्तर से विनष्ट हो जाता है। उसके लिए रागध्वंस का विधान करने की आवश्यकता ही नहीं है। एकवस्तुविषयक राग विनष्ट होने के बाद अन्यवस्तुविषयक राग फिर से उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी ही। श्रुति 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' के द्वारा निर्वेद का विधान कर रही है, वह वैराग्य को रागाभावरूप मानने पर सङ्गत नहीं होगा। इस कारण तद्विषयक इच्छा का विरोधी चित्त की विशेष वृत्ति ही वैराग्य के द्वारा कही जा रही है। वह वृत्ति विवेक के द्वारा ही बनती है, इस कारण उसमें विधेयता आती है।

साधनचतुष्टयान्तर्गत तृतीय साधन है शमादि छह की सम्पत्ति। वे—

शम आदि छह शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान व श्रद्धा हैं।

श्रवण आदि से अतिरिक्त विषयों से मन का निग्रह शम है।

श्रवण आदि से अतिरिक्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों का निवर्तन दम है।

निवृत्त की जा चुकी इन बाह्य इन्द्रियों व मन का श्रवण आदि से अतिरिक्त विषयों से उपरत हो जाना ही उपरति है। अथवा विहित कर्मों का विधिपूर्वक त्याग ही उपरति है।

सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णुता तितिक्षा है।

१.वाचस्पतिमिश्रास्तु उपरतिशब्दस्य संन्यासवाचकत्वं न स्वीकुर्वन्ति, तन्मते विक्षेपाभाव एवोपरतिः। गृहस्थस्यापि श्रवणेऽधिकारो विद्यते, इति हि तेषां मतम्। संन्यासो नाधिकारिविशेषणम्।

गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।

मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा।

एवम्भूतः प्रमाताधिकारी, 'शान्तो दान्तः' इत्यादिश्रुतेः। उक्तञ्च—

"प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे।।" इति।

न च जन्मान्तरीयः संन्यासोऽस्तीति वाच्यम्; तस्यानिश्चयात्, अनिश्चितस्य च अधिकारिविशेषणत्वाभावात्, 'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' इत्यादिविधिविशेषबाधाच्च, गृहस्थस्य कर्मव्यग्रतया श्रवणकर्तव्यतानुपपत्तेश्च। पुराणादौ गृहस्थस्य विचारश्रवणं तु देवादीनां त्यागादिश्रवणवन्नेयम्। तस्मात्संन्यासिन एव श्रवणेऽधिकार इति।

शान्त इति। ननु किमस्मिन् वाक्ये विधीयते? न तावत् 'पश्येत्' इति प्रकृत्युपात्तं ज्ञानम्, तस्य फलत्वेन विधेयत्वाभावात्; नापि शान्त्यादिविधानम्, वाक्यभेदप्रसङ्गादिति चेत्?

निगृहीत मन का श्रवण आदि में व श्रवणादि के अनुगुण विषय में समाधि ही समाधान है।

गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदान्तवाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है।

तथा चतुर्थ साधनसम्पत्ति—

मुमुक्षुत्व मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा है।

इस प्रकार का साधनचतुष्टय से सम्पन्न जो प्रमाता है वही प्रमाता वेदान्तशास्त्र का अधिकारी है। क्योंकि श्रुति कहती है 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' शान्त (शम से युक्त=जिसका मन शान्त हो गया हो), दान्त (दम से युक्त=जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो चुकी हों), उपरत (जिसकी बाह्य इन्द्रियाँ श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से निवृत्त हो चुकी हैं, अथवा जिसने संन्यास ग्रहण कर लिया है), तितिक्षु (जो संसार के द्वन्द्वों से विचलित नहीं होता, सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि को समान भाव से स्वीकार करता है) समाहित होकर (समाधान से युक्त होकर=अर्थात् जिसका मन आत्मज्ञान के साधनों श्रवणादि में तथा तदुपकारक अमानित्वादि साधनों में अचञ्चलभाव से संलग्न हो आत्मा में एकाग्र हो चुका है) आत्मा में ही आत्मा को देखता है। अन्यत्र भी कहा गया है कि 'प्रशान्तचित्ताय....मुमुक्षवे' जिसका चित्त प्रशान्त हो चुका हो, जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो, जिसके दोष (प्रमुखतया मनोदोष) क्षीण हो चुके हों, गुरु व शास्त्रों के द्वारा जिस प्रकार का आदेश-निर्देश प्राप्त होता है, तदनुसार जो कार्य करता है, जो शास्त्रों में वर्णित आत्मज्ञान के आवश्यक गुणों विनम्रता, करुणा आदि से युक्त हो, तथा जो सर्वदा अपने आचार्य के अनुगत हो, तथा जिसको मोक्ष की उत्कट इच्छा हो, उसे ही वेदान्त का ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

शम आदि छह साधनों का जिस क्रम से परिगणन किया गया है, उसी क्रम से उनकी अपेक्षा है। शम दम के लिए आवश्यक है, शम व दम उपरति के लिए आवश्यक हैं, तथा इसी क्रम से आगे भी समझना चाहिए। जब

अत्र वदन्ति— शान्त्यादीनां श्रवणेन सहाव्यभिचरितसम्बन्धाच्छान्त्यादिपदैर्विचारो लक्ष्यते। उपरतिशब्दाभिधेयश्च संन्यासः। अनयोः समुच्चयोऽस्मिन् वाक्ये विधीयत इति।

गुरवस्तु— नास्मिन् वाक्ये शान्त्यादिपदैर्विचारो लक्ष्यते, अनेकेषु पदेषु लक्षणाप्रसङ्गात्। न च एकस्मिन् पदे लक्षणयोपपत्तावनेकेषु सा युक्ता। किन्तु 'पश्येत्' इति प्रकृत्या विचारो लक्ष्यते। एवञ्च अस्मिन् वाक्ये शान्त्यादिमत्कर्तृको विचारो विधीयते। न च 'श्रोतव्यः' इति विधिना विचारस्य प्राप्तत्वात्पुनर्विधानं व्यर्थमिति वाच्यम्; शारीरकब्राह्मणे एतदतिरिक्तविचारविधायकाभावात्।

यत्तु समुच्चयो विधीयत इति; तन्न, स हि यदि संन्यासविचारात्मकस्तदोभयविधाने वाक्यभेदः। तदतिरिक्ते तु मानाभावः।

तक मन का श्रवणादि से व्यतिरिक्त विषयों से निवर्तन नहीं होता, तब तक श्रवणादि से व्यतिरिक्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों का निवर्तन नहीं किया जा सकता। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा भी जो भोग किया जाता है, वह मन के द्वारा ही किया जाता है। इस कारण मन का श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयों से निवर्तन प्रथमतया आवश्यक है। सदानन्द यति ने उपरति शब्द के दो अर्थ किये; प्रथम अर्थ किया कि श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयों से निवृत्त इन्द्रियों का विषयों से निवर्तन। परन्तु इस अभिप्राय में समस्या यह है कि जब शम के अन्तर्गत मन का श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयों से निवर्तन हो चुका, तथा बाह्य इन्द्रियों का श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयों से निवर्तन हो चुका तो उपरति के द्वारा कथ्यमान विषयों से उपरमण भी स्वतः हो गया। वह तो अर्थसिद्ध है, फिर उसका पुनः परिगणन उपरति के रूप में करने की आवश्यकता क्या है? इसी कारण सदानन्द यति उपरति का द्वितीय अर्थ संन्यास करते हैं। संन्यास का तात्पर्य है विहित कर्मों का विधिपूर्वक त्याग। विहित कर्मों का त्याग आलस्यादिवश भी हो सकता है, परन्तु आलस्यवश किया जानेवाला विहितकर्मों का त्याग निषिद्ध है। आलस्यादि के कारण शास्त्रविहित कर्मों का त्याग करने पर व्यक्ति पाप का भागीदार बनता है। इस कारण ब्रह्मज्ञान की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को विधिपूर्वक ही विहित कर्मों का त्याग करते हुए संन्यास-ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार साधनचतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता ही वेदान्तज्ञान का अधिकारी है। वेदान्तसार की बालबोधिनी व्याख्या के लेखक विवरणसम्प्रदाय का अनुसरण करते हुए मानते हैं कि गृहस्थ का श्रवण में अधिकार नहीं है क्योंकि श्रवण के अधिकारी के विशेषणों में संन्यास भी परिगणित है, जो कि गृहस्थ में नहीं है। संन्यास को अधिकारी का विशेषण मानने में कोई प्रमाण नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि विवेक आदि की तरह संन्यास का भी अधिकारिविशेषणतया श्रवण श्रुतियों में प्राप्त होता है। जिस प्रकार जन्मान्तरीय वेदाध्ययन के द्वारा रागादि दोषों के निर्गत होने के कारण साधनसम्पन्नता सम्भव होती है, उस प्रकार संन्यास के साथ तो नहीं है। क्योंकि जन्मान्तरीय संन्यास निश्चित नहीं है, तथा अनिश्चित संन्यास अधिकारी का विशेषण नहीं हो सकता है। चूँकि गृहस्थ नित्य कर्मादि में व्यग्र होता है, इस कारण श्रवणादि का सम्पादन उसके द्वारा सम्भव भी नहीं है। इस कारण संन्यासी का ही श्रवणादि में अधिकार है, ऐसा स्वीकार करना ही उचित दिखता है। परन्तु भामती प्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य वाचस्पति मिश्र इसके विपरीत मत रखते हैं। उनके अनुसार उपरति शब्द का अर्थ विक्षेपाभावमात्र

किञ्च उपरतिपदेन शान्त्यादिपदैश्च शक्त्या लक्षणया च संन्यासविचारोपस्थितावपि समुच्चयप्रतिपादक-पदाभावेन कथमत्र तस्य विधानम्।

समुच्चयप्रतिपादकपदमत्राध्याहार्यमिति चेत्? न; अध्याहारे मानाभावात्, शान्त्यादीनामेव समुच्चयविधानोपपत्तौ श्रवणलक्षणावैयर्थ्यापाताच्च। सोमविशिष्टयागविधाने सोमस्य यागार्थत्ववद्विचार-संन्यासयोरतिरिक्तसमुच्चयस्य विधाने विचारस्य समुच्चयार्थत्वापाताच्च, तथा च ज्ञानार्थत्वं न स्यात्। तस्मात् प्रकृत्या विचारं लक्षयित्वा शान्त्यादिमत्कर्तृको विचारो विधीयत इत्येव युक्तम्।

दोषा रागादयः, ते प्रहीणा यस्य तस्मै। अनेन च उपरतिरुक्ता। गुणा नित्यत्वादयः। सर्वदानुगताय गुरुसेवापराय।

है, उपरतिशब्द संन्यास का वाचक नहीं है। विक्षेपाभाव तो गृहस्थ में भी सम्भव है, इसी कारण श्रुतियों में तथा पुराणों में जनकादि के द्वारा ब्रह्मविचार की बात सुनायी देती है। इस कारण श्रवण में सभी आश्रमों में रहनेवालों का अधिकार है।

यहाँ पर एक अन्य विषय पर भी विचार करना प्रसङ्गवश उचित दिखता है। मूलकार ने *'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति'* इस श्रुति के आधार पर वेदान्तशास्त्र का अधिकारी कौन है, इसका निर्धारण करने का प्रयास किया। परन्तु प्रश्न यह है कि इस वाक्य के द्वारा किसका विधान किया जा रहा है? यदि यह कहा जाये कि उक्त श्रुतिवाक्य में आये हुए 'पश्यति' इस पद का लकारविपरिणाम करके 'पश्येत्' ऐसा समझना चाहिए। 'पश्यति' इस पद में लट् लकार के स्थान पर विधिलिङ् लकार को समझना चाहिए। लट् लकार वर्तमान काल के लिए तथा विधिलिङ् लकार कर्तव्यताबोधन के लिए होता है। मीमांसादर्शन के अनेक स्थलों में इसी प्रकार से लकारविपरिणाम करके कर्तव्यताबोधन किया जाता है। इस प्रकार इसका तात्पर्य होगा कि दर्शन का विधान किया जा रहा है, आत्मदर्शन यानी आत्मज्ञान का विधान किया जा रहा है। परन्तु समस्या यह है कि ज्ञान क्रिया नहीं है, अपितु फल है। इस कारण ज्ञान विधेय नहीं हो सकता। यदि कहा जाये कि शान्त्यादि का विधान किया जा रहा है, तो समस्या यह आयेगी कि आपको मानना पड़ेगा कि शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि अनेक का विधान किया जा रहा है। तो एक वाक्य से एक का ही विधान सम्भव है, अनेक का नहीं। यदि अनेक का विधान किया गया तो वाक्यभेद हो जायेगा क्योंकि मीमांसा का सिद्धान्त है कि विधेय का भेद होने पर वाक्य का भेद होता है।

इस प्रश्न का समाधान भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न रीति से दिया गया है। कुछ कहते हैं कि शान्ति आदि का श्रवण के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध होने के कारण शान्त, दान्त आदि पदों के द्वारा लक्षणा से विचार बोधित होता है। उपरति शब्द से संन्यास का बोध होता है। इस प्रकार विचार तथा संन्यास का समुच्चय यहाँ पर विधेय है। विचार तथा संन्यास के समुच्चय का विधान किया जा रहा है।

परन्तु इस पक्ष में प्रश्न यह उपस्थित होगा कि यदि समुच्चय का विधान किया जा रहा है, तो समुच्चय तो संन्यास तथा विचार उभयात्मक होगा। समुच्चय इससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं हो सकता। इस कारण संन्यास का

भी विधान किया जा रहा है तथा विचार का भी विधान किया जा रहा है, ऐसा ही मानना पड़ेगा। इस परिस्थिति में पूर्व में आयी हुई समस्या फिर से उठेगी कि वाक्यभेद हो जायेगा क्योंकि दो का विधान किया जा रहा है।

यद्यपि साहित्यादिरूप समुच्चय उभय से व्यतिरिक्त हाता है। परन्तु साहित्यादिरूप समुच्चय का भी विधान सम्भव नहीं है क्योंकि इस पक्ष में समस्या यह होगी कि समुच्चयप्रतिपादक कोई पद उक्त श्रुति में सुनायी ही नहीं दे रहा है, तो समुच्चय का विधान किस प्रकार से किया जा सकता है? समुच्चयबोधक पद का अध्याहार कर लिया जायेगा, यदि आप ऐसा बोलो तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि अध्याहार में कोई प्रमाण नहीं है। अध्याहार वहीं पर किया जाता है, जहाँ पर विना अध्याहार के वाक्यार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो रही हो। इसके अतिरिक्त भी समस्याएँ इस पक्ष में हैं। जिस प्रकार सोमविशिष्ट याग का विधान करने पर सोम की यागार्थता ही होती है, उसी प्रकार यहाँ पर विचार-संन्याससमुच्चय का विधान करने पर विचार व संन्यास समुच्चय के लिए ही होंगे, उनकी समुच्चयार्थता ही होगी न कि ज्ञानार्थता। सिद्धान्ततः तो विचार व संन्यास की ज्ञानार्थता स्वीकार की जाती है।

इस कारण उपर्युक्त श्रुतिवाक्य में शान्त आदि पदों के द्वारा विचार का लक्षणा से बोध नहीं होता है क्योंकि ऐसी परिस्थिति में अनेक पदों में लक्षणा करनी पड़ेगी। यदि किसी एक पद में लक्षणा करने से निर्वाह हो सकता हो तो अनेक पदों में लक्षणा करनी उचित नहीं है क्योंकि लक्षणा को जघन्या वृत्ति माना जाता है। इस कारण इस श्रुतिवाक्यघटक 'पश्येत्' इस पद की प्रकृति दृश् धातु के द्वारा लक्षणा से विचार का बोध होता है। इस तरह इस वाक्य के द्वारा शान्त्यादिमान् जो पुरुष है तत्कर्तृक विचार का विधान किया जा रहा है। यद्यपि *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'* इस श्रुतिवाक्य के द्वारा विचार का विधान किया जा चुका है। जो विहित है उसका पुनर्विधान अनुचित है। परन्तु शारीरक ब्राह्मण में 'शान्तो दान्तः' से अतिरिक्त विधान नहीं प्राप्त होता है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इस श्रुति के द्वारा जो विधान प्राप्त होता है, वह तो अन्यत्र श्रुति में प्राप्त होता है, शारीरक ब्राह्मण में नहीं। इस कारण पुनरुक्ति नहीं है।

भगवत्पाद शङ्कराचार्य *'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति'* इस बृहदारण्यकोनिषदीय (४/४/२३)श्रुति का अर्थ इस प्रकार से करते हैं— *'तस्मादेवंविच्छान्तो बाह्येन्द्रियव्यापारत उपशान्तस्तथा दान्तोऽन्तःकरणतृष्णातो निवृत्त उपरतः सर्वैषणाविनिर्मुक्तः संन्यासी तितिक्षुर्द्वन्द्वसहिष्णुः समाहित इन्द्रियान्तःकरणचलनरूपाद्व्यावृत्त्यैकाग्र्यरूपेण समाहितो भूत्वा। तदेतदुक्तं पुरस्ताद्बाल्यं च पाण्डित्यञ्च निर्विद्येति। आत्मन्येव स्वे कार्यकारणसङ्घाते, आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं पश्यति।'* (द्र.बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य ४/४/२३) इन पङ्क्तियों के द्वारा शान्त शब्द का अभिप्राय आचार्य शङ्कर बाह्येन्द्रियव्यापारों से उपशान्त होना, दान्त का अभिप्राय अन्तःकरणतृष्णा से निवृत्त होना तथा उपरत का तात्पर्य समस्त प्रकार की एषणाओं से निवृत्त होना लेते हैं। तितिक्षु का तात्पर्य सुख-दुःखादि द्वन्द्वसहिष्णु से है। समाहित होने का अर्थ इन्द्रिय तथा अन्तःकरणों के चलने से व्यावृत्त होकर एकाग्रता से अवस्थित होना लेते हैं। इस

प्रकार इस श्रुति का अर्थ होता है बाह्येन्द्रियों के व्यापार से निवृत्त, अन्तःकरण की तृष्णाओं से रहित, सुख-दुःखादि द्वन्द्वसहिष्णु, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के विचलन से रहित, बाल्य तथा पाण्डित्य दोनों से निर्विण्ण कार्यकारणसङ्घातरूप आत्मा में ही प्रत्यक्चैतन्य आत्मा को देखता है।

वाचस्पतिमिश्र वैराग्यहेतुक मनोविजय को शम, विजित मन की तत्त्वविषयविनियोगयोग्यता को दम कहते हैं— *'सोऽयमस्य वैराग्यहेतुको मनोविजयः शम इति वशीकारसंज्ञ इति चाख्यायते। विजितं च मनस्तत्त्वविषयविनियोगयोग्यतां नीयते, सेयमस्य योग्यता दमः।'* (भामती पृ.७३, ब्रह्मसूत्रशाङ्कर-भाष्यम्, भामती-कल्पतरु-परिमलयुतम्, संपादक- अनन्तकृष्णशास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी,)

आचार्य सुरेश्वर तो इस श्रुति में पाठक्रम से अर्थक्रम के बलवान् होने के कारण क्रमविपर्यास करते हैं। उनके अनुसार दान्त होने के उपरान्त शान्त होना अपेक्षित है। वे *'बहिष्करणचेष्टाया निवृत्तौ दान्त उच्यते। दान्तोऽश्वो गौर्गजो वाऽपि प्रयोगस्तत्र वीक्ष्यते।।'* (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक भाग दो, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी १९९०, पृ.१२६१) ऐसा कहते हुए दान्त का अर्थ बाह्येन्द्रियों की चेष्टा से निवृत्त होना मानते हैं, इसमें लौकिक प्रयोगों का भी उदाहरण दिया है कि अश्व आदि के सधे हुए होने पर 'दान्तोऽश्वः' दान्त अश्व, ऐसा प्रयोग हुआ करता है। वे *'अन्तःकरणचेष्टाया निवृत्तौ शान्त उच्यते। शान्तो भिक्षुस्तपस्वीति तत्प्रयोगसमीक्षणात्।।'* (वही पृ.१२६२) ऐसा कहते हुए शान्त का अर्थ अन्तःकरणचेष्टा से निवृत्त होना बताते हैं। इसमें उदाहरण दिये गये हैं भिक्षु शान्त है, तपस्वी शान्त है। चार प्रकार के कर्म सम्भव हैं—प्रतिषिद्ध, काम्य, नित्य तथा चापल (स्वाभाविक चपलता के कारण होनेवाले) कर्म। इन चारों ही प्रकार के कर्मों से निवृत्ति ही उपरति है। (वहीं पृ.१२६३)परन्तु श्रवणादि से निवृत्ति अपेक्षणीय नहीं है। तितिक्षु शब्द के द्वारा प्रायः सुख-दुःखादि द्वन्द्वसहिष्णुता को लेने की बात करते हैं, परन्तु साथ में दुर्वचनादिसहिष्णुता को भी अन्तर्भूत करने की बात जोड़ते हैं। *'द्वन्द्वप्रवाहसम्पातसहिष्णुरभिधीयते। तितिक्षुवचनेनात्र दुरुक्तादेस्तथैव च।।'* (वहीं, पृ.१२६७)

शङ्करानन्द सरस्वती आत्मपुराण में इस श्रुति का अर्थ इन शब्दों में करते हैं—

'मनसा विषया सर्वान् परित्यज्यार्भकोपमः। दशेन्द्रियाणि संयम्य दुर्दान्तानिव वाजिनः।।
यथोपपन्नलाभेन वर्तयेत् स्वकलेवरम्। हर्षं न लाभतो गच्छेद् विषादं वाऽप्यलाभतः।।
कर्मणा मनसा वाचा पीडां भूतैः कृतामपि। देहेन्द्रियमनःस्वेष जानन् कोपं च न व्रजेत्।।
विचारयेदिदं स्वस्य चित्ते स्वच्छतमे सदा। निन्दां यदि प्रकुर्वन्ति ममेमे बान्धवास्ततः।
मया समर्जितं पापं सर्वमेव नयन्त्यमी।।
इतः परं ममामीभिः कार्या कोपकृतिस्त्विह। यतो दुष्करं पापं मम सर्वं नयन्त्यमी।।'

आत्मपुराण, द्वितीयभाग, पृ.६०५, श्रीदक्षिणामूर्तिमठप्रकाशन, वाराणसी, २०००

इस प्रकार शङ्करानन्द सरस्वती शान्त का अर्थ बालकवत् मन से समस्त विषयों का परित्याग करते हैं। दान्त का अर्थ दशों इन्द्रियों को संयमित करना बताते हैं। यथोपपन्न लाभ से अपने शरीर की यात्रा का निर्वाह

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धं चैतन्यं प्रमेयम्, तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।

एवमधिकारिणं निरूप्य विषयं दर्शयति— **विषय** इति। उच्यत इति शेषः। ऐक्यस्य भेदत्वं[1] व्यावर्तयति—**शुद्धमिति।**

करने की बात करते हैं। यही सन्तोषातिशय उपरति है। मिले हुए लाभ से हर्ष को न प्राप्त करना, हानि से विषाद को न प्राप्त करना, कर्म से, मन से तथा वाणी के द्वारा भूतों से शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक पीड़ा दिये जाने पर भी क्रोध न करना, यह विचार करना कि यदि ये मेरी निन्दा कर रहे हैं, तो ये मेरे बान्धव ही हैं क्योंकि मेरे द्वारा अर्जित समस्त पाप ही ये ले जा रहे हैं, इससे अधिक इनके द्वारा मेरा क्या उपकार किया जा सकता है कि ये हमारे समस्त पाप लिये जा रहे हैं, इस प्रकार सोचते हुए हानि-लाभ, सुख-दुःख को समान भाव से स्वीकार करना ही तितिक्षा है, ऐसा बताते हैं। *'सावधानः सदा भूयादात्मनो दर्शनाय हि। गुरुशास्त्रोपदेशेन परमास्तिक्यमागतः।।'* (वहीं, पृ.६०७) ऐसा कहते हुए समाधान का अर्थ चित्त की एकाग्रता बताते हैं। गुरु तथा शास्त्रों के उपदेश में विश्वास ही श्रद्धा है। इन शमादि की सम्पत्ति ब्रह्मविद्यावाप्ति तथा तत्साधनभूत श्रवणादि हेतु अपेक्षित है।

अधिकारी का निरूपण करने के उपरान्त विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन का निरूपण क्रमशः करते हैं—

वेदान्तसार का विषय है जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य। वही जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य शुद्ध चैतन्य प्रमेय है क्योंकि समस्त वेदान्तों का तात्पर्य उसी में है।

वेदान्तसार तथा समस्त वेदान्तशास्त्रों का तात्पर्य जीव व ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित करने में है। पहली बात यहाँ पर उपस्थित होती है कि ऐक्य का अर्थ क्या है? ऐक्य का सामान्यतया अर्थ होता है अभेद या तादात्म्य। इस अभेद का अर्थ हुआ भेद का अभाव। हम कहते हैं कि नील तथा घट का ऐक्य है, जो नीला है वही घट है। नील का भेद घट में नहीं रहने के कारण नील तथा घट का अभेद होता है। परन्तु वस्तुगत रूप में देखें तो नील तथा घट का भेद तो है ही। दुग्ध तथा जल की तरह परस्पर विभिन्न दो वस्तुओं का मिश्रणरूपी ऐक्य होने पर इस प्रकार से ऐक्य का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इस प्रकार का ऐक्य यदि जीव व ब्रह्म में हो तो वस्तुतः जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य वेदान्तानुसार प्रतिपादित नहीं हुआ, दोनों में भेद बरकरार रहा। इसीलिए शुद्ध चैतन्य ही जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य है, ऐसा बताया। ग्रन्थकार यह बताना चाह रहे हैं कि जीव तथा ब्रह्म स्वरूपतः नील व घट की तरह या दुग्ध व जल की तरह भिन्न नहीं है।

जीव व ब्रह्म में स्वरूपतः भेद न मानने पर समस्या यह है कि जीव तो अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट है तथा ईश्वर सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट। इन दोनों का ऐक्य किस प्रकार से सम्भव है? तो विशेषणांश अल्पज्ञत्व, सर्वज्ञत्व आदि विरुद्धधर्मांश का परित्याग करने से अवशिष्ट जो विशेष्य शुद्ध चैतन्य है, उसकी एकता प्रतिपादित करने में ही

१. 'अत्र घटोऽस्ति' इत्यादौ स्वसजातीयद्वितीयराहित्यरूपमेकत्वमैक्यं वा भासते। स्वसजातीयद्वितीयराहित्यञ्च स्वसजातीय-निष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकभेदस्वरूपं भवति। तथाहि एतद्देशे एकस्यैव घटस्य विद्यमानत्वे तद्घटसजातीयः स एव घटः, तन्निष्ठो भेदःतद्घटभेदातिरिक्त एव भेदः, तत्प्रतियोगितावच्छेदकभेदस्तद्घटत्वे विद्यते। परन्तु जीवब्रह्मैक्यमित्यत्रैक्यमेतादृशं नास्ति, तत्तु शुद्धमेव।

बोध्येति। ननु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिविरोधान्न चैतन्यस्य बोध्यत्वमिति चेत्? वक्ष्यमाणोत्तरत्वात्।

वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य ही इस वेदान्तशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय होता है। चैतन्य के शुद्धत्व का तात्पर्य सर्वधर्मातीतत्व से है। समस्त धर्म चैतन्य में आरोपित हैं, वस्तुतः तो चैतन्य समस्त धर्मों से रहित है। इसी कारण कहा जाता है कि शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक है। परन्तु यहाँ पर यह भी कहा जा रहा है कि शुद्ध चैतन्य प्रमेय है। यदि शुद्ध चैतन्य प्रमेय है, तो कमसे कम शुद्ध चैतन्य में प्रमेयत्व धर्म तो आना चाहिए, परन्तु समस्या यह है कि शुद्ध चैतन्य में प्रमेयत्व धर्म भी किस प्रकार आ सकेगा? क्योंकि प्रमेयत्व भी तो एक धर्म है तथा शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक है। वस्तुतः हमारी ज्ञान की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी है कि जिसमें ज्ञान का विषय धर्म-धर्मीभाव के रूप में ही हमारी बुद्धि का विषय बनता है। वही सर्वप्रथम विभेद उत्पन्न कर देता है, द्वैत को उत्पन्न कर देता है। इसी कारण समस्त प्रमाण-प्रमेयव्यापार भी वस्तुतः द्वैत को ही पुरस्कृत कर के सम्भव होते हैं। समस्त व्यवहार मिथ्या हैं, यह मानने का भी यही सार है। इस कारण शुद्ध चैतन्य तो किसी भी प्रकार के—प्रमाण-प्रमेय, धर्म-धर्मी आदि विभागों से परे है। वह न तो प्रमाण कहा जा सकता है और न ही प्रमेय; वह न तो धर्म कहा जा सकता है और न ही धर्मी; क्योंकि धर्म व धर्मी, प्रमाण व प्रमेय ये सभी ही सापेक्षिक शब्द हैं। प्रमाण प्रमेय की अपेक्षा करता है, तथा प्रमेय प्रमाण की। धर्म धर्मी की अपेक्षा करता है, धर्मी धर्म की। इसलिए यदि शुद्ध चैतन्य प्रमेय हो, तो कोई न कोई *प्रमाण भी होगा ही। इस कारण कम से कम प्रमाण-प्रमेय रूप भेद तो बचा ही रह जायेगा।* इस कारण शुद्ध चैतन्य न तो प्रमाण हो सकता है न तो प्रमेय। इसी अभिप्राय से उपनिषदों में शुद्ध चैतन्य की इन्द्रिय-मन-आदि से अगोचरता का प्रतिपादन करनेवाले अनेक वचन प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है 'ज्ञातारं वाऽरे केन विजानीयात्' अरे! उस ज्ञाता को किस प्रकार से जानें? अन्य श्रुति भी है 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' जहाँ से (उस शुद्ध चैतन्य को) न प्राप्त कर वाणी मन के साथ वापस लौट आती है। इसी प्रकार अन्य श्रुतिवाक्य भी बहुधा उपलब्ध होते हैं, जहाँ पर शुद्ध चैतन्य की इन्द्रियादि अगोचरता बतायी गयी है। इस परिस्थिति में किस प्रकार से शुद्ध चैतन्य के साथ उपनिषदों का बोध्यबोधकभाव बन सकेगा? यदि वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा ब्रह्म बोधित किया जा रहा है, तो उपर्युक्त श्रुतिवाक्यों के द्वारा विरोध होगा। यदि वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा ब्रह्म बोधित नहीं किया जा रहा, तो वेदान्तों के द्वारा शुद्ध चैतन्य का प्रतिपादन नहीं हुआ।

इसका एक समाधान यह दिया जाता है कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, उस स्वयंप्रकाश ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए वस्तुतः किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। दैनिक उपयोग में आनेवाली जागतिक वस्तुओं का प्रकाशन करने के लिए प्रकाश की आवश्यकता है, परन्तु सूर्य का प्रकाश करने के लिए किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। सूर्य अपने-आप ही प्रकाशमान है। उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वयंप्रकाश है। उसका प्रकाश करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। तो क्या ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले प्रमाण व्यर्थ व निरर्थक हैं? यदि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, तो उसका प्रकाशन करने के लिए किसी भी प्रमाण की कोई आवश्यकता तो नहीं दिखती। प्रमाण का प्रयोजन तो अज्ञातार्थप्रकाशकत्व ही है, यही प्रमाण की सार्थकता है। यदि ब्रह्म स्वयप्रकाश होने के कारण

सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधक-भावः।

तदैक्येति। तच्च तदैक्यम्, तदेव प्रमेयम्, तद्गतं तद्विषयं यदज्ञानं तस्य निवृत्तिरिति विग्रहः। चिन्मात्रविषयाज्ञाननिवृत्तिः प्रयोजनमित्यर्थः।

नित्यप्राप्त या नित्यवेद्य है, तो वेदान्तों के द्वारा किया क्या जायेगा? वेदान्तों की सार्थकता व सप्रयोजनता का सम्पादन किस प्रकार होगा? तो वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा ब्रह्म इसी अर्थ में बोधित किया जा रहा है कि उसके द्वारा वे भेद हटा दिये जा रहे हैं, जो शुद्धचैतन्य ब्रह्म के प्रकाशित होने में आवरण कर रहे थे। इसी कारण भगवत्पाद आचार्य शङ्कर कहते हैं कि *'अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य'* शास्त्र केवल अविद्या के द्वारा कल्पित भेद की निवृत्ति कराने के लिए हैं। शास्त्र केवल अविद्या की तथा अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति करा देते हैं, मात्र इतने से ही शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो जाता है। इसके लिए किसी अन्य व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार आकाश में बादल व्याप्त रहने पर प्रकाशमान भी सूर्य दिखायी नहीं देता है, तथा बादल के हट जाने पर प्रखरप्रकाश सूर्य दिखने लगता है। प्रकाशमान सूर्य तो पहले भी था, परन्तु दृष्टि व सूर्य के बीच में बादलों के आ जाने के कारण दिखायी नहीं दे रहा था। ठीक उसी प्रकार नित्य, शुद्ध, स्वयंप्रकाश आत्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रकाशमान तो पहले भी था। परन्तु अज्ञान के कारण, अविद्या के कारण नित्यज्ञात ब्रह्म अज्ञातवत् था। परन्तु ज्यों ही अविद्या की निवृत्ति होती है, प्रत्यगात्मा ब्रह्म ज्ञात हो जाता है। इस कारण शास्त्र का प्रयोजन मात्र अविद्या की निवृत्ति करा देना ही है। अविद्या की निवृत्ति करा देने मात्र से शास्त्र का साफल्य सिद्ध हो जाता है। शास्त्र उस तरह से ब्रह्म का बोधन नहीं करते और न तो कर ही सकते हैं, जिस तरह जागतिक व्यवहारविषय वस्तुओं का इदन्तया (यह घट है, इस प्रकार से) बोधन करते हैं। इससिए शास्त्र की सार्थकता अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति कराने में ही है।

इसी बात को इस तरह से भी स्पष्ट किया जाता है कि प्रत्यक्ष के द्वारा घटादि का ज्ञान होने की प्रक्रिया में बुद्धि तथा बुद्धिस्थ चित्प्रतिबिम्ब दोनों के द्वारा घटादि का व्यापन किया जाता है, इसलिए वृत्तिव्याप्यता तथा फलव्याप्यता दोनों ही घटादि में आती है। परन्तु ब्रह्म का ज्ञान जब होता है तो जो अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति बनती है, उस वृत्ति के द्वारा ब्रह्म व्याप्त भी होता है, इसी कारण अज्ञान का नाश हो जाता है। परन्तु इस प्रक्रिया में ब्रह्म में वृत्तिजन्य फल की व्याप्यता नहीं आती है क्योंकि यदि चित्प्रतिबिम्ब के द्वारा ब्रह्म का प्रकाशन किया जा पाना सम्भव हो तो फलव्याप्यता ब्रह्म में आये। परन्तु ऐसा तो सम्भव ही नहीं है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य अन्धेरे कमरे में रखे हुए घटादि को प्रकाशित कर सकता है, परन्तु स्वयं उस सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसी प्रकार बिम्बस्थानीय चैतन्य के अन्तःकरणनिष्ठ प्रतिबिम्ब के द्वारा घटादि का ज्ञानात्मक प्रकाश तो सम्भव है, परन्तु स्वयंप्रकाश ब्रह्म का प्रकाशन उसी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब के द्वारा कथमपि सम्भव नहीं है। इस विषय में आगे *'अह ब्रह्मास्मि'* मैं ब्रह्म हूँ, इस अनुभव के व्याख्यान के अवसर पर मूलकार स्वयं सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे।

सम्बन्ध है जीवब्रह्मैक्यात्मक प्रमेय व जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादक उपनिषदात्मक प्रमाणों का बोध्यबोधकभाव।

प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च, 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिश्रुतेः, 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च।

ननु नाज्ञाननिवृत्तिः सती, अद्वैतव्याघातात्। नासती, ज्ञानजन्यत्वानुपपत्तेः। न सदसती, विरोधात्। नानिर्वचनीया, अनिर्वचनीयस्यानित्यत्वनियमेन विचारप्रयोजनस्यानित्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः; तथा सति अनित्यफलेभ्यः कर्मभ्यो विरागादत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्। नापि पञ्चमप्रकारा तस्याश्चिद्रूपत्वे ज्ञानसाध्यत्वानुपपत्तेः। चिद्भिन्नत्वेऽद्वैतविरोध इति चेत्?

मैवम्; अज्ञानं ह्यनिर्वचनीयम्। अनिर्वचनीयस्य च न ध्वंसोऽस्ति, मानाभावात्। सिद्धान्ते कपालवद्विरुद्ध-कार्योदय एव ध्वंसः। न च शुक्त्यादौ बाधादिदशायां रजतादिविरुद्धकार्यस्य कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति, शुक्तित्वादेर्भ्रमात् प्रागपि सत्त्वात्। तस्मान्नानिर्वचनीयस्य ध्वंसः। किन्तु स्वाश्रयेऽत्यन्ताभावः,तत्र व्यवहारतो

जीवब्रह्मैक्यरूपी प्रमेय व जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादकीभूत उपनिषद् शास्त्र के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। जीवब्रह्मैक्य बोध्य है तथा वेदान्त (उपनिषद्) बोधक हैं। इस प्रकार इन दोनों के मध्य बोध्य-बोधकभाव सम्बन्ध बन जाता है। यद्यपि नैयायिक बोध्य-बोधकभाव आदि को सम्बन्ध नहीं मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार या तो बोध्यता सम्बन्ध बनेगा या तो बोधकता। तथापि अन्य दार्शनिक बोध्य-बोधकभाव को सम्बन्ध मानते हैं। वेदान्तियों के अनुसार भी इसको सम्बन्ध मानने में कोई असुविधा नहीं है।

इस शास्त्र का प्रयोजन है जीवब्रह्मैक्यात्मक प्रमेयगत अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप आनन्द की प्राप्ति। इसको बतानेवाली 'तरति शोकमात्मवित्' आत्मा को जान लेनेवाला पुरुष शोक को अर्थात् शोक से उपलक्षित संसार को पार कर जाता है; 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जान लेनेवाला ब्रह्म ही हो जाता है; इत्यादि अनेक श्रुतियाँ प्राप्त होती हैं।

इस वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन बताया गया है जीवब्रह्मैक्यरूप प्रमेय गत अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप आनन्द की प्राप्ति। साररूप में कहा जाये तो चिन्मात्रविषयक अज्ञान की निवृत्ति ही वेदान्तसार का तथा वेदान्तशास्त्र का फल है।

इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अज्ञान की निवृत्ति सत् है या असत्? यदि अज्ञान की निवृत्ति सत् है तो ब्रह्म भी सत् है तथा अज्ञान की निवृत्ति भी सत् है; इस प्रकार द्वैत हो जायेगा, अद्वैत की क्षति होगी। यदि कहें कि अज्ञान की निवृत्ति सत् नहीं है, तो अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से जन्य नहीं हो सकेगी क्योंकि असत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। असत् अज्ञाननिवृत्ति ज्ञान से जन्य नहीं हो सकती। यदि कहा जाये कि अज्ञान की निवृत्ति सदसत् है तो यह कथन तो अत्यन्त विरुद्ध है। कोई वस्तु किस प्रकार सत् भी व असत् भी हो सकती है। यदि कहा जाये कि अज्ञान की निवृत्ति अनिर्वचनीय है तो समस्या यह है कि अनिर्वचनीय वस्तु तो अनित्य ही होती है, ऐसा नियम है। इस कारण ब्रह्मविषयकविचार का प्रयोजन अनित्य है, ऐसा मानने का पक्ष आ जायेगा। ब्रह्मविषयकविचार का अनित्य प्रयोजन मानने पर तो वैराग्यवश जो ब्रह्मविषयकविचार में प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अनित्य लौकिक व पारलौकिक सुखों की अनित्यता का दर्शन कर उन सुखों से वैराग्य होता

रजतादेरधिष्ठानातिरिक्तात्यन्ताभावस्वीकारेऽपि न चैतन्यातिरिक्तोऽविद्यात्यन्ताभावः। अपितु चिद्रूप एव, अन्यथा अद्वैतव्याकोपात्। एवञ्च चिद्रूपैवाविद्यानिवृत्तिः। न च एवमविद्यानिवृत्तेर्नित्यत्वेन तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यम्, तत्त्वज्ञानेनाविद्यात्यन्ताभावबोधस्य जननात्, 'नासीन्नास्ति न भविष्यति' इति शुक्तित्वबोधेनेव रजतात्यन्ताभावबोधस्य।

है, तथा वैराग्यवश ब्रह्मविषयकविचार में प्रवृत्ति होती है। यदि ब्रह्मविषयकविचार का फल भी अनित्य ही होगा तो समस्त अनित्य फलों से वैराग्य होने के कारण ब्रह्मविषयकविचार के फल से भी वैराग्य होगा। तथा इस कारण ब्रह्मविषयकविचार में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इन चारों से अतिरिक्त किसी पञ्चम पक्ष की सम्भावना की जाये तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि अविद्यानिवृत्ति चाहे जैसी भी हो यह प्रश्न उठेगा कि वह अविद्यानिवृत्ति शुद्धचिद्रूप है या शुद्धचिद्भिन्न? यदि शुद्धचिद्रूप है तो शुद्धचित् मेंतो ज्ञानसाध्यता अनुपपन्न है, शुद्ध चित् तो ज्ञानसाध्य होता ही नहीं , और श्रुति अनेक स्थलों में अविद्यानिवृत्ति को ज्ञानसाध्य बताती है। यहाँ पर भी शास्त्र का प्रयोजन बताया गया है अविद्यानिवृत्ति। अविद्यानिवृत्ति यदि चिद्रूप है तो वह साध्य नहीं होगी, अतः शास्त्र का प्रयोजन अविद्यानिवृत्ति नहीं हो सकेगा। यदि अविद्यानिवृत्ति शुद्धचिद् से भिन्न मानी जाये तो समस्या यह होगी कि शुद्धचित् ब्रह्म से अतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति का स्वीकार करने के कारण पुनः द्वैत हो जायेगा, अद्वैत की क्षति होगी।

सिद्धान्ततः तो अविद्यानिवृत्ति न तो सत् न तो असत् किन्तु अनिर्वचनीय है, यही पक्ष स्वीकार किया जाता है। अनिर्वचनीय के अनित्यत्व का नियम होने पर भी अनिर्वचनीय का विनाश नहीं स्वीकार किया जाता। घट के अनित्य होने का आशय नैयायिकों की तरह घट के ध्वंस का प्रतियोगी होने से नहीं है क्योंकि अनिर्वचनीय अनित्य घट आदि का ध्वंस अद्वैतवेदान्तसिद्धान्त के अनुसार स्वीकार नहीं किया जाता है। इसके स्थान पर घटादि के अवयव में घटादि के विरुद्ध कार्य का उदय ही घटादि का ध्वंस माना जाता है। शुक्ति में भासमान रजत तथा ब्रह्म में भासमान संसार दोनों ही समान योगक्षेम हैं। शुक्ति में रजतभान के अनन्तर जब शुक्तिरूपी अधिष्ठान के ज्ञान से रजत का बाध होता है, उस समय रजतादिविरुद्ध किसी धर्म की उत्पत्ति शुक्ति में होती नहीं। इस कारण इतना तय है कि अनिर्वचनीय रजतादि का रजतादि के अधिष्ठान शुक्ति में ध्वंस नहीं होता। ऐसे ही समान रीति से ब्रह्म में भासमान अनिर्वचनीय जगत् का भी विनाश नहीं होता, किन्तु केवल बाध ही होता है। अनिर्वचनीय के अनित्यत्व का तात्पर्य इतने से ही है कि अनिर्वचनीय विषय अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित हो जाता है, निवृत्त हो जाता है, नष्ट नहीं होता। यह बाधित होना यही है कि अनिर्वचनीय विषय के आश्रय में ही अनिर्वचनीय विषय का अत्यन्ताभाव होना। उसमें व्यवहारवश अनिर्वचनीय रजतादि के अधिष्ठान से अतिरिक्त अत्यन्ताभाव का स्वीकार करने पर भी चैतन्य से अतिरिक्त अविद्या का अत्यन्ताभाव होता नहीं, अनिर्वचनीय अविद्या का अत्यन्ताभाव अविद्या के अधिष्ठान शुद्धचित् स्वरूप ही होता है, अन्यथा अद्वैत का विरोध होने लगेगा। इसलिए अविद्यानिवृत्ति शुद्धचैतन्यस्वरूप ही है।

अविद्यानिवृत्ति के शुद्धचैतन्यस्वरूप होने पर शुद्धचित् की साध्यता सम्भव न होने से उसके ज्ञानसाध्य न होने के कारण शास्त्र के द्वारा अविद्यानिवृत्ति साध्य नहीं हो पायेगी, यह प्रश्न भी उचित नहीं है। क्योंकि तत्त्वज्ञान

ननु यदि अविद्यानिवृत्तिश्चिद्रूपा, तत्त्वज्ञानेन च अविद्यात्यन्ताभावबोधमात्रं मन्यते, तदा श्रवणादीनां निष्प्रयोजनत्वापत्तिः; चिद्रूपाविद्यानिवृत्तेर्नित्यत्वेनाप्रयोजनत्वात्, अत्यन्ताभावबोधस्य च सुखदुःखाभावान्यत्वेनापुरुषार्थत्वादिति। तत्राह— **स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्चे**ति। 'च'शब्दः शङ्कानिरासार्थः। अयं भावः— यद्यपि सुखदुःखाभावान्यत्वेन नाविद्यात्यन्ताभावबोधः प्रयोजनम्; तथापि चिद्रूपाविद्यानिवृत्तिरेव प्रयोजनम्, चैतन्यस्यानन्दरूपत्वेनाभिलषितत्वात्। अभिलषितं हि प्रयोजनम्, न तु कृतिसाध्यत्वविशेषितम्, गौरवात्। तदत्र चैतन्यस्य कृतिसाध्यत्वाभावेऽपि अभिलषितत्वेन प्रयोजनत्वमस्त्येव।

न च श्रवणात् प्रागपि चैतन्यरूपप्रयोजनसत्त्वेन तत्र प्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम्; प्राक्चैतन्यसत्त्वेऽपि अनवाप्तत्वभ्रमेण कण्ठगतचामीकरन्यायेन श्रवणादौ प्रवृत्त्युपपत्तेः। अनवाप्तभ्रमश्चाज्ञानजन्य एव। अतः

के द्वारा वस्तुतः अविद्यानिवृत्ति साध्य नहीं होती है किन्तु केवल ज्ञेय होती है। शास्त्र अविद्यानिवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता है किन्तु सर्वथा विद्यमान अविद्यानिवृत्ति को बोधित मात्र करता है। जैसे भ्रम के काल में रजत का भान होने के उपरान्त अधिष्ठानसाक्षात्कारात्मक बाधदशा में 'रजत न तो था, न तो है, न तो होगा' इस प्रकार से रजत का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव बोधित किया जाता है। इस स्थल में तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा रजत का विनाश नहीं किया जाता, अपितु केवल रजत का अत्यन्ताभाव बोधित किया जाता है। उतने से ही बाधक प्रत्यय की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। उसी प्रकार से अनिर्वचनीय अविद्या का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव बोधित कर देने मात्र से ही शास्त्र व तत्त्वज्ञान की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

इस स्थिति में एक अन्य प्रश्न अवश्य आता है कि यदि अविद्यानिवृत्ति चिद्रूपा है तथा तत्त्वज्ञान के द्वारा केवल अविद्या का अत्यन्ताभावमात्र बोधित किया जाता है, जैसा कि अभी प्रतिपादित किया गया; तो श्रवणादि की निष्प्रयोजनता की आपत्ति आयेगी। क्योंकि शुद्धचिद्रूप अविद्यानिवृत्ति तो नित्य होने के कारण प्रयोजन हो नहीं सकती है, तथा अविद्यानिवृत्ति के अत्यन्ताभाव का बोध न तो सुखात्मक है और न तो दुःखाभावात्मक, इस कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकता। पुरुषार्थ या तो सुख होता है, या तो दुःखाभाव। अविद्यानिवृत्ति के अत्यन्ताभाव का सुखानात्मक तथा दुःखाभावानात्मक बोध तो पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा। इस कारण अपुरुषार्थ होने के कारण अविद्यानिवृत्ति के अत्यन्ताभाव के बोध के लिए श्रवणादि में मुमुक्षु की प्रवृत्ति किस प्रकार सम्भव होगी?

वस्तुतः इसी प्रश्न के समाधान के लिए मूलकार ने स्वस्वरूपानन्दावाप्ति को भी प्रयोजन के रूप में बताया है। इसका तात्पर्य है कि यद्यपि अविद्या के अत्यन्ताभाव का बोध सुखात्मक न होने के कारण तथा दुःखाभावात्मक न होने के कारण प्रयोजन नहीं हो सकता है, तथापि चिद्रूपा अविद्यानिवृत्ति ही प्रयोजन है, क्योंकि चैतन्य आनन्दरूप होने के कारण अभिलषित है। प्रयोजन वही होता है जो अभिलषित हो। कृतिसाध्यत्वविशिष्ट अभिलषित ही प्रयोजन होता है, ऐसा नहीं है। कृतिसाध्य होनेवाले अभिलषित को प्रयोजन मानने की अपेक्षा अभिलषितमात्र को ही प्रयोजन मानने में लाघव है। इस कारण चैतन्य के कृतिसाध्य न होने पर भी अभिलषित होने के कारण उसको प्रयोजन मानने में कोई असुविधा नहीं है, उसके प्रयोजनत्व का निर्वाह हो जाता है।

परन्तु चैतन्यरूप प्रयोजन तो श्रवणादि के प्राक्काल में भी है, तो जो प्रयोजन श्रवणादि के प्राक्काल में है,

अयमधिकारी जननमरणसंसारानलतप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहार-पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति, 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुतेः।

स परमकृपयाध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति, 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतेः।

श्रवणादिजन्यतत्त्वज्ञानेनाविद्यात्यन्ताभावे बोधितेऽनवाप्तत्वभ्रमः स गच्छति। ततः शुद्धं चैतन्यमवशिष्यते। तदेव प्रयोजनम्, तस्यानन्दरूपत्वेन अभिलषितत्वात् इति दिक्। शोकं शोकोपलक्षितं संसारम्।

एवमनुबन्धचतुष्टयं निरूप्य प्रकृतमाह— **अयमिति**। **उपहारेति**। 'रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं दैवतं गुरुम्' इतिवचनादिति भावः। **उपसृत्येति**। गुरुसमीपं गत्वेत्यर्थः।

उस प्रयोजन के लिए पुरुष की प्रवृत्ति क्यों कर हो सकेगी? तो ऐसा भी नहीं क्योंकि श्रवणादि के प्राक्काल में चैतन्यरूप प्रयोजन के रहने पर भी उसके न रहने का भ्रम होने के कारण श्रवणादि में प्रवृत्ति सम्भव है। जैसे गले में धारण किये हुए हार के खो जाने का भ्रम हो जाने की स्थिति में हार को धारण किया हुआ व्यक्ति भी उस कण्ठहार को खोजता ही है। उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के नित्य प्राप्त होने पर भी उसके अप्राप्त होने का भ्रम होने के कारण उस नित्यप्राप्त भी आत्मा को प्राप्त करने के लिए श्रवणादि में व्यक्ति की प्रवृत्ति सम्भव है। नित्यप्राप्त आत्मा के अप्राप्त होने का भ्रम तो अज्ञान से ही जन्य है। इस कारण आत्मा के अप्राप्तत्व का अज्ञानजन्य भ्रम श्रवणादि से जन्य तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या का अत्यन्ताभाव बोधित कर देने पर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य ही शेष बचता है। वही तो इस वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है क्योंकि वह चैतन्यस्वरूप शुद्ध प्रत्यगात्मा आनन्दरूप होने के कारण अभिलषित होता है।

इस वेदान्तशास्त्र की प्रवृत्ति व प्रक्रिया किस प्रकार है? इसको बताना प्रारम्भ कर रहे हैं—

यह अधिकारी जन्म, मरण आदि ससार की अग्नि से सन्तप्त हो कर उसी प्रकार उपहार को हाथ में लेकर श्रोत्रिय व ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर उसका अनुसरण करता है, जिस प्रकार जिस व्यक्ति का सिर ग्रीष्मकाल की गरमी से तप रहा हो, ऐसा पुरुष जलराशि की ओर बढ़ता है। श्रुति भी कहती है कि 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' समिधा को हाथ में लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाये। वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु परम कृपा से अध्यारोप व अपवाद के न्याय से ऐसे अधिकारी को वेदान्तविद्या का उपदेश करता है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' ऐसे समीप आये हुए अधिकारी को वह विद्वान् वेदान्तविद्या का उपदेश कहता है।

ग्रीष्म में जिस व्यक्ति को प्रचण्ड गरमी का एहसास हो रहा हो वह व्यक्ति जल की आवश्यकता जितनी तीव्र महसूस करता है, उतनी आवश्यकता अन्य कोई नहीं महसूस कर पाता। गरमी से सिर तप जाने की स्थिति में वह व्यक्ति अत्यन्त शीघ्रता से जलराशि की तरफ बढ़ता है। वह व्यक्ति एक क्षण भी उस प्रचण्ड ग्रीष्म को सहना नहीं चाहता। हर एक पल का विलम्ब बहुत लम्बे काल की तरह प्रतीत होता है। परन्तु जिस व्यक्ति का सिर ग्रीष्म से तपा

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।

अपवादस्याध्यारोपपूर्वकत्वात् प्रथममध्यारोपं निरूपयति— **वस्तुनीति**। दृष्टान्तमाह— **असर्पेति**।

हुआ नहीं है, वह व्यक्ति उतनी तेज़ गरमी का अनुभव नहीं करता, न तो जल की उतनी आवश्यकता ही महसूस करता है। उसी प्रकार जिस व्यक्ति का मन संसार के अनित्य सुखों, कामनाओं में लगा हुआ है, इन से जिसको विरक्ति नहीं हुई है, जिसको मुमुक्षा नहीं है, जिसका मन अभी संसार में ही अनुरक्त है, उसको न तो ब्रह्म को जानने की इच्छा ही होती है और न तो वह ब्रह्म को जान ही सकता है। ऐसा व्यक्ति प्रयास करने पर भी ब्रह्म को जान नहीं पाता है, क्योंकि उसमें अधिकारिता नहीं है। अधिकार से सम्पन्न व्यक्ति वही है जो संसार में जन्म-मरण, बुढ़ापा, व्याधि आदि से सन्त्रस्त हो चुका है, इनसे बचने के लौकिक उपायों की सीमा को समझता है। इसी कारण उन साधनों से वैराग्य को प्राप्त कर चुका है। इसीलिए ग्रीष्म काल में मुण्डित सिर वाला व्यक्ति जिस प्रकार सिर के तप जाने के कारण ग्रीष्म से अत्यन्त कष्ट का अनुभव करता हुआ अत्यन्त तीव्र गति से जलराशि की ओर भागता है, उसी प्रकार उपहार को हाथ में लेकर मुमुक्षा आदि से सम्पन्न अधिकारी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप एकमात्र उसी को शरण समझ कर जाता है, तथा उसका ही अनुसरण करता है। श्रुतियों में कहा गया है कि *'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'* उस आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानने के लिए वह मुमुक्षु, अधिकारी समिधा को हाथ में लेकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाये। उपहार हाथ में लेकर जाने का तात्पर्य है गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा को द्योतित करना क्योंकि श्रद्धा से ही ज्ञान प्राप्त होता है, ऐसा अनेक स्थलों में कहा गया है। अनेकत्र कहा गया है कि *'रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं दैवतं गुरुम्'* राजा, देवता व गुरु को खाली हाथ नहीं देखना चाहिए। इन वचनों के अनुसार समिधा हाथ में लेकर अधिकारी को गुरु के समीप जाना चाहिए।

वह श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु उस अधिकारी शिष्य को परमकृपापूर्वक शुद्ध चैतन्य, ब्रह्म का उपदेश देता है। परन्तु शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का उपदेश गुरु शिष्य को देगा कैसे? शुद्ध ब्रह्म तो वाणी का विषय है नहीं। श्रुतियाँ स्वयं ब्रह्म की वाणी व मन के द्वारा अगोचरता को बताती हैं। तो सत्य है; शुद्ध ब्रह्म वाणी व मन का अगोचर ही है। इसी कारण अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म को बताने की एक नवीन विधि विकसित की गयी है, जिसको अध्यारोपापवादन्याय कहा जाता है। सीधे-सीधे तो शुद्ध ब्रह्म वाणी के द्वारा विषय नहीं किया जा सकता, परन्तु अध्यारोपापवादन्याय *से शुद्ध ब्रह्मविषयक उपदेश भी किया जा सकता है। यह अद्वैतवेदान्त की प्रविधि है, जिसके द्वारा शुद्ध ब्रह्म का भी प्रतिपादन शब्द के द्वारा सम्भव हो पाता है।*

परन्तु यह अध्यारोपापवादन्याय क्या है? क्या है अध्यारोप तथा क्या है अपवाद? इसी को बताना अग्रिम पङ्क्तियों में प्रारम्भ किया जा रहा है, इसमें प्रथमतया अध्यारोप क्या है यह बताते हैं—

असर्पभूत रज्जु में सर्प के आरोप के समान वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप कहलाता है।

जो रज्जु सर्प नहीं उस रज्जु में सर्प के आरोप की तरह वस्तुभूत ब्रह्म में अवस्तु जगत् का आरोप ही अध्यारोप है। अपवाद अध्यारोपपूर्व ही हो सकता है, विना अध्यारोप के अपवाद की चर्चा निरर्थक है। इसी कारण

सर्पारोपवदिति। अनिर्वचनीयसर्पारोपवदित्यर्थः, देशान्तरीयसर्पभाने मानाभावात्[1]। तथा हि— सति दोषविशेषे रज्ज्वां सर्पो भासत इत्यनुभवसिद्धम्। दोषे च अपगते 'नास्ति सर्पः, मिथ्यैवाभात्' इत्यप्यनुभूयते। अत्र प्रतिपन्नस्य देशान्तरसत्त्वं न भ्रमेण वा बाधेन वा विषयीक्रियते।

बाधान्यथानुपपत्त्यैव देशान्तरसत्त्वं कल्प्यत इति चेत्? तर्हि बाधान्यथानुपपत्त्या अत्र प्रतिपन्नस्यैव बाधयोग्यं सत्त्वं कल्प्यताम्, अनुभवारूढत्वात्, न तु देशान्तरसत्त्वमनुभवानारूढम्।

प्रथमतया अध्यारोप का प्रतिपादन किया गया। जहाँ पर कभी व्यक्ति रस्सी को देखकर साँप समझता है, सामने तो रस्सी है, परन्तु उस रस्सी को सामने देखकर द्रष्टा पुरुष को भ्रम होता है कि *'अयं सर्पः'* यह सर्प है। सामने तो रस्सी है, फिर सर्प का भ्रम किस प्रकार हो सकता है? तो पुरोविद्यमान रस्सी में सर्प का भान सर्प का रस्सी में आरोप होने के कारण होता है।

परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ऐसे भ्रमस्थल में किस सर्प का भान हो रहा है? नैयायिक कहते हैं कि इस प्रकार के भ्रम के स्थल में अन्यदेशस्थ सर्प का भान हुआ करता है। ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से अन्यदेशस्थ सर्प के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने के कारण सर्प का भान सम्भव हो पाता है। पूर्वकाल में कभी उत्पन्न हुआ जो सर्प का ज्ञान है वही ज्ञान सर्प के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष की भूमिका निभा देता है, यही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष शब्द के द्वारा बताया जाता है। ज्ञानमेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् ज्ञानलक्षणम्, ज्ञान ही लक्षण यानी स्वरूप है जिसका उसी को ज्ञानलक्षण कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष ज्ञानात्मक हुआ करता है। चूँकि पूर्व में कभी सर्प का भान हो चुका है, इस कारण पूर्व में जात सर्पज्ञान ही सर्प के साथ चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्ष का काम कर देता है। इस कारण तद्देशकाल में सर्प के न रहने पर भी सर्प का प्रत्यक्षात्मक भान सम्भव होता है। भासमान सर्प अत्यन्तासत् नहीं हो सकता है क्योंकि अत्यन्तासत् का भान सम्भव नहीं है। इस कारण अन्यदेश या अन्यकाल में विद्यमान सर्प का ही भान उपर्युक्त *'अयं सर्पः'* यह सर्प है, इस प्रकार के भ्रम के स्थल में होता है। परन्तु अद्वैती कहते हैं कि देशान्तर में विद्यमान सर्प के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष सम्भव नहीं है। जिस ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से अन्यदेशस्थ सर्प के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने के कारण सर्प का भान सम्भव हो पाने की बात आप नैयायिक करते हैं, उस ज्ञानलक्षणा के सन्निकर्ष होने में ही कोई प्रमाण नहीं है। ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष यदि सन्निकर्ष है तब तो अनुमिति के स्थल में भी प्रत्यक्षात्मक सन्निकर्ष से ही काम हो जायेगा। आप धूम को देखकर होनेवाले पर्वत में अग्नि के ज्ञान को अनुमान मानते हैं, परन्तु यदि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को माना जाये तो जिस प्रकार *'अयं सर्पः'* यह सर्प है, इस प्रकार का भ्रम ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से सम्भव होता है। ठीक उसी प्रकार से पर्वत में वह्नि का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा ही सम्भव हो जायेगा। फिर वह्नि का ज्ञान अनुमान प्रमाण से मानने की क्या आवश्यकता है? न केवल इतना ही अपितु अन्य शब्दादि प्रमाणों के द्वारा भी जो ज्ञान होते हैं, वे भी ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की सहायता से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही सम्पन्न हो जायेंगे। इस कारण प्रमाणान्तर (प्रत्यक्षातिरिक्त किसी प्रमाण) को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस कारण ज्ञानलक्षणा को सन्निकर्ष

१. नैयायिकाः रज्जौ 'अयं सर्पः' इति भ्रमस्थले देशान्तरीयः सर्पो भासते इति वदन्ति। तत्र तु प्रमाणं नास्तीति प्रोच्यते।

न च बाधयोग्ये सत्त्वे कल्प्यमाने स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमक्लृप्तं कल्पनीयमिति वाच्यम्? तथा सति संयोगादेरपि तन्न स्यात्, तदतिरिक्तस्थलेऽवच्छेदकभेदेन स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य अदृष्टत्वात्। तत्रादर्शनेऽपि संयोगादौ दर्शनात् स्वीक्रियते यदि, तदा प्रकृतेऽपि बोध्यम्।

नहीं माना जा सकता। ऐसा भी नहीं है कि केवल भ्रमस्थल में ही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष होता हो, जिसके कारण अन्य प्रमाणों की व्यर्थता की आपत्ति का निवारण आप कर पायें; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा जो कि प्रत्यक्षप्रमा मानी जाती है, वहाँ पर भी आप नैयायिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की सहायता से ही प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं।

इस प्रकार इतना तो निश्चित है कि देशान्तरीय सर्प का भान *'अयं सर्पः'* यह सर्प है, इस प्रकार के भ्रम के स्थल में नहीं हो सकता है। तो फिर किस सर्प का भान होता है? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि वस्तुतः तो अनिर्वचनीय सर्प का ही भान ऐसे भ्रमस्थल में होता है। यह तो आप नैयायिक भी मानते हैं कि *अत्यन्तासत् का भान नहीं हो सकता है, यह भी निर्धारित हो गया कि देशान्तरीय कालान्तरीय सर्प का भान* भी ऐसे स्थलों में नहीं हो सकता है। तो विकल्प क्या शेष बचता है? अनुभव के आधार पर यही मानना उचित है कि जिस देश काल में सर्प अनुभवगम्य है, उसी देश-काल में अवस्थित सर्प का भान हो रहा है। हम अनुभव को नहीं बदल सकते हैं, अनुभव के विपरीत नहीं जा सकते हैं। अनुभव तो यही बताता है कि उस देश काल में सर्प है, अतः इसे मानना चाहिए। वह कैसा सर्प है जो भासित हो रहा है? वस्तुतः वह सर्प अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय सर्प ही भ्रमस्थल में भासित होता है।

इसको इस रूप में व्याख्यायित व व्यवस्थापित किया जाता है—इतना तो सबको मानना पड़ेगा कि दोषविशेष के रहने पर सर्प का भान होता है, तथा दोषविशेष के समाप्त हो जाने पर सर्प का भान नहीं होता। यहाँ तक कि दोष के नष्ट हो जाने पर, न रहने पर अनुभव होता है कि 'सर्प नहीं है, मिथ्या ही सर्प अनुभव का विषय हुआ था'। इस स्थल में देखना चाहिए कि कौन सा सर्प अनुभव का विषय हो रहा है? क्या देशान्तरस्थ सर्प अनुभव का विषय हो रहा है? अनुभव की विवेचना करने पर अनुभूयमान सर्प का देशान्तर में अवस्थान तो ज्ञात नहीं होता है, इसके विपरीत प्राथमिक अनुभव के द्वारा अनुभूयमान सर्प का उसी देश में अवस्थान पता चलता है, अन्यथा भ्रान्त द्रष्टा किस कारण से उस स्थान का भयवश परित्याग करने लगता है जहाँ पर सर्प दिखायी पड़ा था। न तो प्राथमिक *'अयं सर्पः'* यह सर्प है, इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान के द्वारा और न ही अनन्तर क्षण में उत्पन्न *'नायं सर्पः'* यह सर्प नहीं है, इस प्रकार के बाधज्ञान के द्वारा ही सर्प की देशान्तरस्थता का अनुभव होता है। इस कारण नैयायिकों का यह पक्ष कि 'देशान्तरस्थसर्प भ्रमस्थल में दोषवश ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा सन्निकृष्ट होकर भासित होता है' स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यदि तद्देशस्थ सर्प का ही अनुभव हुआ था, तो समस्या यह है कि तद्देशस्थ सर्प का तद्देश में निषेध कैसे किया जा सकता है? किस प्रकार अनन्तर क्षण में जायमान *'नायं सर्पः'* यह सर्प नहीं है, इस प्रकार के बाधज्ञान के द्वारा सर्प का निषेध किया जा सकेगा? इस कारण अन्य विकल्प न सम्भव होने के कारण ही अनुभूयमान सर्प की

किञ्च पुरोवर्तिनि मिथ्यासर्प आवश्यिकः, अवच्छेदकलाघवस्य विद्यमानत्वात्। परैर्हि विषयसाधकतावच्छेदकं प्रमानुभवत्वमुच्यते। तच्चानुभवत्वापेक्षया गुरुभूतम्[1]। अतोऽनुभव एव विषयसाधकः। स च प्रकृतेऽप्यस्तीत्यावश्यिको मिथ्यासर्पः।

देशान्तरस्थता को स्वीकार करना पड़ता है। किस सर्प का निषेध किया जा रहा है? निश्चय ही जिस सर्प का अनुभव हुआ था, उसी सर्प का निषेध किया जाना चाहिए। देशान्तरस्थ सर्प अनुभूत हुआ था, उस सर्प का निषेध किया जा रहा है। इस कारण बाद में उत्पन्न जो ज्ञान है, वह ज्ञान तो प्रमात्मक है। परन्तु प्रथमतया उत्पन्न ज्ञान प्रमात्मक नहीं है क्योंकि उस ज्ञान के द्वारा देशान्तरस्थ सर्प का एतद्देशावस्थान पता चलता है, जब कि वस्तुतः एतद्देश में देशान्तरस्थ सर्प है ही नहीं।

तो यह पक्ष भी सङ्गत नहीं है क्योंकि यदि बाध की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण—अन्य किसी प्रकार से बाध सम्भव नहीं होने के कारण—आप अनुभूयमान सर्प की देशान्तरस्थता को स्वीकार करना चाहते हैं, तो आप ऐसा क्यों नहीं करते कि बाध की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण ही उसी देश में भासमान सर्प की उसी देश में बाधयोग्य सत्ता को स्वीकार कर लें। इस प्रकार से भी बाध की व्यवस्था सम्पादित की जा सकती है। इस पक्ष में एक और सुविधा है कि प्रथम ज्ञान केविषय की व्यवस्था भी सम्भव होगी, तथा अनन्तर क्षण में जायमान बाधज्ञान के विषय की व्यवस्था भी बन जायेगी। सर्प की एतद्देशसत्ता ही अनुभवारूढ है, देशान्तरसत्ता अनुभवारूढ नहीं है। तो उचित यही है कि जो अनुभव के द्वारा विषय किया जा रहा है, उसी को स्वीकार किया जाये। जो अनुभव के द्वारा नहीं बोधित हो रहा है, उसकी सत्ता स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह नहीं कहा जा सकता है कि बाधयोग्य सत्ता की कल्पना करने पर उस सर्पादि में स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व—अपने अधिकरण में ही अपने अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व—की कल्पना करनी पड़ेगी। जहाँ पर जो है, वहाँ पर उस वस्तु का अत्यन्ताभाव नहीं माना जाता, ऐसा मूर्ख व विद्वान् उभयसाधारण अनुभव है। बाधयोग्य सत्ता की कल्पना करके सर्पभ्रम के स्थल में सर्पाश्रय में ही सर्प के अत्यन्ताभाव को स्वीकार करने की बात की जा रही है। यह तो अनुभवविरुद्ध होगा। तो ऐसा नहीं है क्योंकि संयोग को आप सभी इसी प्रकार का मानते हैं। संयोग के अधिकरण में ही संयोग के अभाव को नैयायिकादि सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं। जैसे शाखा पर वानर का संयोग होने पर भी मूल में (जड़ में) वानर के संयोग का अभाव रहा करता है। इसी बात को नैयायिक इस रूप में कहते हैं कि एक ही अधिकरण में अवच्छेदक के भेद से भाव व अभाव दोनों रह लेते हैं। शाखा-अवच्छेदेन वानरसंयोग है, तथा मूल-अवच्छेदेन वानरसंयोग का अभाव भी है। यहाँ पर भी उपर्युक्त समस्या तो समान रूप से आयेगी। संयोग के अतिरिक्त किसी अन्य स्थल में ऐसा तो नहीं माना जाता है कि एक ही अधिकरण में अवच्छेदक के भेद से उस वस्तु की सत्ता भी स्वीकार की जाये, तथा उस वस्तु का अभाव भी माना जाये। केवल

१. नैयायिकाः वदन्ति यत् प्रमैव विषयस्य साधिका न तु अनुभवमात्रम्। प्रमया यत्र यद् ज्ञायते तत्र तदस्तीति वक्तुं शक्यते, परन्तु भ्रमेण यत्र यद् ज्ञायते तत्र तदस्तीति वक्तुं न शक्यते। वेदान्तिनस्तु यत्र यद्ज्ञायते तत्र तदस्तीति वक्तव्यमिति वदन्ति। तन्मते प्रमानुभवापेक्षया अनुभवस्य विषयव्यवस्थापकतया लाघवम्।

नन्वनिर्वचनीयसर्पाङ्गीकारे 'रज्जौ कालत्रयेऽपि सर्पो नास्ति' इति त्रैकालिकनिषेधप्रतीत्यनुपपत्तिः, सर्पाङ्गीकारात् इति चेत्? अत्र समाधानमुक्तं विवरणाचार्यैः— 'लौकिकपरमार्थदृष्टरजतप्रतियोगिका-

संयोग के साथ ही ऐसा माना जाता है। तो संयोग के लिए ही ऐसा क्यों मानना कि अवच्छेदक के भेद से एक ही अधिकरण में संयोग भी है, तथा संयोग का अभाव भी है? यही उत्तर दिया जा सकता है कि संयोग के स्थल में ही ऐसा अनुभव दिखता है, अन्यत्र तो ऐसा अनुभव नहीं दिखायी देता है। इसी कारण संयोग के स्थल में एक ही अधिकरण में अवच्छेदक के भेद से भाव व अभाव दोनों की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। यह बात तो ठीक है, लेकिन यदि अनुभव को ही इन सबका निर्णायक मानना है, तो सर्पभ्रम के स्थल में भी ऐसा ही मानो। उसी स्थल में भासमान सर्प आदि की सत्ता तथा उसी स्थल में उस सर्प आदि का अभाव भी स्वीकार करो। आख़िर अनुभव तो इसी पक्ष का समर्थन करता है।

एक अन्य कारण से भी पुरोवर्ति प्रदेश में सर्पभ्रमस्थल में— जहाँ पर सर्प का भ्रमात्मक अनुभव हो रहा है, उस स्थल में—अनिर्वचनीय सर्प को स्वीकार करना आवश्यक है। जो लोग अन्यथाख्याति या विपरीतख्याति के आधार पर भ्रम की व्याख्या करना चाहते हैं, उनसे यह पूछा जाना चाहिए कि उनके मत में विषय की सत्ता किससे सिद्ध होगी? उनको यही कहना पड़ेगा कि विषय की सत्ता का साधक प्रमात्मक अनुभव होता है, न कि अनुभवमात्र क्योंकि भ्रमात्मक अनुभव के द्वारा जो वस्तु जहाँ पर अनुभूयमान है, उस वस्तु की वहाँ पर सत्ता तो वे मानते नहीं। इस प्रकार विषय का व्यवस्थापक उनको प्रमात्मक अनुभव को मानना पड़ेगा। इस प्रकार गौरव होगा। हम अद्वैतवेदान्ती तो अनुभवमात्र को विषय का व्यवस्थापक मानते हैं। इस कारण हमारे मत में विषयसाधकतावच्छेदक होगा अनुभवत्व। अनुभवत्व को विषयसाधकता का अवच्छेदक मानने में प्रमानुभवत्व को विषयसाधकता का अवच्छेदक मानने की अपेक्षा लाघव है। अनुभव तो सर्पादि के भ्रम के स्थल में भी है ही, इस कारण सर्पानुभववश सर्पभ्रम के स्थल में भी सर्प की सत्ता माननी ही चाहिए।

परन्तु यदि आपने भ्रमस्थल में भी सर्प की सत्ता स्वीकार कर ली, तो *'नायं सर्पः'* यह सर्प नहीं है, इस प्रकार के बाधज्ञान के द्वारा किस प्रकार से सर्प के त्रैकालिक निषेध की प्रतीति हो सकेगी? क्योंकि आपने तो भ्रमस्थल में भी सर्प की सत्ता स्वीकार कर ली है। जब सर्प है ही, तो उस सर्प का निषेध कैसे किया जा सकेगा?

इस प्रश्न का समाधान विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। विवरणाचार्य इसका समाधान इस प्रकार से देते हैं कि— लौकिक परमार्थदृष्ट सर्पप्रतियोगिक त्रैकालिक अत्यन्ताभाव को *'नायं सर्पः'* यह सर्प नहीं है, इस प्रकार का बाधज्ञान विषय करता है। इस कारण सर्प के त्रैकालिक निषेध की प्रतीति भी हो सकती है क्योंकि उक्त स्थल में भासमान जो सर्प है, वह सर्प तो प्रातिभासिक है, प्रतिभासमात्र शरीर है, वह सर्प तो लौकिक, परमार्थदृष्ट सर्प नहीं है। चूँकि *'नायं सर्पः'* यह सर्प नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति लौकिक परमार्थ दृष्ट सर्प के त्रैकालिक अभाव को विषय करती है और लौकिक, परमार्थ दृष्ट सर्प त्रिकाल में भी पुरोवर्ति देश में नहीं है। इस कारण निषेध भी सम्भव होगा।

भावविषयत्वाद्रजते त्रैकाल्याभावज्ञानस्य' इति। तथा च 'कालत्रयेऽपि सर्पो नास्ति' इति प्रतीतिः लौकिक-परमार्थदृष्टसर्पाभावविषयिणी, तस्य कदापि पुरोवर्तिन्यसत्त्वात्।

ननु लौकिकपरमार्थदृष्टः सर्पः पुरोवर्तिनि प्रसक्तो न वा? आद्ये, अन्यथाख्यातिः। अन्त्ये, निषेधानुपपत्तिः, प्रसक्तस्यैव प्रतिषेध्यत्वात्।

अत्र वदन्ति— लौकिकपरमार्थत्वेन प्रतिभासमानरजताभाव एव विषयः, व्यधिकरणावच्छिन्न-प्रतियोगिकाभावस्य प्रतियोग्यधिकरणेऽपि स्वीक्रियमाणत्वात्, यथा शृङ्गवत्यां गवि शशीयत्वावच्छिन्न-शृङ्गाभावः इति।

परन्तु इस मत में एक समस्या है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि जिस लौकिक परमार्थ दृष्ट सर्प का निषेध *'नायं सर्पः'* यह सर्प नहीं है, इस प्रकार के बाधज्ञान के द्वारा विषय किया जा रहा है, वह लौकिक परमार्थ दृष्ट सर्प पुरोदृश्यमान देश में प्रथमसञ्जात ज्ञान के द्वारा विषय किया गया है या नहीं? यदि विषय किया गया है तब तो अनिर्वचनीयख्याति नहीं रह जायेगी, अन्यथाख्याति हो जायेगी क्योंकि पुरोविद्यमान देश में लौकिक परमार्थ दृष्ट सर्प तो है ही नहीं, तथा भ्रमात्मक ज्ञान के द्वारा विषय वही किया गया है, भ्रम में भान उसी का हो रहा है। जबकि वहाँ पर लौकिक परमार्थ दृष्ट सर्प है ही नहीं, प्रातिभासिक सर्प है। जो जहाँ नहीं है अगर उसका वहाँ भान हो रहा है, तब तो अन्यथाख्याति ही होगी। यदि आप कहो कि लौकिक परमार्थ दृष्ट सर्प का भान प्रथमसञ्जात ज्ञान के द्वारा हुआ ही नहीं है, तो समस्या यह होगी कि जिसका भान ही नहीं हुआ, जो प्रसक्त ही नहीं है, उसका निषेध किस प्रकार से किया जा सकेगा? जो जहाँ पर प्रतिभासित ही नहीं हुआ है, उसका तो वहाँ पर निषेध ही नहीं किया जा सकता। लौकिक परमार्थ दृष्ट सर्प तो पुरोविद्यमान देश में भासित ही नहीं हुआ है तो उसका निषेध किस प्रकार किया जा सकेगा?

इस समस्या का समाधान दिया जाता है कि प्रतिभासमान सर्प का ही (प्रातिभासिक सर्प का ही) लौकिक परमार्थत्वेन निषेध *'नायं सर्पः'* यह सर्प नहीं है, इस प्रकार के बाधज्ञान के द्वारा विषय किया जाता है। प्रातिभासिक रजत का लौकिक परमार्थत्वेन निषेध व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावरूप होने के कारण प्रतियोगी के अधिकरण में भी स्वीकार किया जाता है। जैसे शृङ्गवाली गाय में भी शशीयशृङ्ग का अत्यन्ताभाव रहता है क्योंकि शश को शृङ्ग तो होता ही नहीं है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का तात्पर्य ऐसे अभाव से है, जिस अभाव की प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता के अधिकरण में न रहनेवाले धर्म से अवच्छिन्न होती हो। सामान्यतया माना जाता है कि अभाव की प्रतियोगिता स्वसमानाधिकरण (अपने अधिकरण में रहनेवाले) धर्म से अवच्छिन्न होती है। यथा 'भूतले घटो नास्ति' भूतल पर घट नहीं है, इस प्रकार से यदि घट का सामान्य अभाव लिया जाये तो इस घटसामान्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म होता है घटत्व। घटत्व भी घट में है तथा प्रतियोगिता भी घट में है। इस कारण इस अभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगितासमानाधिकरण धर्म घटत्व से अवच्छिन्न होती है। परन्तु यदि 'शशीयशृङ्ग नहीं है' इस प्रकार से अभाव लिया जाये तो यह अभाव केवलान्वयी होता है, यह अभाव सर्वत्र रहता है क्योंकि शृङ्ग जहाँ कहीं पर भी रहेगा, वहाँ पर शृङ्गत्वेन ही रहेगा, शशीयशृङ्गत्वेन

तत्रेदं चिन्त्यम्—न तावत् सिद्धान्ते व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावः, प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिसत्त्वापेक्षया प्रतियोगिसत्त्वस्य लघुत्वेनाभावसत्त्वे तस्यैव विरोधित्वात्, न प्रतियोगिमति तदभाव इत्यादिदूषणगणग्रस्तस्याङ्गीकरणे प्रमाणाभावात्।

न च तादृशो ग्रन्थोऽस्ति, येन दूषणगणग्रस्तोऽपि स्वीकार्यः।

न च परमताभिप्रायेणायं ग्रन्थ इति वाच्यम्? स्वमतेनैवोपपत्तावभिप्रायेण नयनस्य शिष्यधन्धनत्वात्[1]।

नहीं। शशीयत्वेन शृङ्ग कहीं पर भी रह नहीं सकता। इसलिए इस अभाव की प्रतियोगिता तो शृङ्ग में है क्योंकि शृङ्ग का अभाव लिया जा रहा है। परन्तु प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म होता है शशीयशृङ्गत्व क्योंकि वह अभाव शशीयशृङ्गत्वेन लिया जा रहा है। प्रतियोगिता का अधिकरण है शृङ्ग, परन्तु उसमें प्रतियोगिता का अवच्छेदक बननेवाला धर्म शशीयशृङ्गत्व विद्यमान नहीं है, इस कारण इस अभाव की प्रतियोगिता अपने अधिकरण में न रहनेवाले धर्म अर्थात् अपने व्यधिकरणधर्म से अवच्छिन्न है; तथा ऐसा अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक है। इस कारण प्रथम ज्ञान उत्पन्न होने में भी कोई असुविधा नहीं है, साथ ही साथ निषेध में भी कोई असुविधा नहीं है।

परन्तु इस पक्ष में भी एक अन्य समस्या है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। सिद्धान्ततः अद्वैतवेदान्ती व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को स्वीकार करते नहीं हैं। न्यायपरम्परा में भी गङ्गेशोपाध्याय आदि विद्वानों ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को स्वीकार न करने के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ तक कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को स्वीकार करने के लिए कोई तर्क भी उपलब्ध नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसत्त्व को अभाव का विरोधी मानने की अपेक्षा प्रतियोगिसत्त्व को ही अभाव का विरोधी मानना उचित है क्योंकि केवल प्रतियोगी की सत्ता अभाव की विरोधिनी नहीं होती। गुण की सत्ता होने पर भी विशेषगुण का अभाव अनुभवविषय होता है। यदि प्रतियोगिसत्त्वमात्र अभाव का विरोधी होता तो गुणवत्ता का ज्ञान होने पर विशेषगुण का अभाव बोधगम्य नहीं होना चाहिए था। परन्तु ऐसा होता नहीं। इस कारण प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिसत्त्व को ही अभाव का विरोधी मानना उचित है। इसके अतिरिक्त प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान अभावबुद्धि के प्रति कारण होता है। इसको सामान्य शब्दावली में कहा जाये तो इसका तात्पर्य है कि प्रतियोगितावच्छेदक से विशिष्ट प्रतियोगी का ज्ञान होने के उपरान्त ही उस प्रतियोगी के अभाव का ज्ञान हो सकता है। तब तक घट के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, जब तक कि घट का ज्ञान न हो। यदि इदम्प्रथमतया घट का ज्ञान है, तभी घट के अभाव का ज्ञान सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस परिस्थिति में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को नहीं स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि 'शशीयशृङ्ग नहीं है' इस प्रकार के अभाव का ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक होगा कि पहले शशीयत्व से विशिष्ट शृङ्ग का ज्ञान हो। शृङ्ग है प्रतियोगी, तथा शशीयत्व है प्रतियोगितावच्छेदक। चूँकि अभावबुद्धि के लिए

१.शिष्यदन्धनमिति पूर्वसंस्करणे पाठः। शिष्यधन्धनमिति तु स्यात्। शिष्यधन्धनमिति मैथिलेषु प्रसिद्धः शब्दः, अस्यार्थो भवति शिष्यो न जानाति, अतः स्वच्छन्दतया तं सङ्गतमसङ्गतं वा यत्किञ्चिदपि बोधनम्।

किञ्च 'कालत्रयेऽपि सर्पो नास्ति' इति प्रतीतिर्न व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावविषयिणी। 'यत्प्रकारक-प्रतियोगिज्ञानमभावज्ञाने कारणम्, तत्प्रकारेण प्रतियोग्यवगाहि अभावज्ञानम्' इति नियमः सर्वसिद्धः। न हि 'अत्र कालत्रयेऽपि सर्पो नास्ति' इत्यत्र लौकिकपरमार्थत्वेन सर्पो भासते, अनुभवविरोधात्।

अपि च अभावज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिज्ञानं कारणम्, अन्यथा निर्विकल्पकाद-प्यभावधीः स्यादिति सर्वसिद्धम्। न च प्रतिभासमानरजतविशेष्यकं लौकिकपरमार्थत्वप्रकारकं च ज्ञानं सम्भवति। तद्धि लौकिकपरमार्थत्वं देशान्तरीयमिह प्रकारीभूय भासते, उत अधिष्ठानसत्त्वप्रयुक्तमत्रत्यमेव?

प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्ट प्रतियोगी का ज्ञान होना आवश्यक तथा अनिवार्य है, इस कारण शशीयत्वविशिष्ट शृङ्ग का ज्ञान प्रथमतया होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार का शशीयत्वविशिष्ट शृङ्ग का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। इसी कारण गङ्गेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि के व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव प्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा है कि *'प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः'* 'प्रतियोगी में न रहनेवाला धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता है। यदि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान को अभावबुद्धि के प्रति कारण न माना जाये, केवल प्रतियोगी के ज्ञान को ही अभावज्ञान के प्रति कारण माना जाये; तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आयेगी कि निर्विकल्पकात्मक प्रत्यक्ष के उपरान्त भी अभावबुद्धि होने लगेगी। विभिन्न दर्शनपरम्पराओं में प्रत्यक्ष के दो भेद माने जाते हैं निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्ष के तुरन्त बाद प्राथमिक रूप से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। उसके बाद सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु का ज्ञान विशेषण तथा विशेष्य के रूप में होता है, किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु का ज्ञान स्वरूपतः होता है, कोई विशेषण या विशेष्य के रूप में नहीं जाना जाता है। प्राथमिक प्रत्यक्ष नाम-जाति आदि विकल्पों से रहित वस्तुमात्रग्राही होता है, जिसमें किसी का विशेषण के रूप में तथा किसी अन्य का विशेष्य के रूप में ज्ञान नहीं होता। इसी कारण उसको निर्विकल्पक कहा जाता है। अभाव का ज्ञान तभी हो सकता है, यदि प्रथमतया प्रतियोगितावच्छेदक का विशेषण के रूप में ज्ञान हो जाये। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में किसी का भी विशेषण के रूप में भान नहीं होता, इसी कारण निर्विकल्पक ज्ञान के आधार पर अभावबुद्धि होती नहीं है। घट का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी घटरूप प्रतियोगी का ज्ञान तो है ही, परन्तु उस ज्ञान के आधार पर घट के अभाव की बुद्धि नहीं होती। निर्विकल्पकात्मक प्रतियोगिज्ञान के उपरान्त अभावबुद्धि का हाना हमारे किसी भी अनुभव से सङ्गत नहीं होता। इसी कारण कोई भी दार्शनिक निर्विकल्पक प्रतियोगिज्ञान के उपरान्त अभावबुद्धि को स्वीकार नहीं करता। इसलिए यही मानना चाहिए कि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान ही— प्रतियोगिता का नियमन करनेवाले धर्म को विशेषण के रूप में विषय करनेवाला प्रतियोगी का ज्ञान ही—अभावबुद्धि के प्रति कारण होता है, न कि प्रतियोगिज्ञानमात्र। जिसको विशेषण के रूप में विषय करते हुए प्रतियोगी का ज्ञान होता है, उसी तरह के प्रतियोगिज्ञान को अभावज्ञान के प्रति कारण मानना उचित है। ऐसा प्रतियोगिज्ञान प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान ही हुआ करता है। प्रतिभासमानसर्पादिविशेष्यक लौकिकपरमार्थत्वप्रकारक ज्ञान—प्रातिभासिक सर्पादि को विशेष्य बनानेवाला तथा लौकिकपरमार्थत्व को विशेषण बनानेवाला ज्ञान— तो सम्भव नहीं है। जो

नाद्यः, अन्यथाख्यात्यापत्तेः। अन्त्ये, न व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावत्वम्, अधिष्ठानसत्त्वप्रयुक्तस्य लौकिकपरमार्थत्वस्य प्रतिभासमानरजतनिष्ठत्वेन प्रतियोगितासमानाधिकरणत्वात्। प्रतियोगिताव्यधिकरणस्य च यत्र प्रतियोगितावच्छेदकत्वं स व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावः। तस्मात् 'कालत्रयेऽपि सर्पो नास्ति' इति प्रतीतेर्न व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावविषयकत्वमिति।

प्रातिभासिक है, वह लौकिक-परमार्थ किस प्रकार से हो सकता है? इस कारण लौकिकपरमार्थत्वप्रकारक-प्रातिभासिक सर्पादिविशेष्यक ज्ञान तो सम्भव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में किस प्रकार से लौकिकपरमार्थत्वेन प्रातिभासिक सर्प का निषेध किया जा सकता है? जब लौकिकपरमार्थत्वेन प्रातिभासिक सर्प का ज्ञान सम्भव नहीं है, तो किसी भी प्रकार से लौकिकपरमार्थत्वेन प्रातिभासिक सर्प का निषेध नहीं हो सकता है।

प्रश्न यह भी है कि लौकिकपरमार्थत्व भी क्या देशान्तरीय प्रतीत होता है, या अधिष्ठानसत्त्व से प्रयुक्त एतद्देशीयलौकिकपरमार्थत्व ही भासित होता है? यदि प्रथम पक्ष हो तो अन्यथाख्याति हो जायेगी क्योंकि देशान्तरीय लौकिकपरमार्थत्व प्रतीत हो रहा है। यदि अधिष्ठानसत्ता से प्रयुक्त एतद्देशीय लौकिकपरमार्थत्व भासित हो रहा है, तो फिर यह अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं हुआ क्योंकि अधिष्ठानसत्ता से प्रयुक्त लौकिकपरमार्थत्व तो जिस प्रकार से व्यावहारिक सर्प में है, उसी प्रकार प्रातिभासिक सर्प में भी है।

इस कारण यही मानना उचित है कि 'कालत्रयेऽपि सर्पो नास्ति' तीनों कालों में सर्प नहीं है, ऐसी प्रतीति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को विषय नहीं करती।

कुछ अन्य आचार्य इस निषेध की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं कि *'कालत्रयेऽपि सर्पो नास्ति'* तीनों कालों में सर्प नहीं है, ऐसी प्रतीति प्रतिभासमान सर्प के ही—जो सर्प भासमान है, उसी प्रातिभासिक सर्प के—त्रैकालिक अभाव को विषय करती है। इस पक्ष में समस्या यह है कि पुरोवर्ती देश में प्रातिभासिक सर्प तो है ही, फिर उसका त्रैकालिक निषेध किस प्रकार से किया जायेगा तथा उस निषेध की प्रतीति किस प्रकार से हो सकेगी? तो इसका समाधान ये आचार्य इस प्रकार से देते हैं कि सर्प के अनिर्वचनीय होने के कारण उस प्रातिभासिक सर्प का निषेध सम्भव होता है। विवरणाचार्य का भी तात्पर्य इसी पक्ष में है, ऐसा ये आचार्यगण मानते हैं। परन्तु लौकिक परमार्थ दृष्ट रजत का निषेध करने का तात्पर्य इस मत में कुछ भी नहीं दिखाया जा सकता है। इस कारण यह मत भी सङ्गत नहीं दिखायी देता।

यहाँ विचारणीय है कि 'लौकिक परमार्थ दृष्ट रजत के निषेध से' विवरणाचार्य का आशय क्या है? तो लौकिक परमार्थदृष्ट अन्यदेशस्थ (किसी दूसरे देश में स्थित) सर्प के त्रैकालिक अभाव को यह निषेध-प्रतीति विषय करती है, यही विवरणाचार्य का तात्पर्य समझ में आता है। परन्तु लौकिक परमार्थदृष्ट अन्यदेशस्थ सर्प के अभाव को यह निषेध-प्रतीति किस प्रकार विषय कर सकती है क्योंकि लौकिक परमार्थदृष्ट अन्यदेशस्थ सर्प तो पुरोवर्ती देश में प्रसक्त ही नहीं है। अप्रसक्त का निषेध किस प्रकार से किया जा सकता है? तो इस अप्रसक्ति का क्या तात्पर्य है यह भी देखना चाहिए। यदि कहा जाये कि लौकिक परमार्थदृष्ट अन्यदेशस्थ सर्प के स्मरण का अभाव ही अप्रसक्ति है तो यह ठीक नहीं क्योंकि यह कहना सम्भव नहीं है कि पुरोवर्ती में जब सर्पभ्रम होता है, तो उस काल

अन्ये तु— त्रैकालिकनिषेधस्य प्रतिभासमानरजताभाव एव विषयः। न च पुरोवर्तिनि सर्पाङ्गीकारात् कथं त्रैकालिकनिषेधप्रतीतिरिति वाच्यम्? सर्पस्यानिर्वचनीयत्वात्। अयमेव चार्थः 'लौकिकपरमार्थदृष्ट-' इत्याचार्यग्रन्थस्येति— वदन्ति। अत्र च लौकिकपरमार्थेत्यादेर्न किञ्चित्कृत्यमिति दूषणं वेदितव्यम्।

कस्तर्ह्येतद्ग्रन्थाभिप्रायेण प्रतीतिविषय इति चेत्? शृणु— लौकिकपरमार्थदृष्टापणस्थरजताभाव एव।

तस्य पुरोवर्तिनि अप्रसक्तत्वेन कथं निषेध इति चेत्? का तेऽप्रसक्तिस्तां न विद्मः।

स्मरणाभाव एवेति चेत्? त्वया तदभावः कथमत्रावधारितः?

नन्वारोपाभाव एवाप्रसक्तिः, पुरोवर्तिनि आपणस्थरजतस्यारोपासम्भवात्; अन्यथा अन्यथाख्यात्यापत्तेरिति चेत्? अत्र समाधानमुक्तं तत्त्वदीपनाचार्यैः— 'रजताभासप्रसक्त्या परमार्थरजतस्यापि बुद्धिस्थत्वादत्र निषेधः,सामान्योपाधौ प्रसक्तस्य.घटस्य निषेधवत्'[1] इति।

में लौकिक परमार्थदृष्ट अन्यदेशस्थ सर्प का स्मरण नहीं हुआ है। सर्पभ्रमकाल में लौकिक परमार्थदृष्ट अन्यदेशस्थ सर्प के स्मरण का अभाव किसी भी प्रमाण से निर्धारित नहीं किया जा सकता।

ऐसा कहा जा सकता है कि अप्रसक्ति का तात्पर्य आरोप का अभाव है। आरोप तथा स्मरण में अन्तर यह है कि उद्बोधकादि का समवधान होने पर स्मरण स्वयं अपनी कारणसामग्री से सम्भव होता है, परन्तु आरोप के लिए इच्छा की भी अपेक्षा होती है, किञ्चित् कल्पना की अपेक्षा होती है। परन्तु आरोप भी स्वीकार्य नहीं है। पुरोवर्ती में अन्यदेशस्थ सर्प का आरोप असम्भव है, क्योंकि यदि पुरोवर्ती में अन्यदेशस्थ सर्प का आरोप किया गया, तो अन्यथाख्याति हो जायेगी। अतः जो अनारोपित है उसी का निषेध हो रहा है, ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

इस प्रश्न पर तत्त्वदीपनाचार्य ने समाधान दिया कि प्रातिभासिक रजत का ज्ञान होने के काल में परमार्थ (व्यावहारिक) रजत भी बुद्धिस्थ होता है। इसी कारण उस व्यावहारिक रजत का निषेध किया जाता है। जैसे कि सामान्य उपाधि में प्रसक्त घट का निषेध किया जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि अभाव का ज्ञान होने के लिए प्रतियोगी का स्मरण कारण होता है, न कि प्रतियोगी का आरोप। इस कारण विना सर्पादि का आरोप किये भी सर्प का निषेध किया जा सकता है। सर्प का आरोप करना सर्प का निषेध करने के लिए आवश्यक नहीं है। इस कारण यद्यपि अन्यदेशस्थ परमार्थ दृष्ट सर्पादि पुरोवर्ती रज्जु आदि में आरोपित नहीं हैं, तथापि उनका स्मरण हुआ है। इस कारण उनका निषेध किया जा सकता है। यदि प्रतियोगिस्मरण के समान प्रतियोगी का आरोप भी अभावबुद्धि के लिए कारण होता, तब तो यह कहा जा सकता था तथा ऐसा प्रश्नहो सकता था कि जब आरोप किया ही नहीं गया तो उसका निषेध किस प्रकार किया जा सकता है? परन्तु अभावबुद्धि के प्रति प्रतियोग्यारोप के कारण नहीं होने के कारण प्रतियोगी अन्यदेशस्थ परमार्थ दृष्ट सर्पादि के आरोप के विना भी उस अन्यदेशस्थ परमार्थ दृष्ट सर्पादि का निषेध किया जा सकता है।

१.तत्त्वदीपने समानानुपूर्वीका तादृशी पङ्क्तिस्तु मया न लब्धा। एषा पङ्क्तिस्तु लब्धा यस्या आशयः स एव — 'रूप्याभासप्रसक्त्या तत्प्रसक्तेरावेदितत्वादित्याशयः' पृ.१२५, पञ्चपादिका (विवरण,तत्त्वदीपन-ऋजुविवरणयुता) महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी,

अयमाशयः— अभावज्ञाने प्रतियोगिस्मरणं कारणम्। न तु प्रतियोग्यारोपः[1], तस्य कारणत्वे प्रमाणा-भावात्।

ननु यदि नारोपः कारणम्, तदा अत्यन्ताभावबोधसमयेऽन्योन्याभावबोधोऽपि भासेत, प्रतियोगिता-वच्छेदकप्रकारकप्रतियोगिज्ञानसामग्र्यास्तुल्यत्वात्। आरोपस्य तु कारणत्वे अत्यन्ताभावबोधसमये नान्योन्याभावभानम्, अन्योन्याभावज्ञानजनकीभूततादात्म्यारोपाभावादिति चेत्?

मैवम्, तथापि तव मते संसर्गारोपसमये कथं न तादात्म्यारोपः? तज्जनकीभूतेच्छाभावादिति चेत्? कस्मात् तज्जनकीभूतेच्छाभावः? दैववशादेवेति चेत्? 'तद्धेतोरेवास्तु तद्धेतुत्वं मध्ये किं तेन' इति न्यायेन

न्यायपरम्परा में प्राचीन नैयायिकों का यह मानना था कि अभाव का ज्ञान होने के लिए प्रतियोगी का आरोप कारण होता है। उनका कथन था कि विना प्रतियोगी का आरोप किये प्रतियोगी का निषेध नहीं किया जा सकता है। परन्तु नव्यनैयायिकों ने प्रतियोगी के आरोप को अभावबुद्धि के लिए कारण नहीं माना है। प्रतियोगिज्ञानमात्र अभावबुद्धि के प्रति कारण होता है। प्रतियोगिस्मरणात्मक प्रतियोगिज्ञानमात्र से ही अभावबुद्धि सम्भव होती है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि प्रतियोगी का आरोप अभावबुद्धि के लिए कारण नहीं होता है, तब किस प्रकार से अत्यन्ताभाव के बोध के काल में अन्योन्याभाव का बोध नहीं होता? आपने अभावबुद्धि के लिए प्रतियोगी के आरोप को कारण तो माना नहीं है, केवल प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञान को ही कारण माना है। यह कारणसामग्री तो अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव दोनों प्रकार के अभावों के लिए समान है। जब अत्यन्ताभाव व अन्योन्याभाव दोनों ही अभावों के प्रति समान रूप से प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक प्रतियोगिज्ञानमात्र को ही कारण मानना है, तो जिस समय अत्यन्ताभाव का बोध होता है, उसी काल में अन्योन्याभावबोध भी होना चाहिए। क्योंकि दोनों की कारणसामग्री तो समान है। अभावबुद्धि के लिए प्रतियोगी के आरोप को कारण मानने पर तो अत्यन्ताभाव के बोध के काल में अन्योन्याभाव के बोध की आपत्ति नहीं आती कि अत्यन्ताभाव-बोध के प्रति प्रतियोगिसंसर्ग का आरोप कारण होता है, अन्योन्याभाव-बोध के प्रति प्रतियोगितादात्म्य का आरोप कारण होता है। इस कारण जिस समय प्रतियोगी के संसर्ग का आरोप किया जाता है, उस समय केवल अत्यन्ताभावबुद्धि होती है। जब प्रतियोगितादात्म्य का आरोप किया जाता है, तब अन्योन्याभावबुद्धि होती है। इस कारण प्रतियोगी के आरोप को अभावबुद्धि के प्रति कारण मानना चाहिए।

परन्तु समस्या केवल यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। प्रश्न तो उसके ऊपर भी बनता है जो प्रतियोगी के आरोप को अभावबुद्धि के प्रति कारण मानता है। उससे यह पूछा जाना चाहिए कि आरोप भी तो अकारण नहीं होता है। जिस प्रकार ज्ञान अपने कारण से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार आरोप भी तो अपने कारण से ही उत्पन्न होगा। तो जिस समय प्रतियोगी के संसर्ग का आरोप किया जा रहा है, उसी समय प्रतियोगी के तादात्म्य का आरोप क्यों नहीं किया जाता? आप यह कह सकते हैं कि जिस समय प्रतियोगी के संसर्ग का आरोप किया जा

१.स्मरणं तूद्बोधकवशाज्जायते, आरोपस्त्विच्छया भवति, यथा- 'यद्यत्र घटः स्यादुपलभ्येत'। एतादृशः आरोपस्त्विच्छया जायमानो मानसोऽनुभव इति न्यायसिद्धान्तः।

तस्मादेव दैववशात् कदाचिदत्यन्ताभावबोधः, कदाचिदन्योन्याभावबोध इत्युपपत्तौ व्यसनितया-ऽऽरोपेच्छाङ्गीकरणे प्रमाणाभावात्, यथा हि तुरगादौ वेगेन गच्छतः सर्ववृक्षेन्द्रियसन्निकर्षेऽपि कदाचित् कस्यचिज्ज्ञानं कदाचित् कस्यचित्।

किञ्च परमते घटघटत्वविषयकनिर्विकल्पकाविशेषेऽपि कदाचिद्घटविशेष्यकं घटत्वविशेषणकम्, कदाचित्तु तद्विपरीतम्। न तु तत्रापि सामग्र्यन्तरम्, मानाभावात्, किन्तु दैवादेव। तेनैवात्राप्युपपत्तौ किमन्तर्गडुनाऽऽरोपेण? तथा च रजताभासप्रसक्त्या स्मर्यमाणरजताभावस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतीति-विषयत्वम्। आरोपश्च न कारणम्।

भवतु वा आरोपश्च[1] कारणम्, तथापि नानुपपत्तिः। तस्य हि न समानप्रकारकारोपत्वेन, किन्त्वारोपत्वेनैव, लाघवात्[2]। पुरोवर्तिनि रजतस्य रजतत्वेन ज्ञानादारोपोऽस्त्येव। तस्माल्लौकिकपरमार्थदृष्टापणस्थरजताभाव एव त्रैकालिकनिषेधप्रतीतिविषयः।

रहा है, उस समय प्रतियोगी के तादात्म्य के आरोप की इच्छा नहीं है। इस कारण प्रतियोगितादात्म्य का आरोप नहीं किया जाता है। तो प्रश्न फिर भी आयेगा कि ऐसी इच्छा ही किस कारण नहीं है? यदि आप कहें कि दैववशात् ऐसी इच्छा नहीं है, तो इसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि दैववशात् कभी प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक-प्रतियोगिज्ञान से अत्यन्ताभाव का बोध होता है तथा कभी अन्योन्याभाव का बोध होता है। इसमें बीच में प्रतियोग्यारोप को लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे रेलगाड़ी आदि शीघ्रगामी वाहनों पर यात्रा करते समय इन्द्रिय का सन्निकर्ष समस्त वृक्षों से समान रूप से होने पर भी कभी कोई वृक्ष दिखायी देता है, कभी कोई नहीं दिखायी देता। सभी वृक्ष तो समान रूप से प्रत्यक्ष विषय नहीं हो पाते हैं। उसी प्रकार यहाँ पर भी कभी प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रतियोगिज्ञान से अत्यन्ताभाव का बोध होता है तथा कभी अन्योन्याभाव का बोध होता है, ऐसा माना जा सकता है।

जो नैयायिक प्रतियोग्यारोप को अभावबुद्धि के प्रति कारण मानने का आग्रह करते हैं, उनसे यह पूछना चाहिए कि घट व घटत्व विषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के उपरान्त कभी घटविशेष्यक घटत्वप्रकारक सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, तथा कभी घटत्वविशेष्यक घटप्रकारक सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है। यह विशेष्य-विशेषणभाव में अन्तर किस कारण से होता है? निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो दोनों स्थलों में समान है। वहाँ पर क्या कोई अन्य सामग्री स्वीकार की जाती है, जिसके रहने या न रहने से दोनों स्थलों में प्रत्यक्ष में विशेष्य-विशेषणभाव का अन्तर दिखता है? परन्तु किसी अन्य सामग्री को कारण मानने में तो कोई प्रमाण नहीं है। यही मानना पड़ेगा कि दैववश ही कभी घटविशेष्यक घटत्वप्रकारक सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, तथा कभी घटत्वविशेष्यक घटप्रकारक सविकल्पक

१.चकारोऽप्यर्थकः।

२.तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबुद्धिं प्रति तद्धर्मप्रकारक आरोपः कारणमिति रीत्या कार्यकारणभावस्वीकारापेक्षया अभावबुद्धिं प्रति आरोपः कारणमिति रीत्या कार्यकारणभावस्वीकारे लाघवं विद्यते यतो हि अभावबुद्धिं प्रति सामान्यतया आरोपस्य कारणत्वस्वीकारे कार्यतावच्छेदककोटौ कारणतावच्छेदककोटौ चोभयत्र लाघवम्।

ननु शुक्तौ त्रैकालिकरजताभावप्रत्ययवत् 'नेह नाना' इतिशास्त्रादनिर्वचनीयसकलप्रपञ्चाभावश्चैतन्येऽवगम्यते; तत्र का गतिरिति चेत्? अत एव प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वम्। प्रपञ्चस्तु दृश्यते। श्रुतौ तु त्रैकालिकनिषेधोऽवगम्यते, तेनानिर्वचनीयत्वम्। अनिर्वचनीयस्य च स्वाभावसामानाधिकरण्यं न विरुद्धम्। अतः 'नेह नाना' इति शास्त्रादवगम्यमानश्चैतन्ये त्रैकालिकप्रपञ्चाभावो न विरुद्धः।

नन्वेवं पुरोवर्तिनि रजताभावोऽपि प्रपञ्चाभाववत् त्रैकालिकनिषेधविषयोऽस्तु, तस्याप्यनिर्वचनीयत्वादिति चेत्? सत्यम्, तस्यैवाभावो निषेधविषयः सम्भवति। विवरणाचार्यैरपि— 'प्रतिपन्नोपाधौ निषिध्यमानविषयत्वं मिथ्यात्वम्'[1] इत्यादिग्रन्थ इदमुक्तम्। लौकिकपरमार्थदृष्टरजताभावविषयत्वं तु प्रौढ्योक्तमित्यस्मद्गुरवः। तस्मात् नानिर्वचनीयरजताङ्गीकारे निषेधप्रतीत्यनुपपत्तिः। ततश्च युक्तमुक्तमनिर्वचनीयसर्पारोपवदिति।

प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी माना जा सकता है कि यद्यपि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रतियोगिज्ञान अत्यन्ताभावबुद्धि तथा अन्योन्याभावबुद्धि दोनों के प्रति समान रूप से कारण होता है, तथापि कभी उससे अत्यन्ताभावबुद्धि होती है कभी अन्योन्याभावबुद्धि। बीच में प्रतियोग्यारोप को कारण के रूप में लाने की आवश्यकता नहीं है। इस तरह सिद्धान्ततः यही मानना उचित है कि भ्रमस्थल में 'अयं सर्पः' यह सर्प है, इस प्रकार के ज्ञान का विषय तो प्रातिभासिक रजत ही हो रहा है। परन्तु तदनन्तर भावी 'नायं सर्पः' यह सर्प है, इस प्रकार के निषेधविषयक ज्ञान का विषय उस प्रातिभासिक सर्प का निषेध नहीं हो रहा है, अपितु अन्यदेशस्थ व्यावहारिक सर्प का निषेध उसका विषय हो रहा है।

यदि प्रतियोग्यारोप को अभावबुद्धि के प्रति कारण मान भी लिया जाये तो भी वस्तुतः कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि आरोप को समानप्रकारक आरोपत्वेन कारण नहीं मानेंगे, किन्तु आरोपत्वेन कारण मानेंगे। समानप्रकारक आरोप कारण नहीं है किन्तु आरोपमात्र कारण है। पुरोवर्ती में सर्प का सर्पत्वेन ज्ञान होने के कारण आरोप तो है ही। इस कारण लौकिक परमार्थ दृष्ट अन्यदेशस्थ सर्प का अभाव ही त्रैकालिक निषेधप्रतीति का विषय होता है।

इसी प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भासमान संसार का निषेध 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा किया जाता है। इसी कारण प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं। प्रपञ्च प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भासमान है, इस कारण असत् नहीं हो सकता। श्रुति से उसका निषेध किया जा रहा है। यदि प्रपञ्च सत् होगा तो उसका निषेध किया ही नहीं जा सकेगा। इसी कारण प्रपञ्च का भान तथा निषेध दोनों के साथ-साथ अन्यथा सम्भव न होने के कारण प्रपञ्च की अनिर्वचनीयता को स्वीकारना पड़ता है। वस्तुतः को केवल अनिर्वचनीय का ही निषेध किया जा सकता है, न तो सत् का न ही असत् का। इसी अभिप्राय से विवरणाचार्य ने कहा है कि 'प्रतिपन्नोपाधौ निषिध्यमानविषयत्वम् मिथ्यात्वम्' प्रतीति के विशेष्य में ही जिसके विषय का निषेध किया जाता हो, उसी को मिथ्या कहते हैं। संसार इसी प्रकार का है, जहाँ पर भासमान है वहीं पर नहीं है, इसी कारण मिथ्या है। लौकिकपरमार्थदृष्ट रजत, सर्पादि के अभाव को यह निषेधप्रतीति विषय करती है, यह तो विवरणाचार्य ने केवल प्रौढिवाद से कहा है,

१. विवरणाचार्याणां भवत्येवं पङ्क्तिः— 'प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं नाम' पृ.१०६, पञ्चपादिकाविवरणे।

वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म।

दार्ष्टान्तिकमाह— **वस्त्विति। सदिति।** श्रुतितो युक्तितश्च बाधानुपलम्भादिति भावः। 'असदेवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतेश्च अनभिव्यक्तनामरूपविषयत्वात्। अन्यथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिव्याकोपः स्यात्। **चिदिति।** 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः। न चात्मनो ज्ञानरूपत्वे 'अहं ज्ञानवान्' इति प्रत्ययः कथमिति वाच्यम्? वृत्तिविषयत्वेन[1] तदुपपत्तेः। **आनन्देति।** उक्तश्रुतेः, परमप्रेमास्पदत्वाच्च, हैरण्यगर्भभोगविरक्तानामप्यभिलषितत्वाच्च। **अद्वयमिति।** 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेः, भेदे मानाभावाच्च, एकस्मिन् शरीरे हस्तपादाद्युपाधिवशेन सुखदुःखवैचित्र्यस्यौपाधिकत्वात्।

ऐसा आपदेव के गुरुजी का मानना है। इस कारण अनिर्वचनीय रजत-सर्पादि को स्वीकार करने में प्रतिषेध की अनुपपत्ति होगी ऐसा नहीं है।

अध्यारोप का तात्पर्य बताया वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। परन्तु वह वस्तु क्या है तथा अवस्तु क्या है? यह निश्चित रूप से प्रतिपादित करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहा जा रहा है—

वस्तु सच्चिदानन्द अनन्त अद्वय ब्रह्म ही है। अज्ञान आदि समस्त जड का समूह अवस्तु है।

सच्चिदानन्द अनन्त अद्वय ब्रह्म ही केवल वस्तु है क्योंकि न तो श्रुति के द्वारा और न तो युक्ति के द्वारा ब्रह्म का बाध उपलब्ध होता है। श्रुतिवाक्य तो कोई भी ब्रह्मनिषेधपरक या सन्निषेधपरक प्राप्त ही नहीं होता है। *'असदेवेदमग्र आसीत्'* इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्म को असत् नहीं बताती हैं, किन्तु अनभिव्यक्त नामरूप को बताती हैं। क्योंकि इस श्रुति के द्वारा यदि सत्ता का निषेध किया जा रहा हो, तो *'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि श्रुतियों से विरोध हो जायेगा। इस कारण इस श्रुति के द्वारा सत्ता का निषेध नहीं किया जा रहा है, अपितु जगत् की अनभिव्यक्त नामरूपता बतायी जा रही है। ब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्द है। किसी भी प्रमाण से उसका निषेध नहीं किया जा सकता है, इसी कारण सत् है। ब्रह्म की चिद्रूता को *'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'* इत्यादि अनेक श्रुतियाँ बताती हैं, इस कारण ब्रह्म को चिद्रूप माना जाता है। परन्तु यदि ब्रह्म को अर्थात् आत्मा को चिद्रूप माना जायेगा तो *'अहं ज्ञानवान्'* मैं ज्ञानवान् हूँ, ऐसी प्रतीति किस प्रकार से हो सकेगी? तो इसका समाधान यह है कि इस प्रकार की प्रतीति वृत्तिरूप ज्ञान को विषय करती है। ब्रह्म को आनन्दरूप माना जाता है क्योंकि *'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'* इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म की आनन्दात्मकता को बताती हैं। इसके अतिरिक्त चूँकि आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय होता है, देवताओं, हिरण्यगर्भ आदि के भोगों से भी जो विरक्त हैं, उनको भी आत्माभिलाष होता है, इस कारण भी आत्मा की आनन्दात्मकता सिद्ध होती है। उस ब्रह्म को अद्वय कहा गया क्योंकि श्रुति प्राप्त होती है *'एकमेवाद्वितीयम्'* वह एक है तथा अद्वितीय है। परन्तु क्या केवल इस श्रुति के प्राप्त होने से ही उस ब्रह्म को एक व अद्वितीय मान लेते हैं, या अन्य भी कोई इसकी वजह है? तो केवल इसी कारण नहीं अपितु भेद में कोई प्रमाण नहीं होने के कारण भी अद्वैत को मानना पड़ता है। प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाण भेद को सिद्ध करने में अक्षम हैं। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि यदि भेद है ही नहीं, तो किस प्रकार से संसार में प्रतीयमान सुख-दुःखवैचित्र्य

१. वृत्तिर्नामान्तःकरणपरिणामः। अहङ्कारस्यान्तःपरिणामविशेषाश्रयतया 'अहं ज्ञानवान्' इति प्रतीतिरुपपन्ना भवति।

अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु।

अवस्त्विति। अनिर्वचनीयमित्यर्थः। सदसद्भिन्नत्वमनिर्वचनीयत्वम्। तच्च प्रपञ्चे आवश्यिकम्।

तथा हि— प्रपञ्चस्तावत् नासत्, अपरोक्षप्रथानुपपत्तेः। नापि सन्, बाध्यत्वानुपपत्तेः। न च तर्हि प्रपञ्चस्य स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं वक्तव्यम्, तच्च विरुद्धमिति वाच्यम्; तथा सति प्रागभावसामानाधिकरण्यमपि न स्यात्, अनुभवात्तत्स्वीक्रियत इति चेत्?

तर्हि 'नेह नाना' इत्यादिश्रुत्या अत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यमप्यनुभूयत इति तन्न विरुद्धम्। किञ्च प्रपञ्चसत्त्ववादिनापि प्रागभावध्वंसान्योन्याभावसामानाधिकरण्यं घटस्य मृत्पिण्डे स्वीक्रियते। एवञ्च

की उपपत्ति हो सकेगी। संसार में प्रतीयमान सुख-दुःख के वैचित्र्य का कोई कारण तो होना ही चाहिए। कोई सुखी कोई दुःखी होता है, इसकी व्यवस्था किस प्रकार सम्भव होगी, यदि आत्मा एक है। यदि आत्मा एक ही है, तो एक के सुखी होने पर सभी को सुखी तथा एक के दुःखी होने पर सबको दुःखी हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। तो ऐसा नहीं है; आत्मा के एक होने पर भी सुख-दुःख की व्यवस्था की अनुपपत्ति नहीं है। जिस प्रकार एक ही शरीर में हस्त-पाद आदि उपाधियों के भेद से भेद की व्यावहारिक व्यवस्था होती है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में अन्तःकरणात्मक उपाधि के भेद से सुख-दुःखादिवैचित्र्य की व्यवस्था हो जायेगी।

अज्ञान आदि जडसमूह को अवस्तु बताने का तात्पर्य अज्ञान आदि जडसमूह को मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय बताने से है। अनिर्वचनीय होने का तात्पर्य है सदसद्भिन्न होना। न तो सत् होना और न तो असत् होना ही मिथ्या या अनिर्वचनीय होना है। प्रपञ्च को मिथ्या मानना आवश्यक है क्योंकि यदि प्रपञ्च असत् होता तो उसकी प्रत्यक्षतः प्रतीति सम्भव नहीं थी। यदि सत् होता तो उसका बाध सम्भव नहीं था। परन्तु विचित्रता यह है कि प्रपञ्च की प्रत्यक्षतः प्रतीति भी होती है, तथा बाध भी होता है। प्रपञ्च की प्रतीति तथा बाध दोनों ही होने के कारण पता चलता है कि प्रपञ्च मिथ्या है क्योंकि प्रपञ्च सत् व असत् दोनों से ही विलक्षण है। यही सदसद्विलक्षणता ही तो अनिर्वचनीयता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि प्रपञ्च को अनिर्वचनीय माना गया तो प्रपञ्च में स्वात्यन्ताभाव-सामानाधिकरण्य मानना पड़ेगा—यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रपञ्च का भान जहाँ पर हो रहा है, उस प्रपञ्च का वहीं पर अभाव है। परन्तु यह स्वीकार करना तो युक्तिविरुद्ध व अनुभवविरुद्ध होगा कि जो वस्तु जहाँ पर भासमान है, उस वस्तु का वहीं पर अभाव है। तो यह नहीं कहा जा सकता है। उस वस्तु के अधिकरण में उसी वस्तु का अभाव स्वीकार करने में यदि युक्तिविरोध या अनुभवविरोध है; तो उसी वस्तु के प्रागभाव के अधिकरण में उसी वस्तु को स्वीकार करने में भी युक्तिविरोध या अनुभवविरोध क्यों नहीं होगा। कपाल-तन्तु आदि में ही घट-पटादि की उत्पत्ति होती है क्योंकि कपाल-तन्तु आदि घट-पटादि के समवायिकारण होते हैं। इस कारण घट-पटादि के अधिकरण होते हैं कपाल-तन्तु आदि। उन कपाल-तन्तु आदि में ही, जब तक घट-पट आदि की उत्पत्ति नहीं हुई रहती है, तब तक घट-पट आदि के प्रागभाव भी रहते हैं। इस प्रकार एक ही अधिकरण में कालभेद से प्रागभाव व

अत्यन्ताभावस्यापि घटसामानाधिकरण्यं वाच्यम् घटाभावत्वात्। किञ्च मृत्पिण्डघटप्रागभावयो-राश्रयाश्रयिभाव इत्यत्र तावन्न विवादः। तत्र प्रागभावस्याश्रयिता न प्रागभावत्वेन, गौरवात्; किन्तु घटाभावत्वेन,लाघवात् प्रध्वंसादावनुगतत्वाच्च। तथा च मृत्पिण्डघटात्यन्ताभावयोरप्याश्रयाश्रयिभाव आवश्यिकः।

अपि च घटस्य प्रागभावसामानाधिकरण्यं च तदत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यमुक्तमेव; अत्यन्ताभावातिरिक्तप्रागभावे मानाभावात्, प्राक्कालावच्छिन्नस्यैवात्यन्ताभावस्य प्रागभावत्वात्। 'इदानीं घटो नास्ति,

उस प्रागभाव के प्रतियोगी दोनों ही रहते हैं। यह न्याय-वैशेषिक परम्परा के विद्वानों को भी अनुमत है। यदि वस्तु में उस वस्तु के प्रागभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति आपको नहीं है, तो वस्तु के अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार करने में ही किस कारण आपत्ति होनी चाहिए?

यदि कहो कि वस्तु में उस वस्तु के प्रागभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार करने का कारण यह है कि इसी प्रकार का अनुभव होता है। परन्तु उसी वस्तु में उस वस्तु के अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार करने के लिए कोई आधारभूत अनुभव नहीं है। इस कारण वस्तु में उसी वस्तु के अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार नहीं किया जाता है। तो ऐसा नहीं है, क्योंकि *'नेह नानास्ति किञ्चन'* इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से उसी वस्तु में उस वस्तु के अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार करने के लिए भी पर्याप्त आधार उपलब्ध है, ये श्रुतियाँ यही तो बताती हैं।

इसके अतिरिक्त युक्तियाँ भी वस्तु में अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार करने के लिए हैं। जो नैयायिक इत्यादि दार्शनिक प्रपञ्च को सत्य मानते हैं, मिथ्या नहीं मानते, वे भी प्रागभाव, ध्वंस तथा अन्योन्याभाव का सामानाधिकरण्य वस्तु में स्वीकार करते हैं। जिस समवायिकारण में वस्तु का प्रागभाव पहले रहता है, उसी में उस वस्तु की सत्ता भी समवाय सम्बन्ध से होती है, उसी वस्तु में असमवायिकारण का नाश हो जाने से वस्तु का नाश भी रहता है तथा उस समवायिकारण में वस्तु का भेद भी रहता है। यथा वस्त्र का समवायिकारण होता है तन्तु, उसी तन्तु में वस्त्र की उत्पत्ति के पूर्व वस्त्र का प्रागभाव, तन्तुओं के अलग हो जाने पर वस्त्र के नष्ट हो जाने के उपरान्त वस्त्र का ध्वस तथा वस्त्र का भेद भी तन्तुओं में रहला है क्योंकि न्यायमत के अनुसार अवयव तथा अवयवी दो भिन्न-भिन्न वस्तु होते हैं। तो वस्तु में इन तीनों ही अभावों के सामानाधिकरण्य को देखकर अत्यन्ताभाव के भी प्रतियोगिसमानाधिकरण होने का सीधे-सीधे अनुमान किया जा सकता है— 'अत्यन्ताभाव भी प्रतियोगि के अधिकरण में रहता है अभाव होने के कारण प्रागभावादि की तरह'।

वस्तुतः तो प्रागभाव को अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त मानने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि प्रागभाव को अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त मानने में कोई प्रमाण नहीं है। 'इदानीं घटो नास्ति, किन्तु भविष्यति' अभी घट नहीं है, किन्तु आगे घट होगा, इत्यादि प्रतीतियों के द्वारा प्रागभाव को विषय नहीं किया जाता है किन्तु घटोत्पत्तिप्राक्काल से अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव ही विषय किया जाता है। इसी बात को रघुनाथ शिरोमणि आदि नव्यनैयायिकों ने भी स्वीकार किया है। प्राचीन नैयायिक प्रागभाव तथा ध्वंस के अधिकरण में अत्यन्ताभाव को नहीं स्वीकार करते।

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं

किन्तु भविष्यति' इति प्रतीत्यापि स एव विषयीक्रियत इति। तस्मादत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं न विरुद्धम्। ततश्च युक्तं प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वम्।

अज्ञानं निरूपयति— **अज्ञानं त्विति**। सत्त्वे बाधो न स्यात्; असत्त्वेऽपरोक्षप्रथा न स्यात्। अतोऽनिर्वचनीयमित्यर्थः। त्रिगुणात्मकं सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणत्रयाश्रय इत्यर्थः। **यत्किञ्चिदिति**। अत्र यत्किञ्चिच्छब्देन नानिर्वचनीयमुच्यते, तस्यानिर्वचनीयशब्देनैवोक्तत्वात्। नापि ज्ञानविरोधित्वम्, तस्यापि ज्ञानविरोधिशब्देनोक्तत्वात्। नापि मिथ्यात्वम्, तस्य पूर्वफक्किकायामुक्तत्वात्। किन्तु— भ्रमोपादानत्वम्। एतच्चाज्ञानलक्षणम्[1]। भ्रमोपादानत्वञ्च भ्रमाकारेण विवर्तमानत्वम्। तेन विवर्तमानाविद्याधिष्ठानत्वरूपभ्रमोपादानत्ववतीश्वरे नातिव्याप्तिः।

उनका मानना है कि जिस प्रकार प्रतियोगी के अधिकरण में अत्यन्ताभाव नहीं रहता है, उसी प्रकार प्रतियोगी के प्रागभाव तथा ध्वंस के अधिकरण में भी अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। परन्तु नव्यनैयायिक प्रागभाव तथा ध्वंस के अधिकरण में भी अत्यन्ताभाव को स्वीकार करते हैं। रघुनाथ शिरोमणि आदि नव्यनैयायिकों ने तो *'घटो ध्वस्तः'* घट का ध्वंस हो गया, इस प्रकार की प्रतीति के बल से ध्वंस को अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त मान लेने के लिए सहमत होते हुए भी प्रागभाव के अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त होने की बात किसी भी प्रमाण तथा अनुभव से पुष्ट न होने के कारण प्रागभाव को अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त नहीं माना है।

इस कारण न्यायमत की रीति से भी उसी वस्तु में उसी वस्तु के अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य स्वीकार करना ही पड़ता है तथा प्रतीतिविशेष्य में उस वस्तु का अत्यन्ताभाव होना ही उस वस्तु का मिथ्या व अनिर्वचनीय होना है। इसलिए प्रपञ्च की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करना आवश्यक तथा युक्तिसङ्गत है।

अज्ञान आदि जडसमूह को अवस्तु बताया गया। आकाङ्क्षा होती है कि वह अज्ञान है क्या? इसी का समाधान करने के लिए मूलकार बताते हैं कि—

अज्ञान तो सत् व असत् इस रूप में अनिर्वचनीय अर्थात् सत् व असत् दोनों से ही विलक्षण, त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणरूप), ज्ञानविरोधी, भावरूप तथा यत्किञ्चित् है, ऐसा (विद्वज्जन) कहते हैं क्योंकि 'अहमज्ञः' मैं अज्ञ हूँ, *ऐसा अनुभव होता है तथा 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'* अपने गुणों से ही निगूढ स्वात्मशक्ति, *ऐसी श्रुति भी प्राप्त होती है।*

अज्ञान का निरूपण करते हुए प्रथमतया बताया गया कि अज्ञान अनिर्वचनीय है, अर्थात् अज्ञान का निर्वचन नहीं किया जा सकता। परन्तु ध्येय यह है कि अज्ञान के अनिर्वचनीय होने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसके विषय में शब्दों में कुछ कहा ही नहीं जा सकता। अपितु अज्ञान के अनिर्वचनीय होने का तात्पर्य यह है कि अज्ञान को न तो सत् कहा जा सकता है न तो असत्। सर्वत्र— किसी भी वस्तु को अनिर्वचनीय मानने के

१.विवरणाचार्याणां वचनं भवति— 'यच्चानादि स्वयं मिथ्या मिथ्योपादानमात्मसम्बन्धि च तदज्ञानम्' अनया रीत्या अज्ञानस्य लक्षणमेव प्रोक्तं भवति। पृ.५४, पञ्चपादिकाविवरणे

यत्किञ्चिदिति वदन्ति; 'अहमज्ञः' इत्यनुभवात्, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च।

अज्ञानस्य भावत्वे प्रमाणमाह— **अहमज्ञ** इति। अयं भावः—'अहमज्ञः' 'मामन्यं च न जानामि' 'शास्त्रार्थं न जानामि' इत्यनुगतः प्रत्ययो दृश्यते। स च अनुगतविषयमन्तरेण अनुपपन्न इत्यनुगतो विषयो वक्तव्यः। स च न ज्ञानसामान्याभावः, तस्यात्मन्यसम्भवात्। नापि विशेषाभावः, तेषामननुगतत्वात्।

लिए—अद्वैतियों की युक्ति समान रूप से यही है कि यदि सत् होता तो बाध नहीं होता, यदि असत् होता तो अपरोक्षत्वेन प्रतीति नहीं होती। परन्तु अज्ञान की तथा जागतिक अन्य वस्तुओं की प्रतीति अपरोक्षत्वेन होती भी है, तथा ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर उनका बाध भी होता है। इस कारण यदि अज्ञान सत् होता तो उसका बाध नहीं होता, यदि असत् होता तो उसकी अपरोक्षत्वेन प्रतीति नहीं होती। अज्ञान में सत् का भी वैलक्षण्य है, तथा असत् का भी। इसी कारण अज्ञान को अनिर्वचनीय या मिथ्या मानते हैं। सांसारिक अन्य वस्तुओं के ऊपर भी समान रूप से वही युक्ति लागू होती है। इसी कारण सांसारिक अन्य वस्तुओं को भी समान युक्ति से मिथ्या माना जाता है।

अज्ञान के अनिर्वचनीय होने से किसी शब्दसमूह के द्वारा उस अज्ञान का अभिधान भी सम्भव न होने के कारण क्या अज्ञान का ज्ञान भी सम्भव न होगा? तो ऐसा नहीं है। अज्ञान त्रिगुणात्मक है अर्थात् सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों का आश्रय है। अज्ञान का त्रिगुणात्मकत्व इस कारण माना जाता है क्योंकि 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि श्रुतियाँ एतद्विषयक प्राप्त होती हैं। इस अज्ञान की त्रिगुणात्मकता के कारण मनुष्य विषयादिजनित सुख का उपभोग भी करता है, क्रियाशील भी होता है तथा मोहग्रस्त भी होता है। यही वस्तुतः क्रमशः इन तीन गुणों का स्वरूप है। इनको गुण कहने का प्रयोजन भी यही है। गुण का अर्थ रस्सी होता है, जिस प्रकार रस्सी बाँधने के काम में आती है, उसी प्रकार ये तीनों गुण भी बन्धनकारी होते हैं।

अज्ञान को ज्ञानविरोधी बताया गया। ज्ञानविरोधी के दो अर्थ होते हैं—एक अर्थ होता है ज्ञान का विरोधी। दूसरा अर्थ होता है ज्ञान विरोधी है जिसका। अज्ञान के ऊपर ये दोनों ही अर्थ अच्छी तरह से लागू होते हैं। अज्ञान ज्ञान का विरोधी भी होता है तथा अज्ञान का विरोधी ज्ञान भी होता है। अज्ञान अपनी आवरणशक्ति के कारण आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होने देता है, इस कारण अज्ञान ज्ञान का विरोध करता है। साथ ही साथ ज्ञान के उत्पन्न होने पर उस ज्ञान से अज्ञान विनष्ट भी हो जाता है। इस कारण दूसरा अर्थ भी अज्ञान पर लागू होता है।

नैयायिक आदि दार्शनिक अज्ञान का सीधा-सीधा अर्थ ज्ञानाभाव करते हैं। परन्तु अद्वैती ज्ञानाभाव को अज्ञान नहीं मानते। अद्वैतमत के अनुसार अज्ञान भावात्मक वस्तु है। अज्ञान को भावरूप मानने के पीछे अद्वैती जो युक्तियाँ देते हैं, वेदान्तसार के लेखक ने कुछ का सङ्ग्रह यहाँ पर किया है। पहली युक्ति यह है कि *'अहमज्ञः'* मैं अज्ञ हूँ, ऐसा अनुभव होता है। दूसरी युक्ति दी है श्रुतियों का आधार। अनुभवों में अन्य अनुभवों को भी देखा जा सकता है, *'अहमज्ञः'* के अतिरिक्त *'मामन्यं च न जानामि'* मैं स्वयं को तथा अन्य को नहीं जानता हूँ, *'शास्त्रार्थं न*

तस्मादनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या भावरूपमज्ञानं स्वीकर्तव्यम्; सत्तावत्। यथा हि 'घटः सन्' इत्यनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या सत्ता सामान्यं परैः स्वीक्रियते, तद्वद्रजतं स्वीकार्यम्। तस्य च अवश्यमुपादानत्वं

जानामि' शास्त्र के अर्थ को नहीं जानता हूँ, इत्यादि अनेक अनुगत अनुभव होते हैं। इन अनुभवों की व्याख्या भावरूप अज्ञान को स्वीकार किये विना नहीं हो सकती। इनका कोई अनुगत विषय होना चाहिए। ये प्रतीतियाँ ज्ञानाभाव को विषय बनाती हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि ये सभी प्रतीतियाँ 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के अनुभव के समान अपरोक्षानुभवरूप होती हैं। अभाव की प्रतीति तो प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती क्योंकि अभाव तो षष्ठ प्रमाण अनुपलब्धि के द्वारा ही वेद्य हो सकता है। अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। परन्तु यदि यह न्यायमत मान भी लिया जाये तो भी समस्या यह है कि अभाव का ज्ञान होने के लिए प्रतियोगी तथा अनुयोगी का ज्ञान होना चाहिए। *'अहमज्ञः'* मैं अज्ञ हूँ, इस अज्ञानानुभव के लिए आवश्यक होगा कि अहमात्मक ज्ञानाभाव के अनुयोगी का ज्ञान हो तथा ज्ञानाभाव के प्रतियोगी ज्ञान का ज्ञान भी हो। परन्तु इस स्थिति में— जब आत्मा में ज्ञानाभावात्मक अज्ञान के प्रतियोगी ज्ञान का ज्ञान भी है, तथा आत्मा का ज्ञान भी है— *'अहमज्ञः'* मैं अज्ञ हूँ, ऐसा अनुभव होना तो व्याघात के कारण बाधित है। यह तो उसी प्रकार हो जाता है जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है। मुझमें ज्ञान है, तो *'अहमज्ञः'* मैं अज्ञ हूँ, ऐसा अनुभव कैसे सम्भव है? इस कारण निश्चित रूप से *'अहमज्ञः'* मैं अज्ञ हूँ, इत्यादि अनुभवों के द्वारा ज्ञानाभावात्मक अज्ञान विषय नहीं किया जा सकता, किन्तु भावरूप अज्ञान ही विषय किया जा सकता है।

युक्त्यन्तर से भी पता चलता है कि ये प्रतीतियाँ अभावात्मक अज्ञान को विषय नहीं बनाती हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि इन अनुभवों के द्वारा ज्ञानसामान्याभाव को विषय किया जा रहा है क्योंकि आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव हो ही नहीं सकता। यदि आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव रहेगा, तो आत्मा की जड पदार्थों से क्या विलक्षणता रह जायेगी? इस कारण मानना होगा कि आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव नहीं रह सकता। इस कारण ये प्रतीतियाँ ज्ञानसामान्याभाव को विषय नहीं कर सकतीं। ये प्रतीतियाँ ज्ञानविशेषाभाव को भी विषय नहीं कर सकतीं क्योंकि ज्ञानविशेषाभाव अनुगत नहीं होगा, परन्तु ये प्रतीतियाँ अनुगत हैं। प्रतीतियों के अनुगत होने का तात्पर्य है कि ये प्रतीतियाँ एक जैसी हैं। एक जैसी प्रतीतियाँ एक जैसे विषय के रहे विना नहीं हो सकती हैं। इस कारण इन प्रतीतियों का कोई अनुगत विषय होना ही चाहिए। वह अनुगत विषय भावरूप अज्ञान ही हो सकता है। जैसे 'घट सत् है' 'पट सत् है' इत्यादि अनुगत प्रतीतियों के अन्यथा अनुपपन्न होने के कारण सत्तारूपी सामान्य की सिद्धि होती है, उसी प्रकार उपर्युक्त अनुगत प्रतीतियों के बल से भावरूप अज्ञान की सिद्धि भी होती है। सोने के बाद उठने पर व्यक्ति को ज्ञान होता है कि *'गाढः सुप्तोऽह न किञ्चिदवेदिषम्'* मैं खूब बढ़िया सोया, कुछ भी नहीं जान पाया। इस ज्ञान में कुछ भी नहीं जान पाया, यह कैसे पता चला? नैयायिक इस प्रकार के ज्ञान को अनुमित्यात्मक मानते हैं। उनका कहना है कि सुषुप्ति से उठने के बाद कोई भी व्यक्ति दुःख का स्मरण नहीं करता है, इस कारण दुःखाभाव रूप सुख का तथा किसी ज्ञान का स्मरण न होने के कारण ज्ञानाभाव का अनुमान किया

वक्तव्यम्, निरुपादानस्याभावकार्यस्यासम्भवात्। तच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामज्ञानमेव। तदपि यद्यभावरूपं तदा नोपादानत्वयोग्यमिति भावरूपमेव स्वीकार्यम्, अभावत्वाद्भावस्य लघुत्वाच्च। तस्माद्भावरूपमेवाज्ञानं स्वीकार्यमिति। **देवेति**। देवस्य ईश्वरस्य **आत्मशक्तिम्**=आत्मनः कारणत्वनिर्वाहिकामित्यर्थः। **स्वगुणैः** सत्त्वरजस्तमोभिः। एवञ्च भावरूपमेवाज्ञानं स्वीकार्यम्, विशेषादर्शनस्य गुणाश्रयत्वानुपपत्तेरिति भावः।

जाता है। परन्तु यह न्यायमत स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह ज्ञान या तो स्मरण है या अनुभव का कोई प्रभेद, इसका निर्धारण तो केवल अनुव्यवसाय से ही हो सकता है। उपर्युक्त *'गाढः सुप्तोऽहं न किञ्चिदवेदिषम्'* मैं खूब बढ़िया सोया, कुछ भी नहीं जान पाया, 'इस प्रकार का ज्ञान अनुमितिरूप नहीं हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान के उपरान्त 'अनुमान कर रहा हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, जब अनुमान के द्वारा पर्वतादि में वह्नि का पता चलता है, वहाँ पर 'वह्नि का अनुमान कर रहा हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय हुआ करता है। सुषुप्ति से उठने के काल में ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता। इससे स्पष्ट निर्धारित होता है कि इस प्रकार का ज्ञान अनुमिति रूप नहीं है। यह ज्ञान स्मरणात्मक है, तथा स्मरण विना अनुभव के सम्भव नहीं। इस कारण यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति काल में कोई अनुभव हुआ था। साक्षी के द्वारा अज्ञान से उपहित ज्ञाता का अपरोक्षज्ञान हुआ था। इस प्रकार सुषुप्तिकालीन अनुभव भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि में प्रमाण है।

अनुमान के द्वारा भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि की प्रक्रिया विवरण तथा विवरणप्रमेयसङ्ग्रह आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित की गयी है। उक्त स्थल में अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत है— 'विमतं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तरपूर्वक अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीप-प्रकाशवत्' विवादविषय प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से अतिरिक्त-अपने विषय के आवरणभूत-अपने से निवर्तित होनेवाले-अपने ही देश में अवस्थित वस्त्वन्तरपूर्वक होता है क्योंकि विवादविषय प्रमाणज्ञान अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होता है, अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीपप्रकाश की तरह। इस अनुमान में विवादविषय प्रमाणज्ञान को पक्ष बनाया गया है, अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होने के कारण— इसको हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रागभाव से अतिरिक्त, अपने विषय के आवरणभूत, अपने से निवर्तित होने वाले, अपने देश में स्थित, जो वस्त्वन्तर तत्पूर्वकत्व— को साध्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रकाश। अद्वैती अन्धकार को भी भाववस्तु मानते हैं, तथा वह अन्धकार प्रकाश से नष्ट हो जाता है। अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रकाश के पूर्व अन्धकार रहता है। वह अन्धकार, अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रकाश का प्रागभाव नहीं है, अपितु उस प्रदीपप्रकाश के प्रागभाव से अतिरिक्त है। प्रकाश का विषय बननेवाली जो भी वस्तुएँ हैं, उन वस्तुओं को अन्धकार आवृत करता है, इस कारण प्रकाशविषय का आवरण बनता है। प्रकाश के द्वारा अन्धकार निवर्त्य है। जिस देश में प्रकाश है, उसी देश में रहनेवाला अन्धकार भी होता है। तथा वह अन्धकार वस्त्वन्तर है, भावरूप नहीं है। यदि अन्धकार की भावरूपता नहीं सिद्ध हो तो इस अनुमान के द्वारा भावरूप अज्ञान की सिद्धि भी सम्भव नहीं होगी। इस कारण अन्धकार की भावरूपता भी अन्य युक्तियों के द्वारा अद्वैती सिद्ध करते हैं। परन्तु वह प्रसङ्ग विषयान्तर हो जायेगा, इस कारण यहाँ पर नहीं विवेचित

किया जा रहा। विवादविषयीभूत प्रमाण ज्ञान को भी अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रकाश की तरह अपने प्रागभाव से अतिरिक्त, अपने विषय के आवरणभूत, अपने से निवर्तित होने वाले, अपने देश में स्थित वस्त्वन्तर-पूर्वक होना चाहिए। ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व में ज्ञान के प्रागभाव से अतिरिक्त, ज्ञान विषय का आवरणभूत, ज्ञान से निवृत्त होनेवाला, जिस देश में ज्ञान हो रहा है उसी देश में रहनेवाला कोई वस्त्वन्तर— कोई दूसरी वस्तु— अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार विवादविषय प्रमाणज्ञान के पूर्व कोई वस्तु सिद्ध होती है। जो वस्तु सिद्ध होती है वही अज्ञान है क्योंकि अज्ञान वस्तु का आवरण करता है, ज्ञान के प्रागभाव से अतिरिक्त है, ज्ञान से निवृत्त होता है, जिस देश में ज्ञान हो रहा है उसी देश में रहता है। अज्ञान की यही विशिष्टताएँ हैं। इस प्रकार अनुमान के द्वारा भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि हो सकती है।

अज्ञान की सिद्धि के लिए अन्य युक्ति भी प्रस्तुत की जाती है। प्रातिभासिक रजत-सर्पादि का उपादान कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिए। प्रातिभासिक रजत-सर्पादि की उत्पत्ति निरुपादानक— विना किसी उपादान कारण के— नहीं हो सकती। कोई भी भावकार्य विना किसी उपादानकारण के उत्पन्न नहीं हो सकता। अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा प्रातिभासिक रजत-सर्पादि का उपादानकारण भावरूप अज्ञान को ही मानना पड़ेगा। क्योंकि यदि अज्ञान अभावरूप है, तब तो वह किसी का उपादानकारण हो ही नहीं सकता क्योंकि अभाव में तो उपादानकारण होने की योग्यता ही नहीं है। साथ ही साथ अभाव की अपेक्षा भाव को उपादानकारण मानने में लाघव होता है क्योंकि अभाव का तात्पर्य है भावभिन्न, तथा इसमें भाव का प्रवेश हो गया। इस कारण भावरूप अज्ञान ही प्रातिभासिक रजत-सर्पादि का उपादानकारण होता है, ऐसा मानना पड़ता है।

चौथी बात अज्ञान के विषय में बतायी गयी कि अज्ञान यत्किञ्चित् रूप है। इस यत्किञ्चित् शब्द का क्या अर्थ है? एक अर्थ तो सामान्यतया प्रचलित अर्थ है जहाँ पर अन्धकार आदि में कोई वस्तु दिखायी तो दे रही है, परन्तु ठीक-ठीक नहीं पता चल रहा है कि क्या है? तो हम कहते हैं कि कुछ है, क्या है— पता नहीं। तो क्या अज्ञान भी इसी प्रकार का है? यदि ऐसा कहा जाये तो अनिर्वचनीय शब्द के द्वारा भी तो यही बात कही गयी है। पुनः उसी बात को कहने का प्रयोजन क्या है? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जाता है। पहला उत्तर यह है कि प्रथमश्रुत अनिर्वचनीय शब्द के द्वारा सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व कहा जा रहा है, तथा द्वितीय श्रुत यत्किञ्चित् शब्द के द्वारा सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व न कह कर प्रमाणासहिष्णुत्व कहा जा रहा है। अविद्या या अज्ञान का यही आभूषण है कि वह किसी प्रमाण को सहन नहीं करता है। द्वितीय समाधान यह है कि यत्किञ्चित् शब्द के द्वारा न तो मिथ्यात्व और न तो ज्ञानविरोधित्व को कहा जा रहा है। किन्तु यत्किञ्चित् शब्द के द्वारा भ्रमोपादानत्व को कहा जा रहा है। भ्रम का उपादान कारण जो अधिष्ठान होता है, उस अधिष्ठान का हमें ठीक तरह से ज्ञान नहीं होता। हमें नहीं पता होता है कि क्या है? यदि अधिष्ठान का तत्त्वसाक्षात्कार रहे, तब तो भ्रम ही सम्भव नहीं होगा। परन्तु जगद्रूप भ्रम का उपादानत्व तो केवल अविद्या में नहीं है अपितु ब्रह्म में भी है। तथा यदि अधिक सटीक रूप से कहा जाये तो जगद्रूप भ्रम का उपादानत्व ब्रह्म में ही है। तो भ्रमोपादानत्व का तात्पर्य यह

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथा हि— यथा

ननु किमज्ञानमनेकम्, उतैकम्? नाद्यः, 'अजामेकाम्' इतिश्रुतिविरोधात्। नान्त्यः, 'इन्द्रो मायाभिः'

है कि भ्रमाकारेण विवर्तमानत्व। भ्रम के आकार में विवर्तमान होना अविद्या या अज्ञान में ही हो सकता है न कि ब्रह्म में। ब्रह्म में तो भ्रमाकारेण विवर्तमानत्व नहीं है, किन्तु भ्रमाकारेण विवर्तमान अविद्या का अधिष्ठानत्व ही है। अविद्या ही भ्रम के आकार में विवर्तमान है, ब्रह्म नहीं। इस कारण भ्रमाकारेण विवर्तमानत्व रूप भ्रमोपादानत्व केवल अज्ञान में है ब्रह्म में नहीं। ब्रह्म में भिन्न प्रकार का भ्रमोपादानत्व है, यही बात यत्किञ्चित् शब्द के द्वारा कही गयी है।

इस प्रसङ्ग के द्वारा अज्ञान का लक्षण भी बता दिया गया। वस्तुतः एक नहीं अनेक लक्षण बताये गये। एक लक्षण बताया गया सदसद्विलक्षणत्व। द्वितीय लक्षण बताया गया ज्ञानविरोधित्व अर्थात् ज्ञाननिवर्त्यत्व। तीसरा अज्ञान का लक्षण यहाँ पर दिया गया है त्रिगुणात्मकत्व। वस्तुतः जागतिक प्रपञ्च भी सदसद्विलक्षण है, ज्ञानविरोधी है तथा त्रिगुणात्मक है। इस कारण अज्ञान के लक्षण की अतिव्याप्ति जागतिक प्रपञ्च में होगी, ऐसी आशङ्का की जा सकती है, परन्तु कार्य अपने उपादान से अतिरिक्त नहीं होता। इस कारण जागतिक प्रपञ्च में अज्ञान के लक्षण का समन्वय होने पर अतिव्याप्ति की आशङ्का करना उचित नहीं है, अपितु उसमें अज्ञान के लक्षण का समन्वय होना अभीष्ट ही है।

'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इस श्रुति के आधार पर भी भावरूप अज्ञान को स्वीकार किया गया है। इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि देव यानी ईश्वर की आत्मशक्ति अर्थात् आत्मा के कारणत्व की निर्वाहिका शक्ति, जो कि स्वगुणों यानी सत्त्व,रजस् तथा तमस् से निगूढ है। अभावरूप अज्ञान त्रिगुणात्मक नहीं हो सकता, इस कारण अज्ञान को भावरूप स्वीकार करना आवश्यक है। नैयायिक आदि विशेषादर्शन के आधार पर भ्रम को व्याख्यायित करते हैं। विशेषदर्शन रहने पर भ्रम नहीं होता, यथा रज्जु के विशेष धर्म का दर्शन होने पर सर्प का भ्रम रज्जु में सम्भव नहीं होता। परन्तु उस विशेषदर्शन के न रहने पर सर्प का भ्रम सम्भव होता है, परन्तु उस विशेषादर्शन रूप विशेषदर्शन के अभाव को देव=ईश्वर की शक्ति नहीं माना जा सकता क्योंकि वह विशेषदर्शन का अभाव त्रिगुणात्मक नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानाभाव से अतिरिक्त भावरूप अज्ञान को स्वीकार करना आवश्यक है।

अज्ञान के स्वरूप के विषय में बता दिया गया, प्रश्न आता है कि क्या यह अज्ञान एक है या अनेक है? तो यदि एक अज्ञान को स्वीकार किया जाये तो *'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत'* इन्द्र अपनी अनेक माया से पुरुरूप धारण कर लेता है, इस श्रुति की सार्थकता किस प्रकार से हो सकेगी? इस श्रुति के साथ विरोध आयेगा। यदि अज्ञान को अनेक माना जाये तो इस श्रुति की तो सङ्गति लग जायेगी, परन्तु 'अजामेकाम्' एक अजा, इस श्रुति की सङ्गति नहीं लग सकेगी। चूँकि अज्ञान की एकता तथा अनेकता दोनों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ प्राप्त होती हैं, इसी कारण ग्रन्थकार उभयथा व्यवस्था बता रहे हैं—

यह अज्ञान समष्टि के अभिप्राय से एक व अनेक दोनों प्रकार से व्यवहृत होता है। समष्टि के अभिप्राय से

वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण 'वनम्' इत्येकत्वव्यपदेशः, यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण 'जलाशयः' इति, तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः, 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः।

इतिश्रुतिविरोधापत्तेः। तत्राह— **इदमज्ञानमिति**। व्यष्ट्यभिप्रायेणानेकमिति व्यवह्रियते, समष्ट्यभिप्रायेणैकमिति व्यवह्रियत इति योजना, एकपदस्य समष्टिपदेनाव्यवधानात्। अज्ञानान्यनेकान्येव, श्रुतावेकत्वव्यपदेशस्तु समष्ट्यभिप्रायेण, अज्ञानसमुदायाभिप्रायेणेत्यर्थः, जात्यभिप्रायेण वा इत्यर्थः। जात्यभिप्रायेणैकत्वव्यपदेश इत्यप्याहुः।

अथाज्ञानं लाघवादेकमेव किं न स्यात्? अत आह— **नानात्वेनेति**। नानात्वेन प्रतिभासमानेति जीवविशेषणं साभिप्रायम्।

अयमभिप्रायः— जीवभेदस्तावदावश्यिकः, बद्धमुक्तप्रतिभासात्। बद्धास्तावद् अस्मदादयः प्रतीयन्ते,

अज्ञान की एकता का व्यवहार भी होता है, तथा व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान की अनेकता का व्यवहार भी। जैसे— वृक्षों की समष्टि के अभिप्राय से वन ऐसा व्यपदेशात्मक व्यवहार भी होता है, जलों की समष्टि के अभिप्राय से जलाशय ऐसा व्यवहार भी होता है। उसी प्रकार नानात्वेन—अनेक रूपों में, भिन्नतया — प्रतिभासमान जो जीव हैं, उन जीवों में अनुगत अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से उस अज्ञान की एकता का भी व्यवहार होता हैं क्योंकि 'अजामेकाम्' एक अजा, इस प्रकार की श्रुति प्राप्त होती है।

अज्ञान का व्यष्टि तथा समष्टि के भेद से द्वैविध्य बताया जा रहा है। कहना है कि व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान के अनेकत्व का व्यवहार किया जाता है, तथा समष्टि के अभिप्राय से अज्ञान के एकत्व का। इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है प्रथम तो यह कि वस्तुतः अज्ञान अनेक ही हैं, परन्तु श्रुति में एकत्व का प्रतिपादन समष्टि के अभिप्राय से— अज्ञानसमुदाय के अभिप्राय से— किया गया है। जैसे वन नाम की कोई वस्तु वस्तुतः है नहीं, किन्तु व्यवहार के लिए वृक्षसमुदाय के लिए 'एक वन' इस प्रकार से शब्दप्रयोग किया जाता है। अथवा अज्ञानों की एकजातीयता के आधार पर एक शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। द्वितीय पक्ष यह हो सकता है कि वस्तुतः अज्ञान एक ही है, परन्तु उसी एक अज्ञान में अनेकता का व्यवहार होता है। इसी कारण अद्वैत परम्परा में अज्ञान को एक माना जाये या अनेक इस विषय में विवाद रहा है।

अज्ञान को एक मानने में लाघव है, अनेक मानने में गौरव है। परन्तु जीवभेद मानना आवश्यक है क्योंकि यदि जीवभेद न माना जाये तो बन्धमुक्तव्यवस्था न हो सकेगी। बद्ध व मुक्त का प्रतिभास होता है, बद्ध भी हम जैसे लोग प्रतीत होते हैं, मुक्त लोगों की भी चर्चा 'शुकदेव मुक्त हैं' 'वामदेव मुक्त हैं' इत्यादि शास्त्रों में प्राप्त होती है। यदि इन शास्त्रों का मुख्य अर्थ मानना सम्भव हो तो इन शास्त्रों को औपचारिक मानने की बात युक्तिसङ्गत नहीं है। यदि ब्रह्म के एक होने के कारण जीव को भी एक ही माना जाये तो एक ही जीव में बद्धत्व व मुक्तत्व दोनों किस प्रकार से सम्भव होगा? इसी प्रकार ऐसी उपासनाओं के बारे में श्रुति में सुना जाता है जिनका फल क्रममुक्ति हुआ करता है। क्रममुक्ति से अतिरिक्त एक मुक्ति ब्रह्मज्ञान से होती है, ऐसा भी बताया गया है। यह सब सम्भव नहीं है,

मुक्ता अपि 'शुको मुक्तः' 'वामदेवो मुक्तः' इत्यादिशास्त्रे प्रतीयन्ते। न चैतस्य शास्त्रस्य मुख्येऽर्थे सम्भवत्यौपचारिकत्वं न्याय्यम्। न चैकस्य जीवस्य बद्धत्वं मुक्तत्वं च सम्भवति। अतो जीवभेद आवश्यिकः।

किञ्च क्रममुक्तिफलान्युपासनानि श्रूयन्ते। श्रूयते च 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादिशास्त्रादिहैव मुक्तिः। एतदुभयं जीवभेदे सत्युपपन्नं भवति— कस्यचिज्जीवस्योपासनाविशेषेण क्रममुक्तिः, अन्यस्य जीवस्य श्रवणाद्यभ्यासपरिपाकवशेनोत्पन्नतत्त्वज्ञानस्येहैव मुक्तिरिति। जीवैक्ये त्वेतदनुपपन्नं भवतीति जीवभेद आवश्यिकः। जीवभेदेऽज्ञानभेदोऽपि वक्तव्यः, अन्यथा कस्यचिज्जीवस्य तत्त्वज्ञानेनाज्ञाने निवृत्ते जीवान्तरस्य बन्धानुपपत्तेः। तत्त्वज्ञानेनाज्ञानानिवृत्तौ तत्त्वज्ञानिनोऽपि मोक्षो न स्यात्, अज्ञानसत्त्वात्। तस्मादज्ञानभेदो वक्तव्यः। 'अजामेकाम्' इति श्रुतौ त्वेकत्वव्यपदेशः समष्ट्यभिप्रायेण जात्यभिप्रायेण वेत्युक्तम्। श्रुतौ 'अजा'शब्देन अनादिसिद्धाविद्या उच्यते, 'लोहितशुक्लकृष्णपदैश्च' रजःसत्त्वतमांस्युच्यन्ते। **सरूपां=** स्वसदृशीम्, अनिर्वचनीयामित्यर्थः।

यदि जीवभेद को न माना जाये। जीवभेद के आधार पर ही बन्धमुक्तव्यवस्था तथा क्रममुक्ति आदि उपपन्न होते हैं। जीवभेद होने पर किसी जीव की उपासनाविशेष के द्वारा क्रममुक्ति होती है, तथा अन्य जीव की श्रवणादि अभ्यास का परिपाक हो जाने से उत्पन्न तत्त्वज्ञान के द्वारा साक्षात् मुक्ति हो जाती है। जीवभेद होने के लिए अज्ञान का भेद भी होना चाहिए क्योंकि उसी के विनाश से तो मोक्ष की व्यवस्था होती है। इस कारण अज्ञान का भेद स्वीकार्य है। यदि अज्ञान का अभेद है तो 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति का क्या होगा? इस श्रुति की सङ्गति भी होनी चाहिए। तो समाधान दिया जाता है कि अज्ञान की एकता अज्ञान समष्टि की एकता के अभिप्राय से है। अथवा नाना अज्ञानों में एक ही जाति है, इस प्रकार जातिगत एकता के अभिप्राय से अज्ञान की एकता का कथन है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं— *'अविद्यात्वमात्रेण चैकत्वोपचारोऽव्यक्तमिति चाव्याकृतमिति चेति'* (द्रष्टव्य-भामती, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, पृ.३७८, ब्रह्मसूत्र-१/४/३)उसी का अनुसरण करते हुए कल्पतरुकार कहते हैं— *'नानाविद्यास्वप्येकामित्येकत्वं जात्यभिप्रायम्; प्रकरणादविद्यानिश्चयात्'* (द्रष्टव्य-वेदान्तकल्पतरु, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, पृ.३८८, ब्रह्मसूत्र-१/४/१०)

सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह में अप्पयदीक्षित ने अज्ञान को एक माना जाये या अनेक इस विषय में भिन्न-भिन्न मतों की गणना की है, तथा अज्ञान की एकता को स्वीकार करनेवाले तथा अनेकता स्वीकार करनेवाले दोनों ही मतों में बद्धमुक्तव्यवस्था का उपपादन किया है। विवरणकार का तथा सङ्क्षेपशारीरक के लेखक सर्वज्ञात्ममुनि का अभिमत यह है कि शुद्ध ब्रह्म को आश्रित करनेवाला तथा विषय करनेवाला अज्ञान एक ही है। यदि अज्ञान एक ही है तो बन्ध व मुक्तव्यवस्था किस प्रकार सम्भव होगी? यदि एक ही अज्ञान है, तथा ज्ञान से अज्ञान निवर्त्य है, तो किसी एक के मुक्त होने पर ही समस्त जीवों को मुक्त हो जाना चाहिए। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः' अविद्या की निवृत्ति ही तो मोक्ष है, के अनुसार अज्ञान निवृत्त होने पर भी मोक्ष नहीं हुआ ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। तो इसका समाधान ये आचार्य इस प्रकार देते हैं कि अज्ञान सांश है। किसी अन्तःकरणात्मक उपाधि में ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो जाने पर उसी अंश में अज्ञान की निवृत्ति भी होती है, अन्य अंश में नहीं। दूसरी उपाधियों में तो अज्ञान उसी पर

इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च

विशुद्धेति। यद्यपि समष्टेरीश्वरोपाधित्वे पालनार्थं सत्त्वप्राधान्यवत् सृष्टिसंहारार्थं रजस्तमः-प्राधान्यमप्यस्त्येव, तथा च सत्त्वस्यैवोक्तिर्विरुद्धा; तथाप्यस्मिन् ग्रन्थे सत्त्वप्राधान्यं न पालनार्थमुक्तम्,

अनुवर्तित होता रहता है। इस कारण अज्ञानभेद से ही बन्ध-मोक्षव्यवस्था हो यह आवश्यक नहीं है, अन्तःकरणभेद से भी बन्धमोक्षव्यवस्था बन सकती है। यह ध्येय है कि इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तःकरणात्मक उपाधि के भेद से ही जीव का भेद होता है, इस कारण जिस उपाधि में अविद्या का अंश निवृत्त हुआ, उसी उपाधि से विशिष्ट जीव ही मुक्त हुआ, अन्य उपाधि से विशिष्ट नहीं।

एक दूसरी रीति से भी कुछ विद्वान् अज्ञान की एकता के साथ अनेकता को सङ्गत बनाते हैं— जिस प्रकार न्यायमत में घटाद्यत्यन्ताभाव के एक होने पर भी सर्वत्र घटात्यन्ताभाव नहीं रहता है, अपितु वहीं पर घटाद्यत्यन्ताभाव रहता है, जहाँ पर उस घटाद्यत्यन्ताभाव का सम्बन्ध रहता है। उसी प्रकार अज्ञान के चैतन्य में रहने के लिए मन ही नियामक है, इस कारण मन रूपी उपाधि के आधार पर उस-उस प्रदेश में संसृष्ट होता हुआ अज्ञान किसी देश में ब्रह्मदर्शन से मन के निवृत्त हो जाने पर निवृत्त हो जाता है। मन की निवृत्ति होने की बात तो 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि रीति से मुण्डकोपनिषद् आदि में कही ही गयी है। यहाँ पर भी अन्तःकरण के भेद के आधार पर बन्धमोक्षव्यवस्था का उपपादन कर लिया जाता है।

अज्ञान को एक मानने का मत अन्य रीति से भी आचार्य गण प्रतिपादित करते हैं। इनका मानना है कि शुद्धचैतन्य अज्ञान का आश्रय नहीं है, किन्तु ब्रह्मविषयक अज्ञान जीवाश्रित है। सभी जीव तो अन्तःकरणप्रतिबिम्बात्मक हैं। अन्तःकरणप्रतिबिम्बात्मक सभी जीवों में एक ही अज्ञान विद्यमान है, जिस जीव को ज्ञान हो जाता है, अज्ञान उस जीव को छोड़कर अन्य जीवों का ही आश्रय ग्रहण कर लेता है। जैसे नैयायिकों के यहाँ समस्त व्यक्तियों में एक ही जाति विद्यमान है, जो कि नित्य है। जिस व्यक्ति का विनाश हो जाता है, उस व्यक्ति को छोड़कर वह नित्य जाति अन्य व्यक्तियों का आश्रय ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार अज्ञान भी जिस जीव को ज्ञान को उत्पन्न हो गया है उसे छोड़ देता है, परन्तु जिसको अभी ज्ञान नहीं हुआ है, उसमें विद्यमान रहता है। यह व्यवस्था भी अन्तःकरणभेद पर आधारित है।

एक अन्य मत भामतीप्रस्थानानुसारी है जो कि प्रति जीव में अविद्या को भिन्न-भिन्न मानता है, तथा उसी के आधार पर अविद्या की अनुवृत्ति तथा निवृत्ति की व्यवस्था करता है। प्रति जीव में यदि अविद्या भिन्न-भिन्न है तो जिस जीव को ज्ञान हो गया, उसमें अविद्या की निवृत्ति हो गयी। यहाँ पर अज्ञान के भेद से बन्धमोक्षव्यवस्था बनती है।

इस प्रकार व्यष्टि व समष्टि के भेद से अज्ञान का द्वैविध्य है। इसमें—

अज्ञान की समष्टि उत्कृष्ट उपाधि है इस कारण विशुद्धसत्त्वप्रधान है। इस अज्ञान की समष्टिरूप उपाधि से

व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्, 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः।

ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात्कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिः, अत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

किन्त्वीश्वरं प्रति समष्टेर्मोहानापादकत्वात्। अत एवाह—**उत्कृष्टेति**। व्यष्टेस्तु जीवं प्रति मोहापादकत्वान्मलिनसत्त्वप्राधान्यमुक्तमिति मन्तव्यम्। **एतदुपहितमिति**। अज्ञानसमष्ट्युपहितमित्यर्थः।

नन्वीश्वरोपाधिरज्ञानसमष्टिः कुतः, अज्ञानव्यष्टिरेव किं न स्यात्? अत आह— **सकलेति**। जीवानां हि प्रत्येकमज्ञानव्यष्टयः स्फुरन्ति, नाज्ञानसमुदायः, मानाभावात्। ईश्वरस्य तु सकलानि अज्ञानानि स्फुरन्ति तस्य सर्वज्ञत्वात्। अतोऽज्ञानसमष्टिरीश्वरोपाधिरित्यर्थः।

उपहित चैतन्य को सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्वनियन्तृता आदि से सम्पन्न अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् का कारण तथा ईश्वर भी कहा जाता है। समस्त अज्ञानों का वह अवभासक है क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ऐसी श्रुति प्राप्त होती है। ईश्वर की यह समष्टि समस्त जगत् का कारण होने के कारण कारणशरीर कही जाती है, आनन्दप्रचुर होने के कारण आनन्दमयकोश भी कही जाती है, सर्वोपरमभूत होने के कारण सुषुप्ति भी कहलाती है। तथा इसी कारण स्थूल व सूक्ष्म प्रपञ्च का लयस्थान भी कहलाती है।

अद्वैतमत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जीव व ईश्वर दोनों ही कल्पित हैं। कल्पित का तात्पर्य उपाधि के भेद से अज्ञान द्वारा कल्पित से है। जैसे स्वच्छ स्फटिक गुलाब के फूल के अत्यन्त पास रखा रहने पर लाल दिखायी देता है, ठीक उसी प्रकार शुद्ध, ब्रह्म ही विविध उपाधिवश ईश्वर के रूप में तथा जीव के रूप में जाना जाता है। तो ब्रह्म में किन उपाधियों के कारण ईश्वर तथा जीव इस प्रकार से विभिन्नता आ जाती है? इसी को यहाँ पर स्पष्ट किया जा रहा है। अज्ञान समष्टि के रूप में एक भी कहा जाता है तथा व्यष्टियों के रूप में अनेक भी। इसमें अज्ञान की समष्टि ईश्वर की उपाधि है। अज्ञान के तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् तथा तमस्। इन तीन गुणों में सत्त्व की उत्कृष्टता है। इस अज्ञानसमष्टि की विशेषता यह है कि वह विशुद्धसत्त्वप्रधान है। वस्तुतः विशुद्धसत्त्वप्रधान होने के कारण ही इस अज्ञानसमष्टि को उत्कृष्टोपाधि कहा जाता है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि सत्त्व की प्रधानता के कारण ही ईश्वर के द्वारा जगत् का पालन सम्भव है। ईश्वर में यह पालनकर्तृता सत्त्व की प्रधानता के कारण ही सम्भव है। यद्यपि जब समष्टि ईश्वर की उपाधि है, तो जिस प्रकार पालन करने के लिए सत्त्व के प्राधान्य की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार सृष्टि के लिए रजोगुण के प्राधान्य की अपेक्षा होगी, तथा संहार के लिए तमोगुण के प्राधान्य की अपेक्षा भी होगी। तो फिर यह कहना सङ्गत नहीं है कि केवल सत्त्व का प्राधान्य है। इस आधार पर सत्त्व का प्राधान्य मानने पर रजोगुण तथा तमोगुण का भी प्राधान्य स्वीकार करना ही पड़ेगा। तथापि यहाँ पर सत्त्व का प्राधान्य पालनार्थ सत्त्व की अपेक्षा होने के कारण नहीं कहा गया है। अज्ञान के इन तीनों गुणों में रजोगुण का कार्य राग को तथा तमोगुण का कार्य मोह को उत्पादित करना है। सत्त्व का प्राधान्य कहने का तात्पर्य यह है कि

अत्रास्मद्गुरवः— नाज्ञानसमष्टिरीश्वरोपाधिः। अज्ञानसमष्टिर्हि अज्ञानसमुदायः, वनमिव वृक्षसमुदायः। समुदायश्च न समुदायिभ्यो भिन्नः, मानाभावात्। एवञ्च वनमनेकवृक्षात्मकमेव। तथा अज्ञानसमष्टिरप्यनेकाज्ञानात्मिकैव। वनावच्छिन्नश्च आकाशः, अनेकवृक्षावच्छिन्नाकाशसमुदायात् न भिन्नः, अनेकवृक्षातिरिक्तोपाधेरभावात्। उपाधिभेदाभावे च उपहितभेदाभावात्। एवञ्च अज्ञानसमूहोपहितं चैतन्यं नेश्वरः, अज्ञानसमूहोपहितस्य चैतन्यस्य प्रत्येकाज्ञानोपहितसमुदायरूपत्वात्, जीवसमुदायस्य चानीश्वरत्वात्। ततश्च नाज्ञानसमष्टिरीश्वरोपाधिरिति।

जिस प्रकार अज्ञान जीव में राग व मोह को उत्पन्न करता है, उस प्रकार ईश्वर में राग व मोह को उत्पन्न नहीं करता। इसी कारण ईश्वर की उपाधि अज्ञान की समष्टि को उत्कृष्ट कहा गया। व्यष्टि तो जीव में मोह का आपादक होती है, इस कारण उसमें मलिन सत्त्व का प्राधान्य होता है, ऐसा इस कथन से समझना चाहिए।

इस अज्ञान की समष्टि के द्वारा उपहित जो चैतन्य है, वही चैतन्य सर्वज्ञ कहलाता है क्योंकि अज्ञानसमष्टि से उपलक्षित चैतन्य समग्र चराचरात्मक प्रपञ्च साक्षी है। समग्र प्रपञ्च का साक्षी होने के कारण ही उसको सर्वज्ञ कहा जा रहा है। सर्वेश्वर इस कारण कहा जा रहा है क्योंकि समस्त जीवों को कर्मानुरूप फल प्रदान करता है। अन्तर्यामी इस कारण कहा जा रहा है क्योंकि समस्त जीवों के हृदय के अन्दर निवास करता हुआ उनकी बुद्धि का नियामक है। जगत् का कारण इस कारण उसे कहना है क्योंकि इस चर तथा अचर जगत् का विवर्ताधिष्ठान है।

यहाँ पर कहा गया कि ईश्वर की उपाधि अज्ञान की समष्टि है। परन्तु प्रश्न यह आता है कि अज्ञान की व्यष्टि को ही क्यों न ईश्वर की उपाधि मान लिया जाये? इसी के समाधानार्थ मूलकार ने कहा है कि चूँकि वह सकल अज्ञानों का अवभासक है, इस कारण सर्वज्ञ है। इसी कारण श्रुति भी उसे सर्वज्ञ व सर्ववित् कहती है। जीवों को तो प्रत्येक अज्ञानव्यक्ति का ही—सिर्फ़ अपने अज्ञान का ही— स्फुरण होता है, अज्ञान के समुदाय का स्फुरण नहीं होता। जीवों को अज्ञानसमुदाय का स्फुरण होता है, ऐसा मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है। ईश्वर को तो समस्त अज्ञानों का स्फुरण हुआ करता है क्योंकि वह सर्वज्ञ है। इसी कारण अज्ञानव्यष्टि को ईश्वर की उपाधि न मानकर अज्ञानसमष्टि को ही ईश्वर की उपाधि माना जाता है।

इस प्रसङ्ग में बालबोधिनी व्याख्या के लेखक आपदेव ने अपने गुरु (या शायद अपने पिता क्योंकि इनके पिता ही इनके गुरु थे) के मत का उल्लेख करते हुए प्रश्न उठाया है कि अज्ञानसमष्टि को ईश्वर की उपाधि नहीं माना जा सकता है क्योंकि प्रश्न उठेगा कि अज्ञानसमष्टि क्या है? क्या अज्ञानसमष्टि अज्ञान का समुदाय है, जैसे वृक्ष का समुदाय वन हुआ करता है। तो यदि इस पक्ष को माना जाये तो समुदाय तो समुदायियों से अतिरिक्त नहीं हुआ करता, वृक्षों से अतिरिक्त वृक्षसमुदाय नाम की कोई वस्तु नहीं है और न ही वन नाम की ही कोई वस्तु है। इस प्रकार वन अनेकवृक्षात्मक ही होता है। इसी प्रकार अज्ञानसमष्टि भी अज्ञानसमुदायात्मक होने के कारण अनेक अज्ञान रूप होगी। इस कारण अज्ञानसमष्टि भी अनेक अज्ञानात्मिका ही होगी। वन से अवच्छिन्न आकाश अनेक वृक्षों से अवच्छिन्न आकाशसमुदाय से अतिरिक्त तो होता नहीं क्योंकि अनेक वृक्षों से अतिरिक्त कोई उपाधि तो वन रूप उपाधि हुई नहीं। अगर उपाधि में भेद नहीं है तो उपाधिविशिष्ट व उपहित में भी भेद नहीं हो पायेगा। इसी रीति से

तस्मादत्र अज्ञानसमष्टिपदेनानेकाज्ञाननिरूपिता वाचस्पतिमिश्रसम्मतैका विषयतैवोक्तेति मन्तव्यम्[1]। सैव चेश्वरोपाधिः, अज्ञातस्य ब्रह्मण ईश्वरत्वात्। वनावच्छिन्नाकाशपदेनाप्यनेकवृक्षसम्बन्धी य एकदेश-स्तदवच्छिन्नाकाश एवोच्यते। स च प्रत्येकवृक्षावच्छिन्नाकाशेभ्यो भिन्न एव, उपाधेर्भिन्नत्वात्। एवं प्रत्येकाज्ञानोपहितजीवानामनेकत्वेऽपि तद्विषयताया एकत्वात्तदुपहितेश्वरस्यैकत्वमुपपद्यत एव।

न च अज्ञानानामनेकत्वे तद्वद्विषयता कथमेकेति वाच्यम्; समवायवदुपपत्तेः। यथा हि परेषां मते घटपटादीनामनेकत्वेऽपि तन्निरूपितस्य समवायस्यैकत्वम्, घटनाशे च तन्निरूपितत्वमेव नश्यति न तु समवायः; एवमेकैकाज्ञाननाशेऽपि विषयतायास्तन्निरूपितत्वमात्रं नश्यति, नाज्ञानविषयतेति तदुपहितेश्वरस्य यावत्सर्वमुक्त्यवस्थानमुपपद्यते। चरममुक्तिदशायां तु तत्त्वज्ञानेनाविद्यानिवृत्तौ तत्प्रयोज्या विषयतापि निवर्तत इति चिन्मात्रमवशिष्यते। तस्मात्सुष्ठूक्तमज्ञानविषयतोपहित ईश्वर इति। तदुक्तं कल्पतरौ— 'जीवाश्रिताभिरविद्याभिर्विषयीकृतत्वमुपाधिः'[2] इति।

अज्ञानसमूह के अज्ञानों से अतिरिक्त नहीं होने के कारण अज्ञानसमूह से उपहित चैतन्य भी प्रत्येक अज्ञान से उपहित समुदाय से अतिरिक्त नहीं होगा। इस प्रकार अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य वस्तुतः जीवसमूह रूप ही होगा। वह जीवसमूह तो ईश्वर है नहीं। इस कारण अज्ञानसमष्टि को ईश्वर की उपाधि नहीं माना जा सकता।

अतः अज्ञानसमष्टि शब्द के द्वारा यहाँ पर अनेक अज्ञानों से निरूपिता एक विषयता ही कही गयी है, वाचस्पति मिश्र के मत का अनुसरण करते हुए उसी को ईश्वर की उपाधि मानना चाहिए। वही अज्ञानसमष्टि से निरूपित एक विषयता ही ईश्वर की उपाधि है। वेदान्तकल्पतरुकार अविद्योपाधिक का अर्थ अविद्याविषयीकृतत्व करते हैं— *'अविद्योपाधिकमिति, अविद्याविषयीकृतमित्यर्थः'* (द्रष्टव्य-वेदान्तकल्पतरु, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, पृ.८०, ब्रह्मसूत्र-१/१/१) अज्ञात जो ब्रह्म वही तो ईश्वर कहलाता है। इसी रीति से वनावच्छिन्न आकाश शब्द के द्वारा भी अनेक वृक्ष सम्बन्धी जो एकदेश है, तदवच्छिन्न आकाश ही कहा जाता है। वह आकाश प्रत्येकवृक्ष से अवच्छिन्न आकाश से अतिरिक्त है ही क्योंकि उपाधि का भेद हो गया। वनावच्छिन्न आकाश के द्वारा अनेकवृक्षसम्बन्धी जो देश उस देश से अवच्छिन्न आकाश को कहा जा रहा है, तथा वृक्षावच्छिन्न आकाश के द्वारा प्रत्येक वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश को कहा जा रहा है। इसी प्रकार यहाँ पर भी प्रत्येक अज्ञान से उपहित चैतन्य रूप जीवों के अनेक होने पर भी उन समस्त अज्ञानों की विषयता एक है, तथा उस विषयता से उपहित चैतन्य एक है, वही ईश्वर है।

यदि यह पूछा जाये कि यदि अज्ञान अनेक हैं तो उन अज्ञानों की विषयता भी अनेक ही होनी चाहिए, जैसे

१.व्यष्ट्यतिरिक्तानिर्वचनीयसमष्ट्यङ्गीकारेऽपि न कश्चन प्रदर्शितो दोषः सम्भवति। यथा तन्तुभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा पट इति निर्वक्तुं न शक्यते, तेनानिर्वचनीयेन पटेन सर्वोऽपि व्यवहारः सम्भवति। तथैव समष्टिर्यदि व्यष्टितो भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन अनिर्वचनीया, तर्हि न कश्चनापि दोषः।

२.कृतेऽपि भूरि प्रयत्ने कल्पतरुकृतामेतादृशानुपूर्वीकं वचनं तु नोपलब्धम्। एषा पङ्क्तिस्तु लब्धा— 'अधिष्ठानेऽतिशयानाधायिन्यो जीवाश्रया अविद्या निरतिशयाः ताभिः विषयीकृतत्वाद् ब्रह्मणस्ता उपाधितयोक्ताः' पृ.६२२, कल्पतरौ।

स च सत्त्वप्रधानाज्ञानविषयतोपहितो विष्णुः। स च अखिलस्य जगतः पालकः। रजःप्रधानाज्ञानविषयतोपहितो ब्रह्मा। स चाखिलस्य जगतः स्रष्टा। तमःप्रधानाज्ञानविषयतोपहितो रुद्रः। स चाखिलस्य जगतः संहर्ता। एते च त्रयोऽनादिसिद्धा व्यापकाः सर्वज्ञाश्चेति। ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वे प्रमाणमाह— **यः सर्वज्ञ** इति। सर्वज्ञ इति सामान्यतः, सर्वविदिति विशेषतः। **सर्वेति**। सर्वस्योपरमो यस्यां सा तस्या भावस्तत्त्वम्, तस्मादित्यर्थः। **अत एवेति**। सर्वोपरमत्वादेवेत्यर्थः। पञ्चीकृतापञ्चीकृतरूपः **स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चः। उच्यते** इति, श्रुताविति शेषः।

अनेक ज्ञानों की विषयता अनेक होती है? तो ऐसा आवश्यक नहीं है। अज्ञानों के अनेक होने पर भी उनकी विषयता एक हो सकती है। जैसे घट, पट आदि के अनेक होने पर भी उन घट, पट आदि के समवाय को वैशेषिक एक ही मानते हैं, घट के नष्ट होने पर घट का समवाय नहीं नष्ट होता किन्तु केवल घटनिरूपितत्व नष्ट होता है। वैसे ही यहाँ पर भी एक एक अज्ञान का नाश होने पर विषयता में तत्तदज्ञाननिरूपितत्वमात्र का नाश हो जाता है, विषयता का नाश नहीं होता। इस कारण उस विषयता से उपहित ईश्वर का अवस्थान तब तक आवश्यक होता है, जब तक समस्त जीवों की मुक्ति नहीं हो जाती। समस्त जीवों की मुक्ति हो जाने पर तो तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्यामात्र के निवृत्त हो जाने के कारण उस अविद्या से प्रयोज्य विषयता भी निवृत्त हो जाती है, तथा चिन्मात्र ही अवशिष्ट बचता है। इस प्रकार अज्ञानविषयता से उपहित चैतन्य को ईश्वर मानना चाहिए। इसी को आधार बना कर विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र इस प्रकार से ईश्वर का भेद भी किया जा सकता है। सत्त्वप्रधान अज्ञान की विषयता से उपहित चैतन्य को विष्णु कहा जाता है। वही विष्णु इस संसार का पालन करते हैं। रजःप्रधान अज्ञान की विषयता से उपहित चैतन्य को ब्रह्मा कहा जाता है। वही ब्रह्मा इस संसार का सृजन करते हैं। तमोगुण प्रधान अज्ञान की विषयता से उपहित चैतन्य को रुद्र कहा जाता है। वही रुद्र इस संसार का संहार करते हैं। ये तीनों ही अनादि सिद्ध हैं, व्यापक हैं तथा सर्वज्ञ हैं।

वस्तुतः इस प्रकार से वाचस्पति मिश्र के मत का अनुसरण करते हुए प्रत्येक अज्ञान से उपहित चैतन्य को जीव तथा अज्ञानसमूह की एक विषयता से उपहित चैतन्य को ईश्वर मानने से अतिरिक्त मार्ग भी है। जिस प्रकार संसार सत्य भी नहीं है तथा असत्य भी नहीं है किन्तु अनिर्वचनीय है। उसी प्रकार व्यक्ति से समष्टि न तो भिन्न है और न तो अभिन्न है, किन्तु भिन्नत्वेन तथा अभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय है। उसी अनिर्वाच्य समष्टि से उपहित चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है। इस प्रकार से भी इस ग्रन्थ की सङ्गति लगायी जा सकती है।

ईश्वर को श्रुति के द्वारा सर्वज्ञ तथा सर्ववित् कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्यतः भी ईश्वर समस्त वस्तुओं को जानता है तथा विशेषतः भी समस्त वस्तुओं को जानता है। सामान्य बोलचाल में इन दोनों शब्दों का पर्याय के रूप में प्रयोग हुआ करता है। ईश्वर की सर्वज्ञता के समर्थनार्थ 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुति का उद्धरण दिया गया है। यहाँ पर अन्य श्रुतिवाक्यों को भी समझ लेना चाहिए, जो कि ईश्वर की सर्वज्ञता का समर्थन करते हैं।

ईश्वर की उपाधिभूत इस समष्टि को कारणशरीर कहा जाता है क्योंकि यह अज्ञानसमष्टि समस्त प्रपञ्च का कारण है। उस अज्ञानसमष्टि को आनन्दमयकोश शब्द से भी कहा जा रहा है। आनन्दमयता वस्तुतः अज्ञानसमष्टि

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण 'वृक्षाः' इत्यनेकत्वव्यपदेशः, यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण 'जलानि' इति; तथाऽज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः, 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टि-समष्टिताव्यपदेशः।

व्यष्ट्यभिप्रायेणेति। प्रत्येकाज्ञानाभिप्रायेणेत्यर्थः। **इन्द्र** इति। **इन्द्रः**= परमात्मा, प्रकरणात्, **मायाभिः**=अज्ञानैः, **पुरुरूपः**= बहुरूपः, **ईयते**= प्रतीयते इत्यर्थः। **अत्रे**ति। अज्ञान इत्यर्थः। **व्यस्तसमस्तव्यापित्वेने**ति। प्रत्येकसमुदायाभिप्रायेणेत्यर्थः। **एतदुपहितमि**ति। अविद्योपहितं चैतन्यं जीव इत्यर्थः।

नन्वविद्याधीनं जीवत्वं जीवाश्रिता च अविद्येत्यन्योन्याश्रय[1] इति चेत्? न, तस्य प्रकृतेऽदोषत्वात्। तथा हि उत्पत्तिः प्रतिबन्धनीया; सा च न, अविद्याजीवयोरनादित्वात्। तया ज्ञप्तिः प्रतिबन्धनीया; न, जीवस्य स्वप्रकाशत्वेन स्फुरणात्। अविद्यायास्तत्राध्यस्तत्वेन स्फुरणादिति।

में नहीं है; अपितु आनन्द ब्रह्म का धर्म है, जो कि अज्ञानसमष्टि से उपहित है। उस अज्ञानसमष्टि को कोश शब्द के द्वारा भी कहा गया। कोश शब्द का सीधा-सीधा अर्थ होता है आच्छादक वस्तु। यह आच्छादकत्व अज्ञान का धर्म है। इसी कारण इस अज्ञानसमष्टि को आनन्दमय कोश कहा जाता है। उपहित तथा उपाधि में भेद कर पाना सम्भव नहीं होता, इस कारण उपहित ब्रह्म तथा उपाधि अज्ञान दोनों के धर्म को लेकर आनन्दमयकोश कहा जा रहा है। इस अज्ञानसमष्टि को सर्वोपरमभूता होने के कारण सुषुप्ति भी कहा जाता है। इसी अज्ञान की समष्टि में आकाशादि समस्त लीन हो जाते हैं। इसी कारण इसको सर्वोपरम कहा जा रहा है। तथा इसी कारण स्थूल तथा सूक्ष्म प्रपञ्च के लय का स्थान भी इस अज्ञानसमष्टि को कहा जाता है।

जिस प्रकार वन का ही व्यष्टि के अभिप्राय से 'वृक्षाः' इस प्रकार से बहुत्व व अनेकत्व रूप में व्यपदेश हुआ करता है, जैसे एक ही जलाशय का व्यष्टि के अभिप्राय से 'जलानि' ऐसा अनेकताव्यपदेश हुआ करता है। उसी प्रकार अज्ञान की व्यष्टि की अपेक्षा से अज्ञान की अनेकता का व्यपदेश भी हुआ करता है क्योंकि श्रुति प्राप्त होती है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इन्द्र अर्थात् एक ही परमात्मा; अनेक माया अर्थात् अनेक अज्ञान— के सम्पर्क से पुरुरूप अर्थात् अनेकरूप हो जाता है। इसमें समस्त तथा व्यस्त का व्यापी होने के कारण क्रमशः समष्टि तथा व्यष्टि इस प्रकार से व्यपदेश हुआ करता है।

जैसे वन की व्यष्टि के अभिप्राय से *'वृक्षाः'* ऐसा अनेकत्व का व्यपदेश किया जाता है, या जलाशय की व्यष्टि के अभिप्राय से *'जलानि'* ऐसा अनेकत्व का व्यपदेश किया जाता है। उसी प्रकार अज्ञान की समष्टि के अभिप्राय से अज्ञान की एकता के व्यपदेश के साथ-साथ व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान की अनेकता का व्यपदेश भी किया जाता है। तात्पर्य यह है कि *वृक्षाः* या *वनम्, जलानि* या *जलाशयः* इस प्रकार व्यपदेश करने से वस्तु में

१.अन्योन्याश्रयो नाम यदा प्रथमं द्वितीयमपेक्षते स्वाश्रयाय स्वज्ञानाय वा, द्वितीयं तु प्रथमम्। वाचस्पतिमिश्रमते अविद्याधीनं जीवत्वं जीवाश्रया चाविद्येत्यन्योन्याश्रयः।

इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकत्वात्। अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात् कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात्कोषवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिः। अत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

व्यष्टेर्जीवोपाधित्वे हेतुमाह— **एके**ति। जीवाल्पज्ञत्वे प्रमाणमाह—**अस्ये**ति। **अस्य** प्राज्ञस्यानतिप्रकाशकत्वात्। अनतिप्रकाशकत्वे हेतुमाह— **अस्पष्टे**ति। मलिनसत्त्वप्रधानाऽज्ञानोपाधित्वादित्यर्थः। **अस्य** जीवस्य। उपाधिभूता **इयं** व्यष्टिरूपाऽविद्येत्यर्थः।

कोई परिवर्तन आ जाता हो, ऐसा नहीं है। यह केवल दृष्टि का भेद है। उसी प्रकार वस्तुतः अज्ञान एक ही है, उसी अज्ञान में दृष्टि के भेद से नानात्व का तथा एकत्व का व्यवहार हुआ करता है। व्यवहार वस्तुस्वरूप में कोई परिवर्तन करता हो ऐसा नहीं। दृष्टिभेद से उभयथा व्यवहार सम्भव होता है।

यह अज्ञानव्यष्टि निकृष्टोपाधि होने के कारण मलिनसत्त्वप्रधान है। इस अज्ञानव्यष्टि से उपहित चैतन्य (जो कि जीव है) अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्वादिगुणवान् प्राज्ञ कहलाता है क्योंकि वह एक ही अज्ञान का अवभासक होता है। इसको प्राज्ञ इस कारण कहा जाता है क्योंकि इसकी उपाधि अस्पष्ट होने के कारण अतिप्रकाशक नहीं होती है। इस प्राज्ञ की उपाधि अज्ञानव्यष्टि भी अहङ्कार आदि का कारण होने से कारणशरीर है, आनन्दप्रचुर होने के कारण तथा कोश के समान आच्छादक होने के कारण आनन्दमयकोश है, सर्वोपरम होने के कारण सुषुप्ति है, तथा इसी कारण स्थूल तथा सूक्ष्म शरीररूपी प्रपञ्च का लयस्थान भी कही जाती है।

महाप्रलयकालीन विशुद्धसत्त्वप्रधाना अज्ञानसमष्टि ही मूलप्रकृति भी कही जा सकती है। उससे अतिरिक्त एक जीवप्रकृति है, जिसको अज्ञानव्यष्टि शब्द के द्वारा कहा गया है। यह अज्ञानव्यष्टि भी मूलप्रकृतिभूत अज्ञानसमष्टि के समान स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च का लयस्थान है। यह जीवगत अहङ्कारादिविक्षेपसंस्कारादिरूपा अज्ञानव्यष्टि निकृष्टोपाधि होने के कारण ही मलिनसत्त्वप्रधान है। इसमें मलिनसत्त्व की प्रधानता का कारण इसका निकृष्टोपाधि होना ही है। बहुधा अज्ञानसमष्टि को मूलाज्ञान भी कहा जाता है, वह मूलाज्ञान तथा जीवगत अहङ्कारादिविक्षेपसंस्कारादिरूप अज्ञान वस्तुतः एक ही है, इस कारण तदवभासक ईश्वरचैतन्य तथा जीवचैतन्य का भी वस्तुतः एकत्व है। सत्त्व प्रकाशक होता है, परन्तु अज्ञानव्यष्टि में मलिन सत्त्व की प्रधानता है; इस कारण उसके द्वारा अत्यन्त प्रकाशन नहीं हो पाता, किञ्चित् प्रकाशन ही हो पाता है। जिस प्रकार ईश्वर की उपाधि अज्ञानसमष्टि जगत् का कारण होनेके कारण कारणशरीर कही जाती है, ठीक उसी प्रकार अज्ञानव्यष्टि भी अहङ्कारादि का कारण होने के कारण कारणशरीर कही जाती है। सुषुप्तिकाल में अनुभूयमान आनन्द विना किसी इन्द्रिय आदि की सहायता के होता है। सुषुप्तिकाल में आनन्द का तो जगने के बाद होनेवाले 'मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ भी पता नहीं चला' इस प्रकार के ज्ञान से पता चलता है। विना किसी इन्द्रियादिसाधनों के आनन्द तो तभी हो सकता है, यदि जीव का

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः, 'आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः, 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च।

तदानीमिति। सुषुप्तिदशायामित्यर्थः। **ईश्वरेति।** यद्यपीश्वरस्य न सुषुप्तिः,जागराद्यवस्थानां जीवसम्बन्धित्वात्, तथापीश्वरसुषुप्तिपदेन प्रलयो द्रष्टव्यः। एतच्चोपलक्षणम्, ईश्वरस्य सदानन्दस्फुरणादिति बोध्यम्। अज्ञानवृत्त्या च आनन्दस्फुरणं जीवस्यैव, ईश्वरस्य च स्वत एवेति मन्तव्यम्। **चैतन्यदीप्ताभिरिति।** वृत्तिर्ह्युत्पद्यमाना चिद्व्याप्तैवोत्पद्यते, वृत्तेस्तथैव स्वभावात्। तदुक्तम्—

स्वरूप ही आनन्द हो। उपाधि तथा उपहित का अत्यन्त सामीप्य होने के कारण उपहित के आनन्दमय होने के कारण उपाधि अज्ञानव्यष्टि को भी आनन्दमय शब्द के द्वारा कहा गया। चूँकि अज्ञानव्यष्टि आत्मा का आच्छादन करती है, आत्मा के स्वरूप का आच्छादन करती है, इसी कारण उसको कोश भी कहा गया है। तथा दोनों को संयोजित कर के आनन्दमयकोश शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। सुषुप्ति काल में केवल संस्कार ही शेष बचते हैं, अन्य कुछ भी शेष रहता नहीं। सब कुछ अज्ञानव्यष्टि में लीन हो जाता है, इसी कारण तो सुषुप्ति के बाद उठने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ भी पता नहीं चला' इस प्रकार के ज्ञान से केवल अपने अज्ञान का तथा आत्मा के स्वरूपभूत आनन्द का पता चलता है। इस प्रकार अज्ञानव्यष्टि में भी अज्ञानसमष्टि के समान कारणशरीरत्व, आनन्दमयकोशत्व तथा स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानत्व सङ्गत होता है।

इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न पर विचार कर लेना सङ्गत है। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह निष्कर्ष सामने आता है कि अज्ञानव्यष्टि से उपहित चैतन्य ही जीव कहा जाता है। अज्ञानव्यष्टि क्या है? वह भी वस्तुतः अविद्या ही है। इस प्रकार अविद्या से उपहित चैतन्य को जीव कहा जाता है, यह बात आयी। इस प्रकार अविद्या के अधीन जीवत्व तथा जीव के आश्रित अविद्या मानने की स्थिति आयेगी। समस्या यह है कि यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है? यदि अविद्या के अधीन जीवत्व है, तो अविद्या को जीव पर आश्रित नहीं माना जा सकता क्योंकि इस प्रकार तो अन्योन्याश्रय हो जायेगा। यदि दो सिद्धान्त या दो वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हों तो अन्योन्याश्रय दोष होता है। यहाँ पर अविद्या के अधीन जीवत्व तथा जीव पर आश्रित अविद्या मान रहे हैं। इस कारण अन्योन्याश्रय होगा।

तो इस प्रश्न का समाधान भिन्न-भिन्न पद्धतियों से दिया जाता है। एक समाधान यह है कि जैसे बीज से फल तथा फल से बीज हुआ करता है, इस अन्योन्याश्रय को दोष नहीं माना जाता है, क्योंकि बीजाङ्कुरपरम्परा अनादि है। उसी प्रकार यहाँ पर भी अविद्या के अधीन जीवत्व तथा जीव पर आश्रित अविद्या को मानने में जो अन्योन्याश्रय आता है, वह दोषावह नहीं है क्योंकि अविद्या तथा जीव दोनों ही अनादि हैं। वाचस्पतिमिश्र कहते हैं— *'न च-अविद्योपाधिभेदाधीनो जीवभेदो जीवभेदाधीनश्चाविद्योपाधिभेद इति परस्पराश्रयादुभयासिद्धिरिति साम्प्रतम्; अनादित्वाद् बीजाङ्कुरवदुभयसिद्धेः'* (द्रष्टव्य—भामती पृ.३७८, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्) यदि दोनों

'वियद्वस्तुस्वभावानुरोधादेव न कारकात्। तद्वत्सम्पूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्येवं दृशो धियाम्।।' इति। अत एव च वृत्तौ परेषां[1] चित्त्वभ्रम इति भावः। **अतिसूक्ष्माभिरिति**। *अस्पष्टाभिरित्यर्थः।* तासां कल्प्यत्वादिति भावः। **चेतोमुख** इति। चैतन्यं मुखवद्भासमानं यस्य स ईश्वर इत्यर्थः।

ननु सुषुप्तिदशायां किमज्ञानवृत्त्या, आनन्दस्फुरणस्येश्वरवज्जीवस्यापि स्वत एव सम्भवात्। तत्राह— **सुखमहमिति**। प्रथमत उत्थितस्य 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' इति परामर्शस्तावज्जायते। स

सादि होते, या इन दोनों में से कोई एक भी सादि होता, तब तो अन्योन्याश्रय दोष होता। दोनों के सादि होने पर तथा दोनों में से किसी एक के सादि होने पर दोनों की परस्पराश्रयता सम्भव नहीं होगी, क्योंकि पूर्वभावी का आश्रय परभावी नहीं हो सकेगा। इस कारण अन्योन्याश्रय दोष के रूप में उपस्थित होगा। परन्तु यहाँ पर तो जीव तथा अविद्या दोनों ही अनादि हैं, इस कारण दोनों ही एक दूसरे पर आश्रित हो सकते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। अन्योन्याश्रय को दोष मानने का आधार यह होता है कि उससे या तो उत्पत्ति का प्रतिबन्ध किया जायेगा, या तो ज्ञप्ति (ज्ञान) का प्रतिबन्ध किया जायेगा, अथवा स्थिति सम्भव नहीं होगी। उत्पत्ति का प्रतिबन्ध किया नहीं जा सकता क्योंकि दोनों ही अनादि होने के कारण उत्पन्न ही नहीं होते। ज्ञप्ति का भी प्रतिबन्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि जीव स्वप्रकाश होने के कारण सर्वदा स्फुरित रहता है, उसकी ज्ञप्ति का प्रतिबन्ध सम्भव नहीं है। अविद्या का स्फुरण भी इस कारण सम्भव है क्योंकि वह अविद्या उसी जीवचैतन्य में अध्यस्त है। तृतीय पक्ष भी सङ्गत नहीं है क्योंकि अविद्या जीव पर आश्रित है, परन्तु जीव अविद्या पर आश्रित नहीं है। जैसे घट से कल्पित आकाश प्रदेश में घट अवस्थित रहता है, उसी प्रकार जीवाश्रिता अविद्या को भी समझना चाहिए। ये अन्य बात है कि अविद्या के अधीन उस जीव का जीवत्व है। भामतीप्रस्थान के प्रवर्तक वाचस्पति मिश्र अविद्या का आश्रय जीव को मानते हैं, यद्यपि उस अविद्या का विषय ब्रह्म है। जैसी कि उनकी पङ्क्तियाँ हैं— *'तस्माज्जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया चेश्वरमाश्रयत इतीश्वराश्रयेत्युच्यते, न त्वाधारतया; विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेरिति'* (द्रष्टव्य—भामती पृ.३७८, वहीं)। उन्हीं के मत से उक्त समस्या का समाधान दिया गया है।

सङ्क्षेपशारीरक के लेखक सर्वज्ञात्ममुनि तो अविद्या का आश्रय तथा अविद्या का विषय जीव को नहीं मानते हैं, किन्तु उनके मत के अनुसार अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों ही शुद्धचैतन्य है।

उस समय—सुषुप्ति के काल में— ये ईश्वर तथा प्राज्ञ चैतन्य के द्वारा प्रदीप्त अतिसूक्ष्म अज्ञान की वृत्तियों के द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। श्रुति कहती है कि 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' आनन्द का भोक्ता चैतन्यमुख (चैतन्य ही मुख है— मुखवद् भासमान है, जिसका वही चेतोमुख है, अर्थात् ईश्वर) और प्राज्ञ है। इसके अतिरिक्त सुषुप्ति के उपरान्त उत्थित व्यक्ति को स्मरण भी होता है कि 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' मैं बहुत सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ भी पता नहीं चला।

सुषुप्ति काल में ईश्वर तथा प्राज्ञ (यानी जीव) दोनों ही चैतन्य के द्वारा प्रदीप्त अतिसूक्ष्म अज्ञानवृत्तियों के

१.ज्ञान जन्यमिति मन्यमानाना तार्किकादीनाम्।

नानुमानम्, लिङ्गाद्यनुसन्धानमन्तरेणापि जायमानत्वात्, किन्तु स्मरणम्। तच्च न दुःखाभावस्य, सुषुप्तौ दुःखानुभवाभावेन दुःखाभावानुभवाभावात्; अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात्, असति च दुःखाभावानुभवे तद्विषयस्य स्मरणस्यानुपपन्नत्वात्। ततश्च सुखस्य स्मरणं वक्तव्यम्। तदपि न जन्यं सुखम्, तस्य सुषुप्तौ अनुभवायोगात्। किन्तु नित्यस्यैव सुखस्य स्मरणं वक्तव्यम्। स्मरणञ्च संस्कारजन्यम्। संस्कारश्चानुभवजन्य इति नित्यसुखस्य सुषुप्तावनुभवो वक्तव्यः। स च चिद्रूपः। तस्य नित्यत्वेन संस्कारानाधायकत्वात्, प्रकारान्तरस्य च असम्भवात्। अतोऽविद्यावृत्त्यैव नित्यानन्दस्फुरणं वक्तव्यम्। तया च संस्कारजनने उत्थितस्य 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति स्मरणसम्भवात्। स्वरूपचैतन्येनैवानन्दस्फुरणे तस्य

द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। जीव के द्वारा सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव किया जाना तो समझ में आता है, परन्तु ईश्वर के द्वारा सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव किया जाना समझ में नहीं आता है, क्योंकि ईश्वर जीव की तरह सुषुप्ति का अनुभव करता ही नहीं। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ तो जीव की अवस्थाएँ हैं, ईश्वर की नहीं। इस कारण ईश्वर की सुषुप्ति के द्वारा प्रलयकाल को लेना चाहिए। उस प्रलय काल में ईश्वर को आनन्द का स्फुरण होता रहता है। वस्तुतः प्रलयकाल केवल उपलक्षण है ईश्वर को तो सर्वदा ही आनन्द का स्फुरण होता रहता है। साथ ही साथ जीव को ही सुषुप्ति की अवस्था में अज्ञान की वृत्ति से आनन्द का स्फुरण होता है, ईश्वर को तो स्वतः ही— विना किसी अज्ञानादि वृत्ति के ही— आनन्द का स्फुरण होता है।

आत्मा ही चैतन्य है, परन्तु वृत्ति के आधार पर जागतिक वस्तुओं का ज्ञान हुआ करता है। वेदान्त की प्रक्रिया के अनुसार हमारी इन्द्रियाँ नाली के समान हैं। जिस प्रकार नाली के माध्यम से जल खेत में पहुँचता है, तथा उस खेत का आकार ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार हमारा अन्तःकरण हमारी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयदेश में पहुँच कर विषयाकाराकारित हो जाता है। अन्तःकरण का विषयाकार में परिणत हो जाना ही अन्तःकरण की वृत्ति है। अन्तःकरण की जिस विषय के आकार में वृत्ति बनती है, उस विषय का ज्ञान होता है। परन्तु जब भी वृत्ति उत्पन्न होती है, चिद्व्याप्त ही उत्पन्न होती है, क्योंकि वृत्ति का स्वभाव ही कुछ इस प्रकार का है। वृत्ति जिस विषय के आकार में बनती है, हम कहते हैं कि उस वस्तु का ज्ञान हो गया। परन्तु यह विषयप्रकाशकता वृत्ति में नहीं है, चैतन्य में है। चूँकि वृत्ति जब भी विषयाकाराकारित होती है तो चिद्व्याप्त ही होती है, इसी कारण नैयायिक आदि दार्शनिकों को वृत्ति में ही चित् होने का भ्रम हो जाता है। विषय से इन्द्रिय का सम्बन्ध या सन्निकर्ष होने पर प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। परन्तु वह ज्ञान नहीं है किन्तु वृत्ति है। ज्ञान तो नित्य है, जायमान नहीं। उस चित् के द्वारा व्याप्त होने के कारण वृत्ति उसी प्रकार से विषय को प्रकाशित कर देती है, जिस प्रकार लोहे का स्वभाव जलाना नहीं है किन्तु अग्नि से सम्बद्ध (अग्नि में तपा हुआ) लोहा भी जला देता है। जीव चैतन्यस्वरूप होते हुए भी विना वृत्ति के जान नहीं पाता है, इसी कारण उसे वृत्ति की अपेक्षा होती है। सुषुप्ति काल में भी वृत्ति के द्वारा ही आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि वे वृत्तियाँ अनुभव में नहीं आती हैं, इसी कारण उन वृत्तियों को अतिसूक्ष्म कहा। अतिसूक्ष्म का तात्पर्य यहाँ पर अस्पष्ट से है। वे वृत्तियाँ अस्पष्ट हैं क्योंकि अनुभव में नहीं आती हैं, बल्कि उनकी कल्पना करनी पड़ती है। सुषुप्तिकाल में यद्यपि किसी वृत्ति का अनुभव नहीं होता है,

नित्यत्वेन संस्कारानाधायकत्वात् स्मरणानुपपत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात् स्मरणान्यथानुपपत्त्या सुषुप्तावविद्या-वृत्तिरावश्यिकी। ईश्वरस्य तु न स्मरणमस्ति, किन्तु केवलं सुखानुभवः। स च स्वरूपचैतन्येनैव सम्भवतीति किमर्थमज्ञानवृत्तिः स्वीकार्या। अतोऽज्ञानवृत्तिभिरित्यग्रे स्वरूपचैतन्येनेत्यपि ज्ञेयमिति।

परन्तु उस वृत्ति का हम अनुमान करते हैं। उसी अज्ञानवृत्ति के द्वारा जीव सुषुप्ति में आनन्द का अनुभव करता है।

परन्तु क्या ईश्वर के समान जीव को भी आनन्द का स्फुरण स्वतः ही सम्भव नहीं है, यदि सम्भव हो तो फिर अविद्या की वृत्ति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता? तो जीव को सर्वदा आनन्द का स्फुरण नहीं होने के कारण उसको आनन्द का स्वतः सम्भव नहीं है। सुषुप्तिदशा में अज्ञान की वृत्ति के द्वारा ही आनन्द का अनुभव जीव को हो सकता है, स्वतः नहीं। सुषुप्ति से उठने के बाद परामर्श होता है कि 'मैं सुख से सोया, कुछ भी नहीं जाना'। विचार किया जाना चाहिए कि यह परामर्श किस प्रकार का ज्ञान है? क्या यह अनुमान है, तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि अनुमान तो लिङ्ग (हेतु) आदि का अनुसन्धान होने पर ही सम्भव होता है। यहाँ पर 'मैं सुख से सोया, कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार का परामर्श तो बिना किसी लिङ्ग आदि का अनुसन्धान हुए ही हो रहा है। इस कारण यह परामर्श अनुमितिरूप अनुमान का फल नहीं हो सकता। अनुभवात्मक भी यह परामर्श नहीं है क्योंकि सुषुप्तिकालीन आनन्द का अनुभव तो सुषुप्ति की अवस्था में ही हो सकता है, सुषुप्ति के उपरान्त जगने पर नहीं हो सकता। इस प्रकार यह परामर्श स्मरणात्मक है, यही मानना पड़ेगा।

तो किसका स्मरण हो रहा है? दुःखाभाव का स्मरण तो सम्भव नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति में दुःखाभाव का अनुभव हुआ था, उसी का स्मरण जाग्रदवस्था में हो रहा है क्योंकि दुःखाभाव का अनुभव होने के लिए दुःख का स्मरण होना चाहिए। बिना प्रतियोगिज्ञान के अभाव का ज्ञान तो कथमपि सम्भव नहीं। सुषुप्ति में दुःख का स्मरण या अनुभव नहीं हुआ है, इस कारण सुषुप्ति में दुःखाभाव का अनुभव हुआ है, ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि दुःख का स्मरण हुआ होता तो उसका भी जगने पर स्मरण होना चाहिए था। इस कारण परिशिष्ट है सुख का अनुभव। सुषुप्ति में सुख का अनुभव हुआ था, वही सुख सुषुप्ति से उठने पर जाग्रदवस्था में स्मरण का विषय होता है। तो किस सुख का स्मरण सुषुप्ति के बाद जगने पर हो रहा है? सुषुप्ति में अनुभूत जन्यसुख का स्मरण तो सुषुप्ति से उत्थित को नहीं हो सकता क्योंकि सुषुप्ति में जन्य सुख सम्भव नहीं है तो उसका अनुभव किस प्रकार हो सकेगा? यही मानना पड़ेगा कि सुषुप्ति में नित्य-सुख का ही अनुभव हुआ था, तथा उसी सुषुप्ति में अनुभूत नित्य-सुख का स्मरण सुषुप्ति से उठने के बाद हुआ करता है। स्मरण संस्कार से जन्य होता है, तथा संस्कार अनुभव से जन्य होता है। इसलिए सुषुप्ति में नित्यसुख का अनुभव होता है, ऐसा मानना अनिवार्य हो जाता है। वह सुषुप्ति में अनुभूत नित्य-सुख चिद्रूप है क्योंकि वह नित्य है, इस कारण उसमें किसी संस्कार का आधान नहीं किया जा सकता। दूसरा कोई प्रकार उसके ज्ञान का तो हो नहीं सकता। इस कारण यही मानना पड़ेगा कि अविद्या की वृत्ति के द्वारा ही सुषुप्ति में नित्य आनन्द का स्फुरण हुआ करता है। सुषुप्ति में नित्य आनन्द का अनुभवात्मक स्फुरण हो चुका था, अतः सुषुप्ति से उठने के बाद 'मैं सुख से सोया, मुझे कुछ भी नहीं पता चला' ऐसा स्मरण हो सकता है।

यदि कहा जाये कि बिना अविद्या की वृत्ति के ही किस कारण आनन्द का सुषुप्ति में अनुभव नहीं मान

अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः, 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादिश्रुतेः।

एतदुपहितयोरिति। ननु वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरभेदो युक्तः, वृक्षातिरिक्तवनाभावेन वृक्षावच्छिन्नाकाशस्यैव वनाकाशत्वात्, स्वतन्त्रोपाधेरभावात्। नैवं जीवेश्वरयोरौपाधिकयोरभेदो युक्तः, उपाध्योर्भेदात्। न च तयोरप्यभेदो युक्तः, तथा सत्युपाध्योरभेदे उपहितयोरप्यभेदात् सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिधर्मसङ्करात्; उपाधिनिरूपणवैयर्थ्यापाताच्च। स्वरूपचैतन्यस्यैकत्वेन विरुद्धधर्मसाङ्कर्यं मा भूदित्युपाधिभेदनिरूपणेन

लेते? तो ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्वरूपचैतन्य से आनन्द का स्फुरण तो नित्य है तथा वह संस्कार का आधायक नहीं होता है, संस्कार का आधायक न होने के कारण उससे— स्वरूपचैतन्य के द्वारा होनेवाले आनन्द-स्फुरण से— स्मरण सम्भव नहीं होगा। इस कारण मानना पड़ता है कि जीव को आनन्द का अनुभव किसी न किसी वृत्ति के द्वारा ही होता है, अन्यथा जाग्रत् अवस्था में आनन्द का ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता, जो संस्कार का आधायक होता हो? ईश्वरवत् स्वतः आनन्द का अनुभव यदि जीव को होता तो सर्वदा ही आनन्दानुभव होना चाहिए था, जो कि अनुभवविरुद्ध है। सुषुप्ति में ही— जब कुछ भी नहीं जान पाता है, उस समय— आनन्द का अनुभव होना यही दर्शाता है कि अज्ञान की वृत्ति से ही उस सुषुप्ति के काल में आनन्दानुभव होता है। इस प्रकार स्मरण के अन्यथा अनुपपन्न होने के कारण सुषुप्ति में अविद्या की वृत्ति माननी आवश्यक है। ईश्वर को चूँकि केवल सुखानुभव ही होता है, स्मरण नहीं; तथा सुखानुभव तो स्वरूपचैतन्य से भी हो सकता है, इस कारण ईश्वर में अविद्यावृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस कारण यहाँ पर मूलकार का यही तात्पर्य समझना चाहिए कि जीव को अविद्या की वृत्ति से तथा ईश्वर को स्वरूपचैतन्य से आनन्द का अनुभव होता है।

इन दोनों में— अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि में— यद्यपि भेद भासित होता है, तथापि उसी प्रकार अभेद है, जैसे वन तथा वृक्ष में या जलाशय व जल में अभेद होता है। वन व वृक्ष में, जलाशय व जल में वस्तुतः भेद नहीं है, तथापि भेद की विवक्षा से हम भेद कर देते हैं। उसी प्रकार यद्यपि अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि में कोई भेद नहीं है, तथापि हम विवक्षा के आधार पर भेद कर देते हैं।

इन दोनों अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि से उपहित चैतन्य में ईश्वर तथा प्राज्ञ में भी वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश की तरह या जलाशय व जल में गत आकाश-प्रतिबिम्ब के समान वस्तुतः अभेद है, इसी को प्रतिपादित करनेवाली श्रुति प्राप्त होती है 'एष सर्वेश्वरः' यह सर्वेश्वर है, इत्यादि।

जिस प्रकार वन तथा वृक्ष में भेद न होने के कारण वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में वस्तुतः कोई भेद नहीं हुआ करता, जलाशय तथा जल के अभिन्न होने के कारण जलाशयगत आकाश-प्रतिबिम्ब तथा जलगत आकाश-प्रतिबिम्ब में कोई भेद नहीं होता, ठीक उसी प्रकार अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि के अभिन्न होने के कारण-अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर में तथा अज्ञानव्यष्टि से उपहित

विरुद्धधर्मव्यवस्था क्रियते। उपाध्यभेदे च विरुद्धधर्मव्यवस्था न सम्भवतीति तन्निरूपणमनर्थकमापद्येत। 'एष सर्वेश्वरः' इति श्रुतौ नोपहितयोरभेद उच्यते। किन्तु विरुद्धधर्मपरित्यागेन स्वरूपचैतन्यस्याभेद उच्यते। उपहितयोरभेदे 'तत्त्वमसि'वाक्ये लक्षणावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। तत्र हि शक्त्योपहितयोरभेद उच्यते। स च उपाध्योर्भेदेन न सम्भवतीति लक्षणया उपाध्योः परित्यागेन स्वरूपचैतन्यमात्रं बोध्यते। उपाध्योरभेदे उपहितयोरप्यभेदः शक्त्या प्रतीयमानः सम्भवतीति किं लक्षणया। तस्मान्नोपहितयोरभेद इत्यनुपपन्नोऽयं ग्रन्थ इतिश्चेत्?

चैतन्य जीव में कोई भेद नहीं होता है। जीव के सर्वेश्वरत्व को बताती हुई *'एष सर्वेश्वरः'* यह सर्वेश्वर है, इस प्रकार की श्रुति भी इसी का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार वस्तुतः देखा जाये तो जीव की उपाधि तथा ईश्वर की उपाधि में कोई भेद नहीं है, तथा इस कारण जीव तथा ईश्वर में भी कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही चैतन्यस्वरूप हैं।

यहाँ पर प्रश्न यह खड़ा होता है कि यदि अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि रूप उपाधियों में कोई भेद नहीं है, तो उपहित में किस प्रकार से भेद हो सकेगा। आखिर उपाधिभेद से ही तो उपहितभेद की व्यवस्था अद्वैती करते हैं। यदि उपाधियों में ही भेद नहीं है, तो उपहित में किस प्रकार से भेद हो सकेगा? ईश्वर तथा जीव में भेद तो स्वीकार्य ही है। इसी भेद को उपपादित करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने अज्ञानसमष्टि को अज्ञानव्यष्टि से अतिरिक्त अज्ञानसमुदाय की एक विषयतास्वरूप माना है। अन्य रीति से भी इसी कारण व्यष्टि से अतिरिक्त भिन्नत्वेन तथा अभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय समष्टि को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उपाधियों का भेद तो यहाँ पर स्वीकार्य है। वन तथा वृक्ष के अभिन्न होने के कारण वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश भले ही अभिन्न हों क्योंकि उपाधियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। परन्तु औपाधिक जीव तथा ईश्वर में तो इस प्रकार से अभेद नहीं किया जा सकता क्योंकि इन दोनों की उपाधियाँ तो भिन्न-भिन्न हो रही हैं। यदि यह कहा जाये कि ठीक है यहाँ पर भी वन तथा वृक्ष की तरह उपाधियों का भी अभेद मान लिया जाये। तो यह कह पाना यहाँ पर सम्भव नहीं है क्योंकि यदि यहाँ पर उपाधियों के अभेद को स्वीकार करते हुए उपहितों का अभेद माना जायेगा, तब तो सर्वज्ञत्व तथा किञ्चिज्ज्ञत्वादि विरुद्ध धर्मों का साङ्कर्य स्वीकार करना पड़ेगा। एक ही में सर्वज्ञत्व भी है तथा किञ्चिज्ज्ञत्व भी ऐसा मानने की बारी आ जायेगी। ऐसा तो नहीं स्वीकार किया जा सकता। दूसरी समस्या यह होगी कि यदि उपहितों का भी अभेद स्वीकार करना है तो उपाधियों के निरूपण की आवश्यकता ही क्या थी? उपाधियों के निरूपण की आवश्यकता ही यही है कि स्वरूपचैतन्य के एक होने के कारण विरुद्ध धर्मों का साङ्कर्य न हो, इसलिए उपाधि के भेद के निरूपण से विरुद्धधर्म की व्यवस्था की जाती है। उपाधियों का भी अभेद मान लेने पर तो विरुद्धधर्म की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। जिस *'एष सर्वेश्वरः'* यह सर्वेश्वर है, इस प्रकार की श्रुति के आधार पर यह निर्धारित करने का प्रयास किया जा रहा है कि जीव व परमेश्वर का अभेद है, वह श्रुति भी वस्तुतः जीव व परमेश्वर के अभेद को नहीं बताती है, किन्तु उपाधि के विरुद्ध धर्मों का परित्याग कर स्वरूपचैतन्य के अभेद का ही प्रतिपादन करती है। *'तत्त्वमसि'* वह तुम हो, इत्यादि वाक्यों में भी शक्ति से उपहितों का अभेद ही प्रतीत होता है, परन्तु विरुद्धधर्मविशिष्ट उपहितों का अभेद बाधित है, क्योंकि ईश्वर तथा जीव की उपाधियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

अत्रोच्यते—उपाध्योरभेद इत्यत्र अभेदशब्देन नैक्यमुच्यते, विरोधात्। किन्तु भेदशब्देन भेदयतीति व्युत्पत्त्या भेदकत्वमुच्यते, तदभावोऽभेदः। एतदुक्तं भवति— उपाधिभ्यां हि वस्तुतो वस्तु न भिद्यते। किन्तु उप समीपे स्थित्वा स्वनिष्ठभेदजातीयो भेदोऽनिर्वचनीयस्तत्रासज्ज्यते। तस्मादुपाध्योर्न वास्तवं भेदकत्वमिति प्रथमाभेदशब्देनोच्यते।

उपाधियों के भिन्न होने के कारण शक्ति से उपस्थित अर्थों का; उपहितों का अभेद नहीं बोधित किया जा सकता, इस कारण लक्षणा से विरुद्ध धर्म का परित्याग करते हुए केवल शुद्ध चैतन्य बोधित होता है। इसलिए उपहितों का भी अभेद नहीं हो सकता है और न तो उपाधियों का ही अभेद हो सकता है। इस कारण प्रकृत ग्रन्थ की सङ्गति होनी मुश्किल दिखती है?

इस प्रश्न का समाधान बालबोधिनी टीका के लेखक आपदेव देते हैं कि उपाधियों का अभेद कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उपाधियों की एकता है क्योंकि उपाधियों की एकता होने में तो विरोध है। किन्तु भेद शब्द की 'भेदयतीति भेदः' जो भेद करे उसे भेद कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के आधार पर भेदकत्व ही भेद शब्द का अर्थ है। तथा उस भेदकत्व का अभाव ही अभेद है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि उपाधियों के द्वारा वस्तुतः वस्तु में भेद नहीं किया जाता। घटाकाश तथा पटाकाश इस प्रकार से आकाश का भिन्न रूप में व्यवहार होता है, परन्तु घट के द्वारा या पट के द्वारा वस्तुतः आकाश में उस प्रकार का कोई भेद नहीं किया जाता है जैसा भेद लकड़ी को कुल्हाड़ी से चीर देने पर हो जाता है। परशु से कटे हुए काष्ठ के समान आकाश में कोई भेद घट या पट के द्वारा थोड़े ही किया जाता है। किन्तु समीप में स्थित रहते हुए स्वनिष्ठ भेद का समानजातीय अनिर्वचनीय भेद आकाश में उत्पादित कर दिया जाता है। इस प्रकार उपाधियों का वास्तविक भेदकत्व नहीं है यही बात उपाधियों का अभेद है, ऐसा बताते हुए कही गयी है। जैसे वन तथा वृक्ष का वास्तविक रूप में आकाश का भेदकत्व नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ पर भी अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि रूप ईश्वर तथा जीव की उपाधियों का वास्तविक रूप में चैतन्य का भेदकत्व नहीं है। जब उपाधि वास्तविक रूप से भेदक नहीं होती, तो निश्चय ही उपहितों का वास्तविक अभेद होगा। इस कारण मूलकार का कथन अनुपपन्न नहीं है।

अथवा आत्मा का भेद स्वीकार करनेवाले जो नैयायिक आदि हैं, उनके प्रति शाम्यतु दुर्जनः इस न्याय से—प्रतिपक्षी की बात से सहमत न होते हुए भी उसकी बात को स्वीकार कर खण्डन कर रहे हैं। (इसे ही प्रौढिवाद कहा जाता है) ठीक है, औपाधिकों का भी अभेद है तो फिर उपाधिविनिर्मुक्त स्वरूपचैतन्य का अभेद तो होगा ही इस प्रौढिवाद से उपर्युक्त बात ग्रन्थकार ने कही है। इस बात को आपदेव प्रौढिवाद कह रहे हैं, परन्तु इसी अभिप्राय को ग्रहण करते हुए सुबोधिनी टीका के लेखक नृसिंह सरस्वती ने इस ग्रन्थ की व्याख्या की है, ऐसा लगता है। वस्तुतः उपाधियों में भी कोई पारमार्थिक भेद नहीं है, ऐसा पक्ष रखते हैं। यह भेद भासमान अवश्य है। उसी प्रकार ईश्वर तथा जीव के मध्य भी कोई पारमार्थिक भेद नहीं है तथापि भासमान होता है, ऐसा माना जा सकता है। भासमान भेद किसी भी प्रकार से वास्तविक अभेद का तिरस्कार नहीं कर सकता। यथा आँख का पीडन करने पर दिखायी पड़नेवाले द्विचन्द्र में परस्पर भेद तो दिखायी देता है, परन्तु उस भासमान भेद के कारण चन्द्र

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाधारभूतानुपहिता-काशवत्, अनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीय-

तत्र दृष्टान्तमाह— **वनेति**। यथा वनवृक्षयोर्जलाशयजलयोर्वा न वास्तवं व्योमभेदकत्वम्, तद्वत् प्रकृतोपाध्योरपि न वास्तवं तदित्यर्थः। उपाध्योर्वास्तवभेदकत्वाभावे उपहितयोर्वास्तवोऽभेद इत्याह द्वितीयाभेदशब्देन। न त्वभेदशब्देनोपहितयोर्भेद एव नास्तीत्युच्यते। तस्मान्न विरोधः।

यद्वा आत्मभेदवादिनं प्रति 'शाम्यतु दुर्जनः' इति न्यायेन औपाधिकयोरप्यभेदः, किं पुनः स्वरूपचैतन्यस्येति प्रौढिवादेन[1] एतदुक्तमिति न दोषः।

में भेद नहीं होता, अभेद ही रहता है। उसी प्रकार अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि रूप उपाधियों में भी कोई वास्तविक भेद नहीं है, तथा उपहितों में भी कोई वास्तविक भेद नहीं है, केवल भेद प्रतीयमान होता है। उस प्रतीयमान भेद से ईश्वर तथा जीव में कोई भेद सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार वस्तुतः औपाधिक का भी अभेद है, यह बात सामने आती है।

जिस प्रकार वन-वृक्ष तथा वन-वृक्ष से अवच्छिन्न आकाशों का आश्रय होता है अनुपहित आकाश तथा जिस प्रकार जलाशय तथा जलगत प्रतिबिम्बों का आधार होता है अनुपहित आकाश; उसी प्रकार इन अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य का आधार होता है अनुपहित चैतन्य। उसी अनुपहित चैतन्य को तुरीय भी कहा जाता है क्योंकि श्रुति प्राप्त होती है 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' चतुर्थ को शिव तथा अद्वैत मानते हैं। यही अद्वितीय तुरीय शुद्ध चैतन्य अज्ञानादि तथा अज्ञानादि से उपहित द्विविध चैतन्यों (अज्ञानसमष्टि तथा अज्ञानव्यष्टि से उपहित द्विविध चैतन्यों) से उसी प्रकार अविविक्त (भिन्नतया अप्रतीयमान) होता है, जैसे आग से तपाया हुआ लोहे का गोला आग से अतिरिक्त प्रतीयमान नहीं होता है। वही 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इत्यादि महावाक्यों का वाच्य होता है, तथा विविक्त कर लेने पर लक्ष्य होता है।

वन तथा वृक्ष में कोई वास्तविक भेद नहीं है, वन तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में भी कोई भेद नहीं है। परन्तु इससे अतिरिक्त एक बात ध्येय है कि वन तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश का आधार अनवच्छिन्न आकाश है। उपाधि से अनवच्छिन्न आकाश के विना अवच्छिन्न आकाश की तार्किक रूप में चर्चा भी नहीं की जा सकती। इसी प्रकार जलाशय तथा जल गत आकाशप्रतिबिम्ब का आधार है अनुपहित आकाश। आकाश के न होने पर आकाश के प्रतिबिम्ब की बात नहीं की जा सकती। ठीक उसी प्रकार अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्यों का आधार होता है अनुपहित चैतन्य। उसी अनुपहित चैतन्य को तुरीय (चतुर्थ) भी कहा जाता है। चतुर्थ कहने का तात्पर्य है कि वह शुद्ध अनुपहित चैतन्य अज्ञान, ईश्वर तथा जीव इन तीन के बाद चौथा होता है। अथवा जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन अवस्थाओं से अतिरिक्त चौथी अवस्था है, इस कारण उस शुद्ध अनुपहित चैतन्य को चतुर्थ कहा गया है। यह शुद्ध अनुपहित चैतन्य अज्ञान से उपहित चैतन्य (जो कि जीव है) तथा अज्ञान की विषयता

१. अभ्युपेत्य परपक्षं तस्य खण्डन प्रौढिवादः। वेदान्तिनस्तावत् औपाधिकयोरभेदं नाङ्गीकुर्वन्ति परन्तु अत्रौपाधिकयोरप्यभेदः किमु तावन्निरुपाधिकस्य चैतन्यस्य, इति कृत्वा औपाधिकस्याप्यभेदः परपक्षखण्डनाय स्वीकृतः।

मित्युच्यते, 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्य-मज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यम्, विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते।

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावद-ल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया

आधारभूतमधिष्ठानभूतमित्यर्थः। जीवेश्वरौ **तदुपहितचैतन्य**शब्दार्थः। **तच्छब्द** उक्तोपाधिपरामर्शी। **तुरीयं** चतुर्थम्। चतुर्थमित्यज्ञानजीवेश्वरेभ्य इत्यर्थः। यद्वा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाभ्य इत्यर्थः। **अज्ञानादीति**। अत्र विषयता आदिशब्दार्थः। **महावाक्यस्येति**। 'तत्त्वमसि'वाक्यस्येत्यर्थः।

एवं जीवेश्वरौ निरूप्य अज्ञाने शक्तिद्वयं निरूपयति— **अस्येति**। अत्रावरणविक्षेपनामकमित्यनेन आवरणविक्षेपस्वरूपं शक्तिद्वयमुक्तमिति न भ्रमितव्यम्, आवरणविक्षेपयोः शक्तित्वाभावात्। आवरणं हि चैतन्यनिष्ठम्। आवरणशक्तिस्त्वज्ञाननिष्ठत्वेन व्यवह्रियते साम्प्रदायिकैः। विक्षेपस्तु कार्यम्। तत्राज्ञानं कारणम्।

(वाचस्पति मिश्र के मतानुसार) से उपहित चैतन्य (जो कि ईश्वर है)से भिन्न रूप में प्रतीत नहीं होता है। वही महावाक्यों से वाच्य है। विविक्त होने पर लक्ष्य भी वही अनुपहित चैतन्य बनता है।

अध्यारोप-अपवादन्याय से ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जाता है, यह बताया। प्रथमप्राप्त अध्यारोप को बताते हुए कहा कि अज्ञान आदि सकल जडसमूह अवस्तु है। वह जडसमूह शुद्धचैतन्य पर आरोपित है। मूलतः शुद्धचैतन्यमात्र ही है, उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं। शुद्ध चैतन्य में यह समस्त संसार भासित होता है, अनुभवविषय होता है। शुद्धचैतन्य अनुभव का विषय नहीं होता। इसको अद्वैतवेदान्त के अनुसार इस प्रकार से समझाया जाता है कि यह संसार उस शुद्ध चैतन्य में ठीक उसी प्रकार से कल्पित है जैसे भ्रमस्थल में रज्जु में सर्प कल्पित होता है। रज्जु में सर्प का भ्रम जब होता है तो रज्जु का स्वरूप आवृत हो जाता है, 'रज्जु है' ऐसा पता नहीं चलता। अपितु रज्जु का स्वरूप आवृत होकर उसमें सर्प का भान होता है। परन्तु सर्प का भान उस स्थल में किस प्रकार से सम्भव है? वस्तुतः द्रष्टा अपने अज्ञान के द्वारा वहाँ पर सर्प का सृजन करता है। या यह कहें कि द्रष्टा का अज्ञान सर्प के रूप में परिणत हो जाता है। भ्रमस्थल में जब रज्जु में सर्प का भान होता है, तो दो बातें होती हैं— एक तो रज्जु के स्वरूप का आवरण तथा दूसरी सर्प का सृजन। इस भासमान संसार की व्याख्या भी अद्वैती इसी प्रकार से करते हैं। जिस प्रकार सर्प का अधिष्ठान रज्जु है, उसी प्रकार जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है। ब्रह्म के स्वरूप का आवरण हो कर जगत् का सृजन होता है। इसको इस रूप में कहा जाता है कि जगत् ब्रह्म में आरोपित है। परन्तु यह आरोप कैसे सम्भव है? यही स्पष्ट करने के लिए आगे की पङ्क्तियों के द्वारा अज्ञान का स्वरूप बता रहे हैं—

इस अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। आवरणशक्ति को इस प्रकार से समझा जा सकता है जैसे अल्प भी बादल देखनेवाले की आँखों के मार्ग को ढँककर अनेक योजनों में फैले हुए अत्यन्त विस्तृत सूर्य के मण्डल को ढँक सा लेता है, उसी प्रकार अज्ञान भी यद्यपि परिच्छिन्न है, अत्यन्त सीमित है, परन्तु

यथाऽऽच्छादयतीव, तथाऽज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिण-मवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाऽऽच्छादयतीव, तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥" इति।

अनयैवावरणशक्त्याऽवच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मक-तुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते, यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति,

कारणं च सिद्धान्ते शक्तिमदित्यावश्यिकी विक्षेपानुकूला अज्ञानशक्तिरिति। आवरणं च यद्यपि नाज्ञानकार्यं तस्यानादित्वात्, तथापि तत्प्रयोज्यं भवत्येवेति तदनुकूलाप्यज्ञाने शक्तिरावश्यिकी। तस्मादावरणविक्षेप-नामकमित्यावरणविक्षेपानुकूलमित्यर्थः।

ननु कथं परिच्छिन्नमज्ञानमपरिच्छिन्नमात्मानमाच्छादयतीति आशङ्क्य दृष्टत्वादित्याह— **अल्पोपी**ति। **मूढदृष्टे**रिति। अज्ञानयुक्तस्येत्यर्थः।

ननु किमिदमावरणम्? शृणु— 'नास्ति' 'न प्रकाशते' इत्यादिव्यवहारालम्बनत्वयोग्यता। सा च आवश्यिकी। अन्यथा स्वप्रकाशत्वेन 'अस्ति' 'प्रकाशते' इत्यादिव्यवहारयोग्ये ब्रह्मणि 'नास्ति' 'न प्रकाशते'

देखनेवाले की बुद्धि को आच्छादित कर अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को ढँक सा लेता है। ऐसी ही कुछ सामर्थ्य अज्ञान के आवरणशक्ति की है।

जैसा कि कहा गया है—

जिस प्रकार बादल से जिसकी दृष्टि आच्छादित हो गयी है, ऐसा अतिमूढ व्यक्ति सूर्य को बादल से आच्छादित तथा निष्प्रभ समझता है, उसी प्रकार मूढदृष्टि को जो (स्वयंप्रकाश, शुद्ध चैतन्य) बद्ध की तरह दिखायी देता है वह नित्य उपलब्धि स्वरूप आत्मा मैं हूँ।

इसी आवरणशक्ति के द्वारा अवच्छिन्न आत्मा में ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख, मोहादि स्वरूप संसारभावना भी सम्भावित होती है, जैसे अपने ही अज्ञान से आवृत रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना।

विक्षेपशक्ति तो जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान स्वावृत (अज्ञान के द्वारा आवृत) रज्जु में अपनी ही शक्ति से सर्पादि का उद्भावन करती है। इसी प्रकार मूलाज्ञान भी अपने से आवृत आत्मा में विक्षेपशक्ति के द्वारा आकाशादि प्रपञ्च का उद्भावन करता है। ऐसा सामर्थ्य अज्ञान का है। जैसा कि कहा गया है— विक्षेपशक्ति लिङ्गशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् का सृजन करती है।

मूलकार ने कहा है कि आवरण तथा विक्षेप नामक दो शक्तियाँ अज्ञान की हैं। प्रश्न होता है कि यह कैसे हो सकता है कि आवरण तथा विक्षेपस्वरूप दो शक्तियाँ अज्ञान में हों क्योंकि आवरण तथा विक्षेप शक्ति नहीं हैं। आवरण तो चैतन्य में स्थित है वह अज्ञान की शक्ति किस प्रकार से हो सकेगी? आवरणशक्ति का तो व्यवहार इसी

एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्या आकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति, तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—"विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डादि जगत्सृजेत्" इति।

इति व्यवहारानुपपत्तेः। **अनयेति**। आवरणशक्तियुक्तया अविद्ययेत्यर्थः। अधिष्ठानावरणे भ्रमः सम्भवति, तज्ज्ञाने भ्रमानुपपत्तेरिति भावः। **स्वावृतरज्जाविति**। अज्ञानेनावृते रज्ज्ववच्छिन्ने चैतन्य इत्यर्थः।

न च रज्जुरेवावृता किं न स्यादिति वाच्यम्? प्रकाशप्रसक्तौ च प्रकाशाभावे आवरणकल्पनात्।

नन्वेवं रज्ज्ववच्छिन्ने चैतन्येऽप्यावरणं न स्यात्, तस्य स्वप्रकाशत्वेऽपि पुरुषान्तरसंवेदनवद्भिन्नत्वेन प्रकाशाप्रसक्तेरिति चेत्?

प्रकार से किया जाता है जैसे कि वह अज्ञान में स्थित हो। इसी प्रकार विक्षेप भी कार्य है, उस विक्षेप के प्रति कारण बनता है अज्ञान। वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार कारण वही हो सकता है जो शक्तिमान् हो। यदि अज्ञान विक्षेप का कारण है तो विक्षेपानुकूला शक्ति अज्ञान में होनी चाहिए। यदि वह शक्ति न रही तो अज्ञान किस प्रकार से विक्षेप का कारण हो सकेगा? इस कारण अज्ञान में विक्षेपानुकूला शक्ति स्वीकार की जाती है, उसी शक्ति को विक्षेपशक्ति के नाम से जाना जाता है। परन्तु अज्ञान का कार्य आवरण नहीं हो सकता है क्योंकि आवरण तो अनादि है। अनादि किस प्रकार से कार्य हो सकेगा? इस कारण अज्ञान में विक्षेपानुकूला शक्ति स्वीकार करने पर भी आवरणानुकूला शक्ति अज्ञान में नहीं स्वीकार की जा सकती है। इसका उत्तर यह है कि आवरण अनादि होने के कारण भले ही कार्य न हो, परन्तु अनादि भी आवरण अज्ञान से प्रयोज्य तो होता ही है। इस कारण आवरणानुकूला शक्ति भी अज्ञान में स्वीकार्य है। इसी आवरणानुकूला शक्ति को ही आवरणशक्ति के नाम से तथा विक्षेपानुकूला शक्ति को ही विक्षेपशक्ति के नाम से जाना जाता है। आवरणशक्ति शुद्ध चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्द के स्वरूप का आवरण कर लेती है तथा ब्रह्मा से लेकर स्थावरान्त जगत् का विक्षेप विक्षेपशक्ति करती है। विक्षेप का तात्पर्य सृजन से है।

यह एक विचित्र तार्किक विरोध दिखता है कि स्वयम्प्रकाश चिद्रूप आत्मा का प्रकाश किसी प्रकार कुण्ठित हो सकता है? वह किसी प्रकार आकाशादि प्रपञ्च का जनक हो सकेगा? किस प्रकार से अपरिच्छिन्न आत्मा का आच्छादन परिच्छिन्न अज्ञान के द्वारा सम्भव होगा? इसी विरोध का परिहार करने के लिए अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप इन दो शक्तियों के विषय में बताया जा रहा है। इस स्थल में अज्ञान को परिच्छिन्न बताया गया। परन्तु यह ध्येय है कि अज्ञान को न तो मूर्त कहा जा सकता है न तो अमूर्त। मूर्त तथा अमूर्त इन दोनों ही प्रकारों से अज्ञान अनिर्वचनीय है। परिच्छिन्नता की बात भी इसी कारण अज्ञान पर लागू नहीं होती है। हम जिस आशय से घट-पटादि को परिच्छिन्न कहते हैं, उस आशय से अज्ञान को परिच्छिन्न नहीं कह सकते। तथापि परिच्छेदन जिस आत्मा का किया जाना है, उसकी अपेक्षा अज्ञान का अल्पत्वमात्र यहाँ पर विवक्षित है। इन्हीं दो आवरण तथा विक्षेप शक्तियों के द्वारा इस विरोध का परिहार सम्भव होता है। उसमें भी आवरणशक्ति वस्तुतः ब्रह्म का— शुद्ध चैतन्य, स्वयम्प्रकाश आत्मा— का आवरण नहीं करती है, केवल ज्ञाता की बुद्धि का आवरण करती है। प्रमाता की बुद्धि का आवरण कर देने मात्र से आत्मा का आवरण सम्पन्न हो जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया कि जिस प्रकार आकाश में फैले हुए स्वल्प मेघ की सामर्थ्य नहीं है कि वह अत्यन्त विस्तृत सूर्य का आवरण

अत्र वदन्ति— इदमाकारवृत्तिदशायां प्रमातृचैतन्याभिन्नमपि रज्ज्ववच्छिन्नं चैतन्यं न स्फुरति। अतस्तत्रावरणं वक्तव्यम्, अन्यथाऽभेदापन्नत्वेन स्फुरणापत्तेः।

न च इदमाकारवृत्त्येदमंशावच्छिन्नमेव चैतन्यं प्रमातृचैतन्याभिन्नं न तु रज्ज्ववच्छिन्नमिति वाच्यम्? इदन्त्वरज्जुत्वयोर्व्याप्यवृत्तित्वेन[1] इदमाकारवृत्तिदशायां रज्ज्ववच्छिन्नस्यापि प्रमातृचैतन्याभिन्नत्वादिति।

कर पाये, परन्तु द्रष्टा की दृष्टि का आवरण कर देने मात्र से सूर्य का आवरण हो जाता है। समान रूप से यहाँ पर भी अपरिच्छिन्न आत्मा का आवरण न करके भी केवल प्रमाता की बुद्धि का आवरण करके आत्मा का आवरण सम्भव होता है।

इस प्रसङ्ग में यह जिज्ञासा होती है कि यह आवरण है क्या? तो आवरण वस्तुतः *'नास्ति'* नहीं है, *'न प्रकाशते'* नहीं प्रकाशित होता है, इस प्रकार के व्यवहारों का आलम्बन बनने की योग्यता ही है। इससे अतिरिक्त कुछ और नहीं। ब्रह्म में इस प्रकार की योग्यता स्वीकार करनी आवश्यक है, अन्यथा ब्रह्म के स्वयंप्रकाश होने के कारण उस ब्रह्म में वस्तुतः तो *'अस्ति'* है, तथा *'प्रकाशते'* प्रकाशित होता है, इस प्रकार का व्यवहार ही होना चाहिए। फिर *'नास्ति'* नहीं है, *'न प्रकाशते'* नहीं प्रकाशित होता है, इस प्रकार के व्यवहारों की सङ्गति किस प्रकार हो सकेगी? *'अस्ति'* है, तथा *'प्रकाशते'* प्रकाशित होता है, इस प्रकार व्यवहार की योग्यता ही ब्रह्म में होने पर भी *'नास्ति'* नहीं है, *'न प्रकाशते'* नहीं प्रकाशित होता है, इस प्रकार के व्यवहारों का आलम्बन बनने की योग्यता भी है। इन दोनों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है क्योंकि एक तो व्यवहारयोग्यता है, तथा दूसरी व्यवहारालम्बनयोग्यता। इस आवरणशक्ति के प्रभाव से ही आत्मा का स्वरूप प्रकाशित नहीं हो पाता है, तथा उसमें अन्य के धर्म— उपाधि के धर्म— कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख, मोह आदि आरोपित हो जाते हैं। जैसे अज्ञान से रज्जु के आवृत रहने पर उस रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना होती है। जब तक अज्ञान के द्वारा रज्जु का आवरण नहीं होता है, तब तक रज्जु में सर्पत्व की बुद्धि नहीं होती।

वस्तुतः तो अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त के अनुसार केवल एक चैतन्य ही है। उसी में प्रमातृचैतन्य, विषयचैतन्य तथा प्रमाणचैतन्य इस प्रकार से तीन भेद किये जाते हैं। घट-पटादि विषय से अवच्छिन्न चैतन्य को विषयचैतन्य, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य या अज्ञानव्यष्ट्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृचैतन्य तथा अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को ही प्रमाणचैतन्य कहा जाता है। विषयचैतन्य के साथ प्रमातृचैतन्य का अभेद होने पर विषय का प्रत्यक्ष सम्भव होता है। इसी कारण ऐसा माना जाता है कि इन्द्रियरूपी द्वार से प्रमाणचैतन्य जब विषयदेश को प्राप्त कर लेता है, तो प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्य के साथ अभेद होकर प्रमातृचैतन्य के साथ अभेद हो जाता है। यही विषयचैतन्य के साथ प्रमातृचैतन्य का अभेद विषयगत प्रत्यक्षता का कारण बनता है। इसी कारण रज्जु में सर्पभ्रम होने की अवस्था में *'अज्ञान से रज्जु के आवृत रहने पर उस रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना होती है'* यह कहने का

१. व्याप्यवृत्तित्वं नाम स्वाधिकरणं व्याप्य विद्यमानत्वम्। यथा गवि विद्यमानं गोत्वं गां व्याप्य स्थितं भवति। तत्रैवं वक्तुं न शक्यते यत् गोरस्मिन् देशे गोत्वं विद्यते, परस्मिन् देशे च नास्ति। वृक्षे विद्यमानो वानरसंयोगस्तु न वृक्षं व्याप्य स्थितो भवति, किन्तु वृक्षस्यैकदेशे शाखादावेव स्थितो भवति।

तन्न; इदन्त्वरज्जुत्वयोर्व्याप्यवृत्तित्वेऽपि इदमंशावच्छिन्नचैतन्यं रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यमुत नेति वक्तव्यम्। अभिन्नं चेत्, तदेदमंशावच्छिन्नस्य स्फुरणात् रज्ज्ववच्छिन्नस्यापि चैतन्यस्यापि स्फुरणं वक्तव्यम्। न ह्यभेदे स्फुरणतदभावौ वक्तुं युक्तौ। ततश्च व्यर्थमावरणम्, स्फुरणप्रसक्तौ तदभावे सति तस्य कल्पनात्, इदन्त्वरज्जुत्वयोर्भिन्नत्वेन तदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदानुपपत्तेश्च।

तात्पर्य होता है कि *'अज्ञान से रज्जु द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य के आवृत रहने पर उस रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना होती है'* क्योंकि रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य का ही प्रमातृचैतन्य से अभेद सम्भव है, न कि रज्जु का प्रमातृचैतन्य के साथ अभेद। अज्ञान के द्वारा रज्जु का आवरण नहीं होता, किन्तु रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य का आवरण होता है। जड का तो प्रकाश ही प्रसक्त नहीं है, इस कारण जड के आवृत होने का भी प्रश्न नहीं है। चैतन्य में ही प्रकाश प्रसक्त होता है, इस कारण चैतन्य के ही आवृत होने की सम्भावना बनती है।

प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार तो रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य में आवरण मानने की आवश्यकता नहीं है, यद्यपि वह चैतन्य होने के कारण स्वप्रकाश है क्योंकि चैतन्यमात्र ही स्वप्रकाश है, तथापि पुरुषान्तर के संवेदन की तरह प्रमातृचैतन्य से भिन्न होने के कारण उस विषयचैतन्य का प्रकाश प्रसक्त नहीं होगा? जैसे किसी अन्य को ज्ञान हुआ या नहीं हमें प्रत्यक्ष से पता नहीं चलता। उसी प्रकार जिसका प्रकाश प्रसक्त नहीं है, उसमें आवरण को स्वीकार करने की भी आवश्यकता नहीं है।

इस पर समाधान इस प्रकार से दिया जाता है कि रज्जु को देखकर जब सर्प का भ्रम होता है, उस काल में *'अयं सर्पः'* यह सर्प है, ऐसा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। इसमें इदमंश का प्रत्यक्ष तो हो रहा है परन्तु रज्ज्वंश का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। अपितु सर्पाकार वृत्ति बन रही है। इस कारण यह मानना पड़ता है कि इदमाकार वृत्ति जिस समय होती है, उस समय प्रमातृचैतन्य से अभिन्न भी रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य स्फुरित नहीं होता। इसलिए उस रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य में आवरण मानना अनिवार्य है। अन्यथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य के प्रमातृचैतन्य से अभिन्न होने के कारण रज्जु का भी उक्त भ्रम के काल में स्फुरण होने की आपत्ति आयेगी।

यह कहना तो सम्भव नहीं है कि इदमाकार वृत्ति के द्वारा इदमंश से अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमातृ-अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हुआ न कि रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य; क्योंकि इदन्त्व तथा रज्जुत्व दोनों ही व्याप्यवृत्ति हैं— जिस वस्तु में रज्जुत्व है उसी में इदन्त्व है, और इसमें ऐसा नहीं है कि उस वस्तु के किसी एकदेश में रज्जुत्व रह रहा हो, तथा किसी अन्य देश में इदन्त्व रह रहा हो। व्याप्यवृत्ति होने का तात्पर्य है कि किसी वस्तु को व्याप्त करके रहना, उसके किसी देश में अपने अभाव के लिए स्थान न छोड़ना। इसके लिए प्रचलित उदाहरण है— कपिसंयोग वृक्ष की शाखा में रहता है, परन्तु उसी वृक्ष के मूल में कपिसंयोग नहीं है। इस प्रकार कपिसंयोग अव्याप्यवृत्ति है— अपने अधिकरण को व्याप्त करके नहीं रहता। कपिसंयोग का अधिकरण जो वृक्ष है, उस वृक्ष को व्याप्त कर कपिसंयोग नहीं रहता, मूलादिरूप देश को कपिसंयोगाभाव के रहने के लिए छोड़कर रखता है। परन्तु इदन्त्व तथा रज्जुत्व इस प्रकार के नहीं हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि कोई वस्तु 'यह है भी' तथा 'यह नहीं भी है'। इसलिए

भिन्नमिति चेत्, तर्हि इदंवृत्त्येदमंशावच्छिन्नमेव चैतन्यं प्रमातृचैतन्याभिन्नम्, न तु रज्ज्ववच्छिन्नम्। न ह्यन्याकारवृत्त्यान्यदभेदापन्नं भवति, अन्यथा घटाकारवृत्त्या त्वगिन्द्रियजन्यया रूपावच्छिन्नमपि चैतन्यं प्रमातृचैतन्याभिन्नं स्यात्, इदन्त्वरज्जुत्वयोरिव रूपघटयोरपि व्याप्यवृत्तित्वात्। तस्मान्नेदंवृत्त्या रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यं प्रमातृचैतन्याभिन्नम्। भेदे च न प्रकाशप्रसक्तिरिति किमर्थं रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्ये आवरणम्?

इदन्त्व तथा रज्जुत्व दोनों ही व्याप्यवृत्ति हैं। इस परिस्थिति में रज्जु-अवच्छिन्न चैतन्य तथा इदमवच्छिन्न चैतन्य दोनों को एक ही होना आवश्यक दिखता है। यदि इदमवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो गया, (जैसा कि अवश्य हुआ क्योंकि तभी तो 'अयं सर्पः' यह सर्प है, इस ज्ञान में इदन्ता का भान हो रहा है) तो निश्चय ही रज्जु-अवच्छिन्न चैतन्य का भी प्रमातृचैतन्य के साथ अभेद हो गया।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार से दिया जाता है कि यद्यपि इदन्त्व तथा रजतत्व दोनों ही व्याप्यवृत्ति हैं, तो भी यह देखना आवश्यक होगा कि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य दोनों एक हुए कि नहीं। यदि इदन्त्व तथा रज्जुत्व दोनों के व्याप्यवृत्ति होने के कारण इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य दोनों एक ही हैं, अभिन्न हैं; तो जब इदमंशावच्छिन्न का स्फुरण हो रहा है तो रज्ज्ववच्छिन्न का भी स्फुरण होता है ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा तो सम्भव नहीं है कि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य दोनों अभिन्न हैं, फिर भी एक का स्फुरण हो रहा है और दूसरे का स्फुरण नहीं हो रहा है। फिर आवरण की कल्पना व्यर्थ ही है क्योंकि स्फुरण प्रसक्त होने पर भी स्फुरण न हो रहा हो, यदि ऐसी स्थिति बने तब तो आवरण की कल्पना की जाये। ऐसी स्थिति तो है ही नहीं। इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य दोनों के अभिन्न होने पर तो आवरण के द्वारा भी एक के स्फुरण तथा द्वितीय के अस्फुरण की बात नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि रज्जुत्व तथा इदन्त्व दोनों के व्याप्यवृत्ति होने पर भी ये दोनों रज्जुत्व तथा इदन्त्व तो भिन्न-भिन्न हैं। फिर इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य दोनों को अभिन्न कैसे माना जा सकता है? यदि कहो कि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य दोनों एक नहीं हैं, भिन्न हैं। तो इदंवृत्ति के द्वारा इदमंशावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमातृचैतन्य से अभिन्न हुआ न कि रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य। अन्याकारवृत्ति से अन्य तो अभेदापन्न नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तब तो त्वगिन्द्रिय से जन्य घटाकारवृत्ति से रूपावच्छिन्न चैतन्य भी प्रमातृचैतन्य से अभिन्न हो जाता क्योंकि जिस प्रकार इदन्त्व तथा रज्जुत्व व्याप्यवृत्ति हैं,उसी प्रकार रूप तथा घटत्व भी व्याप्यवृत्ति हैं, दोनों एक ही अधिकरण घट में ही रहते भी हैं। परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे पता चलता है कि भले ही इदन्त्व तथा रज्जुत्व व्याप्यवृत्ति हों तथापि इदमाकारवृत्ति के द्वारा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य से अभिन्न नहीं होगा। इस प्रकार यही सिद्धान्त सामने आता है कि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य तथा रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य दोनों भिन्न ही हैं। परन्तु इन दोनों के भिन्न होने पर तो इदमंशावच्छिन्न चैतन्य के प्रकाशित होने पर रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य के प्रकाश की प्रसक्ति ही नहीं है, फिर रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य में आवरण को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? तो

अत्रोच्यते— सत्यम्; न रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्ये प्रकाशप्रसक्तिः, तस्य भिन्नत्वात्। तथापि न रज्जावावरणं वाच्यम्, आवरणस्य चैतन्ये क्लृप्तत्वात्। मूलाज्ञानस्य चिन्मात्रविषयत्वेन तदावरणस्य चिन्निष्ठत्वात्। अतः परिच्छिन्नाज्ञानावरणमपि चैतन्य एव वक्तव्यम्, न तु जडे। तदुक्तम्— 'जडे आवरणाभावात्' इति। किञ्च अतीतानागतस्थले विषयस्यासत्त्वेनावरणाश्रयत्वानुपपत्तेस्तदुपलक्षिते चैतन्ये आवरणं वाच्यमिति तस्यैव सर्वत्र तदाश्रयत्वम्। तस्माद्युक्तमुक्तं रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यस्यावृतत्वम्। रज्जावावृतत्वं त्वदूरविप्रकर्षेण व्यपदिश्यत इति सम्प्रदायविदः।

एवमज्ञानमपीति। मूलाज्ञानमित्यर्थः। **तादृशमिति**। प्रपञ्चजननानुकूलमित्यर्थः। **विक्षेपशक्तिरिति**। विक्षेपशक्तियुक्ताविद्येत्यर्थः। लिङ्गशब्देन लिङ्गशरीरमुच्यते। तच्चाग्रे[1] वक्ष्यते।

इसका समाधान है कि यद्यपि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य के प्रकाशित होने पर रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य के प्रकाश की प्रसक्ति नहीं है, तथापि रज्ज्वावरण मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आवरण चैतन्य में स्वीकार्य है। मूलाज्ञान चूँकि चिन्मात्रविषयक है, इस कारण उसका आवरण भी चिन्मात्रनिष्ठ है। इसी कारण परिच्छिन्न अज्ञान का आवरण भी चैतन्यनिष्ठ मानना ही उचित है, न कि जड में। इसी प्रकार अतीत, अनागत विषय के स्थल में ज्ञानकाल में विषय तो है ही नहीं, इस कारण विषय का आवरण तो हो ही नहीं सकता। इसलिए विषय से उपलक्षित चैतन्य में ही आवरण मानना पड़ता है क्योंकि चैतन्य ही सर्वत्र आवरण का आश्रय होता है। इस कारण यही सही है कि रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य ही आवृत होता है, रज्जु के आवृतत्व का तो समीपता आदि के कारण व्यपदेश किया जाता है।

अज्ञान अपनी आवरणशक्ति के द्वारा वस्तु के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन कर देता है, इसी कारण अज्ञान की विक्षेपशक्ति उस वस्तु पर अनिर्वचनीय वस्त्वन्तर का सृजन कर पाती है। जैसे अज्ञान की आवरणशक्ति के द्वारा रज्जु के आवृत होने पर उस रज्जु पर अनिर्वचनीय सर्प का सृजन अज्ञान की विक्षेपशक्ति कर देती है। उसी प्रकार अज्ञान की आवरणशक्ति के द्वारा चैतन्य के आवृत होने पर अज्ञान की विक्षेपशक्ति अनिर्वचनीय आकाशादि-प्रपञ्चात्मक जगत् का सृजन कर देती है।

आत्मा ही संसार का सृजन करता है, इस कथन का तात्पर्य क्या है? क्या आत्मा इस जगत् का उपादानकारण है या निमित्तकारण? समस्या दोनों ही पक्षों में है। यदि आत्मा जगत् का उपादानकारण है तो यह युक्तिविरुद्ध सा दिखता है क्योंकि यह जगत् तो अचेतन है तथा आत्मा चेतन है। चेतन आत्मा इस अचेतन जगत् का उपादानकारण किस प्रकार हो सकता है? यदि निमित्तकारण माना जाये तो श्रुतियों में अनेक स्थलों पर आत्मा में कार्यव्यापित्व का श्रवण प्राप्त होता है, वह विरुद्ध हो जायेगा। इस कारण अद्वैतमत के अनुसार श्रुतिप्रामाण्य पर आश्रित होकर आत्मा को इस जगत् का उपादानकारण तथा निमित्तकारण दोनों ही माना जाता है। लोक में अनेक उदाहरण कार्य के प्रति अभिन्ननिमित्तोपादानकारण के भी प्राप्त होते हैं। अज्ञान के कार्यभूत जगत् का निमित्तकारण तथा उपादानकारण दोनों ही ब्रह्म ही होता है, ऐसा किस प्रकार सम्भव है इसे ही सुस्पष्ट कर रहे हैं—

१.द्रष्टव्य- पृ.१०८-११२

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानञ्च भवति, यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च भवति।

एवमज्ञाने निरूपिते तत्कार्यं निरूपयितुं तत्रोपादानं निमित्तञ्च निरूपयति— **शक्तीति**। **अज्ञानोपहितमिति**। अज्ञानविषयतोपहितमित्यर्थः। अज्ञानोपहितस्य जीवत्वाज्जीवस्य च अस्वतन्त्रत्वेन जगन्निमित्तत्वाभावात्तदुपादानत्वाभावाच्चेति द्रष्टव्यम्।

स्वप्रधानतयेति। निमित्तशब्देन ह्यत्र न दण्डादिसाधारणं निमित्तकारणत्वमात्रमुच्यते,किन्तु कर्तृत्वम्। तच्च कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वम्। तच्च स्वरूपेणैवेश्वरस्य सम्भवति। न अविद्याद्वारा तस्या जडत्वादिति भावः। **स्वोपाधीति**। उपादानत्वं हि विवर्तमानत्वम्। न तु 'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते' इत्यादि पराभिमतम्, समवायानङ्गीकारात्। तच्च विवर्तमानत्वं न स्वरूपेण चैतन्यस्य, किन्त्वविद्याद्वारेति तस्याः प्राधान्यम्। अत एव विवर्तमानाविद्याधिष्ठानत्वरूपत्वमीश्वरस्येत्युक्तमिति भावः।

ननु कथमेकस्य निमित्तत्वमुपादानत्वं च? तत्राह—**यथेति**। **लूता** ऊर्णनाभिः। **स्वशरीरेति**। लालारूपस्वशरीरावयवप्रधानतयेत्यर्थः। तन्त्वाकारेण हि लालारूपः ऊर्णनाभिशरीरावयवः परिणमते, न तु तच्छरीरम्,

आवरण तथा विक्षेप इन दो शक्तियों से विशिष्ट अज्ञान से उपहित चैतन्य अपनी प्रधानता के आधार पर निमित्तकारण तथा स्वोपाधि की प्रधानता के आधार पर उपादानकारण होता है। जैसे मकड़ी तन्तु को बनाते हुए अपनी प्रधानता के आधार पर निमित्तकारण बनती है तथा अपने शरीर की प्रधानता के आधार पर उपादानकारण भी बनती है।

अज्ञान में दो शक्तियाँ हैं— आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति। इन दोनों शक्तियों से विशिष्ट अज्ञान की अनिर्वचनीय समष्टि जिस चैतन्य की उपाधि है, उसी चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है। अज्ञानव्यष्टि से उपहित चैतन्य तो जीव है, तथा जीव अस्वतन्त्र होने के कारण जगत् का निमित्तकारण नहीं हो सकता और न ही उपादानकारण बन सकता है। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार तो अज्ञानसमुदाय की विषयता ही ईश्वर की उपाधि है। इनमें से जिस मत को भी माना जाये— अज्ञानसमुदाय की अनिर्वचनीय समष्टि या अज्ञानसमुदाय की एक विषयता रूप उपाधि से उपहित चैतन्य रूप ईश्वर ही इस जगत् का उपादानकारण तथा निमित्तकारण दोनों है। एक ही व्यक्ति जिस प्रकार किसी का भाई भी होता है और किसी दूसरे का पति भी। उपाधियों के भेद से दोनों प्रकार का व्यपदेश सम्भव होता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी जब मकड़ी की प्रधानता की विवक्षा करते हैं, तो वही मकड़ी निमित्तकारण बन जाती है, तथा जब उस मकड़ी के शरीर की विवक्षा करते हैं, तो उपादानकारण बन जाती है। इस प्रकार तन्तु के प्रति मकड़ी की उपादानकारणता तथा निमित्तकारणता दोनों ही है। ठीक उसी प्रकार जब चैतन्य के प्राधान्य की विवक्षा करते हैं तो वह ईश्वर निमित्तकारण बनता है। परन्तु जब उस चैतन्य की उपाधि अज्ञानसमुदाय की अनिर्वचनीय समष्टि या अज्ञानसमुदाय की एक विषयता के प्राधान्य की विवक्षा करते हैं, तब वही ईश्वर इस जगत् का उपादानकारण कहलाता है।

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायो-

शरीरापाये तन्त्वपायप्रसङ्गात्। तदुक्तं शारीरके— 'तन्तुनाभस्य क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति'[1] इति। विक्षेपशक्तिप्रधानाऽज्ञानोपहितेत्यत्रापि पूर्ववदेव[2] व्याख्या।

तमःप्राधान्ये हेतुमाह— **तेष्विति। तत्कारणस्येति।** आकाशादिकारणस्याज्ञानस्येत्यर्थः। **तदानीमिति।** सृष्टिकाले इत्यर्थः।

यहाँ पर निमित्तकारण शब्द से घट के प्रति जिस प्रकार दण्डादि निमित्तकारण बनते हैं, उस प्रकार की निमित्तकारणता नहीं विवक्षित है। किन्तु यहाँ पर कर्तृत्वरूपा निमित्तकारणता स्वीकार्य है। ईश्वर इस जगत् का निमित्तकारण है, यह कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर इस जगत् का कर्ता है। इस प्रकार का कर्तृत्वरूप निमित्तकारणत्व कार्यानुकूलज्ञानवत्त्व ही है। इसी प्रकार का कर्तृत्व घटादि के प्रति कुलालादि का हुआ करता है। इस प्रकार का कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वरूप निमित्तकारणत्व ईश्वर में स्वरूपतः ही हो सकता है, अज्ञान के द्वारा नहीं क्योंकि ईश्वर ही चेतन है न कि अज्ञान। अज्ञान तो जड है। अज्ञान में तो ज्ञानवत्त्व है ही नहीं। अज्ञान का जो उपादानत्व है वह उपादानत्व विवर्तमानत्वरूप है। न्यायादिमत में प्रसिद्ध समवायिकारणत्वरूप उपादानत्व अज्ञान में नहीं है। न्यायमत में उपादानकारण का अर्थ होता है समवायिकारण। समवायिकारण की परिभाषा दी जाती है कि जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहा जाता है। परन्तु समवाय की सत्ता में ही कोई प्रमाण नहीं होने के कारण समवायिकारणत्वरूप उपादानकारणत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस कारण उपादानकारणत्व का तात्पर्य विवर्तमानत्व ही हो सकता है। परन्तु चैतन्य में विवर्तमानत्व स्वरूपतः नहीं आ सकता, अविद्या के द्वारा ही आ सकता है, इसी कारण ईश्वर की जगत् के प्रति उपादानता में अविद्या अर्थात् अज्ञान का प्राधान्य है। यहाँ पर यह ध्येय है कि जगत् के प्रति अविद्या की भी उपादानकारणता की बात भी कही जाती है, तथा ब्रह्म के उपादानकारणता की बात भी। परन्तु दोनों के लिए एक ही अर्थ में उपादानकारणता की बात नहीं कही जाती। जब अविद्या को जगत् का उपादान कहा जाता है, तो इसका तात्पर्य होता है कि वह अविद्या विवर्तमान है, अविद्या में विवर्तमानतारूप उपादानकारणता है। परन्तु ब्रह्म विवर्तमान अविद्या का अधिष्ठान है। उस ब्रह्म में विवर्तमान अविद्या का अधिष्ठानत्वरूप उपादानत्व है। एक ही में उपादानत्व तथा निमित्तत्व को दिखाने के लिए लूता (मकड़ी) का उदाहरण प्रस्तुत किया गया। मकड़ी का शरीर तन्तु के रूप में नहीं परिणत होता है किन्तु शरीर के अवयव तन्तु के रूप में परिणत होते हैं।

अद्वैती सृष्टि-प्रक्रिया किस प्रकार से व्याख्यायित करते हैं, इसको बताया जा रहा है—

सृष्टि के काल में तमःप्रधान विक्षेपशक्तिमान अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। क्योंकि इसका प्रतिपादन करनेवाली

१.द्रष्टव्य- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २/१/२५

२.द्रष्टव्य- पृ.९९

रग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते, 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि-श्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते।

एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते।

एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।

यद्यप्यज्ञानगतसत्त्वरजस्तमोव्यतिरेकेण तत्कार्ये सत्त्वरजस्तमांसि न भिन्नानि सन्ति मानाभावात्, अज्ञानगतेषु तु तेषु 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिवचनमेव प्रमाणम्; तथापि सत्त्वरजस्तमांस्युत्पद्यन्ते इत्यनेन अज्ञानगतसत्त्वरजस्तमःकार्यजाड्यादेरेव उत्पत्तिरुक्तेति मन्तव्यम्। **एतानीति**। आकाशादीनीत्यर्थः। **सूक्ष्मेति**। विरलावयवानीत्यर्थः। न तु सूक्ष्मत्वमणुपरिमाणवत्त्वम्, अपञ्चीकृतानां भूतानां व्यापकत्वात्। **उच्यन्त** इति। श्रुत्यादाविति शेषः। **स्थूलभूतानीति**। अत्र गुरवः— अपञ्चीकृतेभ्यः पञ्चीकृता-त्मकस्थूलभूतानां नोत्पत्तिः, मानाभावात्। आत्मन आकाशाद्युत्पत्तिश्रवणवत् अपञ्चीकृतेभ्यः पञ्ची-कृतभूतोत्पत्तेः श्रवणाभावात्, अपञ्चीकृताङ्गीकारे गौरवाच्च। तस्मात् यथा तन्तुभ्योऽतिरिक्तो न पटः, किन्तु संयोगविशेषमापन्नास्तन्तव एव पटः, लाघवादतिरिक्तत्वे मानाभावाच्च। एवमपञ्चीकृतान्यपि पञ्चीकरणात्मकसंयोगविशेषमापन्नानि पञ्चीकृतान्युच्यन्ते, न त्वपञ्चीकृतेभ्यः पञ्चीकृतान्युत्पद्यन्ते आत्मन इवाकाशः। अत एव तत्त्वदीपने— 'अपञ्चीकृतानि प्रारब्धवशात् पञ्चीकृततामपद्यन्ते'[1] इत्युक्तम्। यदि च

श्रुति प्राप्त होती है 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इनमें जाड्य की अधिकता दिखायी देती है, इस कारण आकाशादि के कारणों में तमस् की प्रधानता स्वीकार की जाती है। उस समय सत्त्व, रजस् तथा तमस् कारणगुण के क्रम से आकाशादि में उत्पन्न होते हैं। इन्हीं सूक्ष्म भूतों को; पाँच तन्मात्रों को अपञ्चीकृत पञ्च सूक्ष्मभूत कहा जाता है। इन्हीं पाँच सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर तथा स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

अज्ञान त्रिगुणात्मक है— सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण अज्ञान में हैं। परन्तु अज्ञान की विक्षेपशक्ति में तमस् की प्रधानता का कारण यह है कि विक्षेपशक्तिमान् अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी इस प्रकार से उत्पत्ति का क्रम है। इनमें सभी में जाड्य की अधिकता है। इसी कारण यह मानते हैं कि अज्ञान की विक्षेपशक्ति में तमस् की प्रधानता है। यद्यपि अज्ञानगत सत्त्व, रजस् तथा तमस् से अतिरिक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् अज्ञान के कार्यों में है, ऐसा नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अज्ञान में सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों की सत्ता होने में तो *'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'* इत्यादि श्रुतिवचन ही प्रमाण हैं। तथापि 'सत्त्व, रजस् तथा तमस् उत्पन्न होते हैं' इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यह है कि अज्ञानगत सत्त्व, रजस् तथा तमस् के कार्य जाड्यादि की ही उत्पत्ति हो रही है।

१.कुत्रोक्तमेतत् नाहं ज्ञातुमपारयम्।

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि।

अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकञ्चेति।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।

अपञ्चीकृतेभ्यः पञ्चीकृतभूतोत्पत्तिः स्यात्, तदा यथा तत्रापञ्चीकृतानि तत्तत्कर्मानुरोधेन लिङ्गशरीरं जनयन्तीत्युक्तम्, तथा अपञ्चीकृतानि पञ्चीकृतानि जनयन्तीत्येवोक्तं स्यात्, न तु पञ्चीकृततामापद्यन्ते इत्युक्तं स्यादिति। तस्मान्नापञ्चीकृतेभ्यः पञ्चीकृतोत्पत्तिरिति। तथा च एतेभ्यः स्थूलभूतान्युत्पद्यन्त इत्यनेन संयोगविशेषस्यैवोत्पत्तिरुक्ता भवतीति ज्ञेयम्।

सूक्ष्मशरीराणि निरूपयति— **सूक्ष्मेति। सप्तेति।** सप्तदशावयवा अवयवा एकदेशा येषां तानि। श्रोत्रादीनां क्रमः तदुत्पादकभूतक्रमाद्द्रष्टव्यः।

भूतों की सूक्ष्मता का तात्पर्य मात्र इतने से है कि उनके अवयव अत्यन्त विरल होते हैं, उनकी सूक्ष्मता इस अर्थ में नहीं है कि वे *अणुपरिमाणवाले होते हैं क्योंकि अपञ्चीकृत भूतों को अद्वैतमत में व्यापक माना गया है।* यदि वे व्यापक हैं, तो किस प्रकार से उनका परिमाण अणु हो सकता है।

इस स्थल पर बालबोधिनी व्याख्या के लेखक आपदेव अपने गुरु के मत का उल्लेख करते हैं। जिनके अनुसार अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति होती हो, ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इत्यादि श्रुति प्राप्त होती है, वैसी कोई श्रुति अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति बतानेवाली नहीं प्राप्त होती। दूसरी बात यह है कि अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति होती है, ऐसा स्वीकार करने में गौरव भी होगा। इस कारण जिस प्रकार पट तन्तुओं से अतिरिक्त नहीं होता किन्तु संयोगविशेष को प्राप्त तन्तु ही पट कहलाते हैं क्योंकि इस प्रकार स्वीकार करने में पहली बात तो लाघव है, तथा दूसरी बात यह कि संयोगविशेष को प्राप्त तन्तुओं से अतिरिक्त पट को स्वीकार करने में कोई प्रमाण भी नहीं है। इसी प्रकार वस्तुतः अपञ्चीकृत पञ्चभूत ही संयोगविशेष को प्राप्त करने पर पञ्चीकृत कहे जाते हैं। ऐसा नहीं है कि अपञ्चीकृत भूतों से उसी प्रकार पञ्चीकृत भूत उत्पन्न होते हों, जैसे कि आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है। *'स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं'* इस कथन का यही तात्पर्य है कि अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के मध्य एक विशिष्ट प्रकार के संयोगविशेष की उत्पत्ति ही— पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार से कही गयी है।

सूक्ष्मशरीर को ही लिङ्गशरीर भी कहा जाता है तथा उसके सत्रह अवयव हैं। ये सत्रह अवयव हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु। ज्ञानेन्द्रियाँ हैं श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः आकाश आदि के (आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी के) सात्त्विक अंश से अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होती हैं। अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति[1] *को बुद्धि कहा जाता है। अन्तःकरण*

१.अन्तःकरण का परिणामविशेष ही वृत्ति कहा जाता है।

बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहङ्कारादेरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्।

एते चित्तबुद्ध्यहङ्काररूपा अन्तःकरणभेदाः। **मिलितेभ्य** इति। अन्तःकरणस्य गन्धाद्युपलब्धौ साधारणत्वात् पञ्चभूतारभ्यत्वम्। क्वचित्तैजसत्वव्यपदेशस्तु तेजोबाहुल्यात्। अतः अन्तःकरण-परिणामभूतचित्तानां पञ्चभूतारभ्यत्वमिति द्रष्टव्यम्। श्रोत्रादेस्तु शब्दाद्युपलब्धावसाधारणत्वाद् व्यस्तभूतारभ्यत्वमिति भावः। **एतेषामिति**। श्रोत्रादीनां चित्तादीनाञ्च इत्यर्थः।

की सङ्कल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति को मन कहा जाता है। इन्हीं दोनों से ही क्रमशः चित्त तथा अहङ्कार का आविर्भाव होता है। ये सभी (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार) आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी के मिले हुए सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं। ये चारों ही प्रकाशात्मक हैं, इस कारण इनको पृथिवी आदि के सात्त्विक अंशों का कार्य माना जाता है।

सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव बताये गये। सूक्ष्म शरीर को ही लिङ्गशरीर भी कहा जाता है। लिङ्गशरीर कहने का तात्पर्य है कि इस शरीर को प्रत्यक्ष से नहीं देखा जा सकता किन्तु इसका अनुमान किया जाता है। व्यापक जीव मोक्ष न होने तक अपने कर्म के अनुसार नवीन स्थूलशरीर का ग्रहण तथा प्राचीन स्थूलशरीर का परित्याग करता है। इसमें माध्यम का कार्य करता है सूक्ष्मशरीर। दूसरी एक और बात विद्वन्मनोरञ्जनी व्याख्या में कही गयी है जो महत्त्वपूर्ण है। इन ज्ञानेन्द्रियों आदि के द्वारा जीवात्मा का अनुमान किया जाता है। अनुमान का आकार है कि 'ये इन्द्रियाँ तथा प्राण अपने से अतिरिक्त अपने में अनुगत चैतन्य के द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होते हैं क्योंकि ये स्वयं अचेतन हैं, रथादि की तरह'। इस प्रकार के अनुमान के द्वारा जीवात्मा की सिद्धि होती है, तथा उस अनुमान में ये ज्ञानेन्द्रियाँ आदि लिङ्ग (हेतु) के रूप में प्रस्तुत होते हैं, इस कारण इनको लिङ्गशरीर कहा जाता है। यह ध्येय है कि नैयायिक भी इसी प्रकार का अनुमान जीवात्मा की सिद्धि के लिए प्रस्तुत करते हैं, परन्तु वे सूक्ष्म-शरीर की सत्ता को नहीं स्वीकार करते।

ये ज्ञानेन्द्रियाँ अपञ्चीकृत एक-एक भूत के सात्त्विक अंश से उत्पन्न होती हैं। अन्तःकरण इन पाँचों ही भूतों के सात्त्विक अंशों के मिलित रूप से उत्पन्न होता है। परन्तु ऐसा क्यों स्वीकार करना? श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा एक-एक गुणों की ही उपलब्धि होती है। यथा श्रोत्र के द्वारा आकाश के गुण शब्द की ही उपलब्धि होती है, चक्षु के द्वारा तेज के गुण रूप की उपलब्धि होती है, त्वचा के द्वारा वायु के गुण स्पर्श की ही उपलब्धि होती है, तथा इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी एक-एक भूतों के ही गुणों की उपलब्धि होती है। इस कारण इन ज्ञानेन्द्रियों को एक-एक भूत के सात्त्विक अंश से उत्पन्न माना जाता है। परन्तु अन्तःकरण के द्वारा किसी एक भूत के गुणों की ही उपलब्धि होती हो, ऐसा नहीं है। अपितु अन्तःकरण के द्वारा समस्त गुणों की समान रूप से उपलब्धि होती है।

इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्वाद्यभिमानित्वेन इहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते।

मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति। कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणि-पादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।

प्रसङ्गादाह—**इयमित्यादिना। अयमिति**। विज्ञानमय इत्यर्थः। एतच्च उपलक्षणम्। लिङ्गशरीरोपहितस्य इहलोकपरलोकगामित्वादिति। **पृथगिति**। वाग्व्योमविकारः, पाणिर्वायुविकारः इत्यादि स्वयमूह्यम्[1]। अननम् गमनम्। विष्वक् समन्तात्। समीकरणं साम्यावस्था। उन्मीलनं निमीलनस्योपलक्षणम्।

इस कारण अन्तःकरण सभी भूतों के द्वारा आरब्ध है, ऐसा मानना ही समुचित दिखता है। एक प्रश्न उठता है कि फिर किस कारण अनेक स्थलों में अन्तःकरण को तैजस बताया गया है? तो इसका समाधान यह है कि अन्तःकरण को तैजस बनाने का तात्पर्य मात्र इतना है कि अन्तःकरण के पाँचों भूतों के द्वारा आरब्ध होने पर भी उसमें तेज की बहुलता है। इसी कारण अन्तःकरण को अनेक स्थलों में तैजस भी बता दिया जाता है। ये पाँचों ही ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण विषय का प्रकाशन करते हैं। प्रकाशन करना सात्त्विक अंश का कार्य है। इसी कारण इन पाँचों की उत्पत्ति सात्त्विक अंश से मानी जाती है।

अन्तःकरण तो एक ही है, परन्तु उसकी वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न बनती हैं। उन्हीं भिन्न-भिन्न वृत्तियों के आधार पर एक ही अन्तःकरण की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हो जाती हैं। कभी कभी हमें निश्चयात्मक ज्ञान होता है, इसी निश्चयात्मक ज्ञान को निश्चयात्मक वृत्ति कहा जाता है। इसी वृत्ति के कारण अन्तःकरण को बुद्धि कहा जाता है। अनेक बार हम किंकर्तव्यविमूढ की स्थिति में होते हैं, संशय की स्थिति में होते हैं, सङ्कल्प-विकल्प कर रहे होते हैं। उस स्थिति में वही अन्तःकरण मन कहा जाता है। चिन्तनरूपा वृत्ति होने पर अन्तःकरण को चित्त कहा जाता है तथा गर्वरूपा वृत्ति होने पर अन्तःकरण को अहङ्कार कहा जाता है।

ज्ञानेन्द्रियों से सहित यह बुद्धि —निश्चयात्मक वृत्तिरूप अन्तःकरण— विज्ञानमयकोश कहलाता है। इसी विज्ञानमयकोश को ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमानी होता है, इस लोक में तथा परलोक में गमन करता है, तथा यही व्यावहारिक जीव कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों से सहित यह मन —संशयात्मक वृत्तिरूप अन्तःकरण— मनोमयकोश कहलाता है।

वाणी, हाथ, पैर, पायु (मलेन्द्रिय) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय)कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ अपञ्चीकृत आकाश आदि के रजो अंश से अलग-अलग क्रमशः उत्पन्न होती हैं। (वाणी आकाश का विकार है, हाथ वायु का विकार है, पैर तेज का विकार है, पायु जल का विकार है तथा उपस्थ पृथिवी का विकार है।)

१.पादेन्द्रियमग्निविकारः, पाय्विन्द्रियं जलविकारः, गुह्येन्द्रियं पृथिवीविकारः।

वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्र-स्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमन-वानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः।

केचित्तु— नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः।

प्राणस्याप्यन्तःकरणवत्साधारणत्वात् पञ्चभूतारभ्यत्वम्।

बुद्धि आदि प्रकाशात्मक हैं, इसी कारण ये भूतों के सात्त्विकांश के कार्य हैं। चूँकि बुद्धि सत्त्व का कार्य है, इस कारण ज्ञानेन्द्रियों के साथ होने से प्रकाश का आधिक्य हो जाता है, इसीलिए उसे विज्ञानमय कोश कहा गया। यहाँ पर उसको कोश कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कोश आच्छादन कर देता है, उसी प्रकार यह विज्ञानमय कोश भी आत्मा का आच्छादन कर देता है। ज्ञानेन्द्रियों को, बुद्धि को, मन को इत्यादि रूप में भिन्न-भिन्न को ही आत्मा मान लेने की भ्रान्ति होती है। तपाये हुए लोहे के पिण्ड में जिस प्रकार अत्यन्त सामीप्यवश विवेक का ग्रहण न हो पाने के कारण लौह के पिण्ड में दाहकता की बुद्धि होती है, उसी प्रकार उस विशुद्ध बुद्धि में प्रतिबिम्बित वस्तुतः अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, आनन्द, अपरिच्छिन्न व अक्रिय चैतन्य है। उसमें भोक्तृत्व, कर्तृत्व, दुःखित्व, परिच्छिन्नत्व, क्रियावत्त्व आदि के अभिमान से स्वर्गादि लोकान्तरगामित्व तथा व्यावहारिक जीवत्व सम्भव होता है। यहाँ पर मूलकार ने विज्ञानमय कोश को ही व्यावहारिक जीव बताया। यह एक विचारणीय बिन्दु है क्योंकि केवल विज्ञानमयकोश — केवल ज्ञानेन्द्रियों से सहित बुद्धि— परलोक से सम्बन्धित नहीं होती है। अपितु लिङ्गशरीर से उपहित यह विज्ञानमयकोश परलोकगामी होता है। इस कारण इस कथन को उपलक्षण ही समझना चाहिए।

प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान ये पाँच वायु हैं। प्राण वायु उस वायु को कहते हैं जो कि सामने की ओर गमन करता है नासिका के अग्रभाग पर अवस्थित रहता है। अपान वायु वह है जो नीचे की ओर गमन करता है तथा पायु आदि स्थानों पर अवस्थित रहता है। व्यान वायु वह जो विष्वक् यानी सभी तरफ गमन करता है, पूरे शरीर में अवस्थित रहता है। उदानवायु वह है जो कण्ठस्थान में अवस्थित रहता है, ऊर्ध्व गमन करनेवाला है, उत्क्रमणशील वायु है। समान वायु उस वायु को कहते हैं जो शरीर के मध्य में अवस्थित रहता हुआ, खाये-पिये हुए अन्नादि का समीकरण करता है।

कुछ लोग तो इन पाँच वायुवों से अतिरिक्त नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय ये पाँच अन्य वायु भी हैं, ऐसा कहते हैं। नाग वायु उद्गिरण करनेवाली (डकार-वमन आदि करनेवाली) है। कूर्मवायु उन्मीलन तथा निमीलन (पलकों का खुलना तथा बन्द होना) करनेवाली है। कृकल वायु बुभुक्षा करनेवाली वायु है। देवदत्त वायु

एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्।

एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यते।

इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंशकार्यत्वम्।

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत् सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।

इदमित्यादि सुवचम्। अस्येति। कर्मेन्द्रियपञ्चकस्य वायुपञ्चकस्य च इत्यर्थः।

जम्हाई करनेवाली है। धनञ्जय वायु शरीर को पोषण प्रदान करनेवाली है। परन्तु अन्य कुछ लोग कहते हैं कि इन नाग आदि पाँच वायुवों का अन्तर्भाव प्राणादि पाँच वायुवों में ही हो जाता है, इस कारण इनको अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

वेदान्तसार की सुबोधिनी व्याख्या में नृसिंह सरस्वती ने नाग, कूर्म आदि पाँच वायुवों की सत्ता स्वीकार करनेवालों का सन्दर्भ देते हुए कहा है कि यह मत कपिल के मत का अनुसरण करने वाले दार्शनिकों का है। परन्तु इन नागादि वायुवों का अन्तर्भाव वेदान्ती लोग इन्हीं प्राण आदि वायुवों में कर लेते हैं। तत्तद् वायुवों में इन नागादि वायुवों का अन्तर्भाव करने में कोई असुविधा नहीं है। इनका अन्तर्भाव इस प्रकार से समझा जा सकता है— नाग का कार्य उद्गिरण तथा निगरण है, इसको उदान वायु में अन्तर्भूत किया जा सकता है। कूर्म वायु का अन्तर्भाव व्यान वायु में किया जा सकता है। कृकल वायु का कार्य क्षुधा को उत्पन्न करना बताया गया है, इसको समान वायु में अन्तर्भूत किया जा सकता है। जम्हाई को उत्पन्न करनेवाले देवदत्त वायु का अन्तर्भाव अपान वायु में किया जा सकता है। पोषणकारक धनञ्जय वायु का अन्तर्भाव समानवायु में किया जा सकता है क्योंकि समान वायु का कार्य भुक्त का पाचन करना ही है। इस कारण इन पाँचों वायुवों को वेदान्ती अलग नहीं स्वीकार करते।

ये प्राणादि पाँच आकाशादि गत रजोंश के मिलित रूप से उत्पन्न होते हैं। यह प्राणादि पाँच, कर्मेन्द्रियों से सहित होकर प्राणमयकोश कहलाते हैं। यह प्राण तथा कर्मेन्द्रियाँ क्रियात्मक हैं तथा रजोंश का गुण है क्रियात्मकता, इस कारण ये कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चप्राण पञ्चभूतों के रजोंश के कार्य माने जाते हैं।

इन कोशों में विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्तिमान् कर्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्तिमान् करणरूप है। प्राणमयकोश क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप है। योग्यरूप में ही इनका इस प्रकार से विभाग किया गया है, ऐसा बताया जाता है। ये तीनों ही कोश मिलने पर सूक्ष्मशरीर कहे जाते हैं।

प्राण भी अन्तःकरण के समान ही है, इसी कारण प्राण का आरम्भण भी किसी एक भूत के द्वारा नहीं किया जाता, अपितु इन पाँच भूतों के द्वारा सम्मिलित रूप से प्राण का आरम्भ किया जाता है। यद्यपि प्राण का पञ्चविधत्व बताया गया, वस्तुतः तो प्राण एक ही है, जिसके उत्पादन में समस्त भूतों का समान सहयोग रहता है।

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवद् जलाशयवद् वा समष्टिः, अनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवद् जलवद् वा व्यष्टिरपि भवति।

एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते, सर्वत्रानुस्यूतत्वाद् ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नमयः। अत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति, तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नः, अत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः, 'प्रविविक्तभुक्तैजसः' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत् तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत् तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।

यहाँ पर भी समस्त सूक्ष्मशरीर 'एक है' ऐसी बुद्धि का विषय होने के कारण वन की तरह या जलाशय की तरह समष्टि माने जाते हैं, तथा अनेकबुद्धि का विषय होने के कारण वृक्ष की तरह या जलों की तरह व्यष्टि भी होते हैं। इस सूक्ष्मशरीरसमष्टि से उपहित चैतन्य सर्वत्र अनुस्यूत होने के कारण सूत्रात्मा, तथा इसकी सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूप उपाधि के ज्ञानेच्छामान् होने के कारण तथा क्रियाशक्तिमान् होने के कारण क्रमशः हिरण्यगर्भ तथा प्राण भी कहा जाता है। सूक्ष्मशरीरों की यह समष्टि स्थूलप्रपञ्च की अपेक्षा से सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर कही जाती है, विज्ञानमय आदि कोशत्रय भी कही जाती है, जाग्रत्कालीन वासनामय होने के कारण स्वप्न भी कही जाती है। इसी कारण स्थूलप्रपञ्च का लयस्थान भी कहलाती है। सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य तैजस होता है क्योंकि तेजोमय अन्तःकरण से उपहित है। इसकी भी व्यष्टि स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण ही सूक्ष्मशरीर कहलाती है, विज्ञानमय आदि तीन कोश भी कहलाती है, जाग्रद्वासनामय होने के कारण स्वप्न भी कही जाती है। इसी कारण स्थूलप्रपञ्च का लयस्थान भी कहलाती है। ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस स्वप्नकाल में मनोवृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। इसके समर्थन में श्रुति प्राप्त होती है कि 'प्रविविक्तभुक्तैजसः' वह तैजस प्रविविक्त का भोग करनेवाला है। यहाँ पर भी सूक्ष्मशरीर की समष्टि तथा सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि में एवं सूक्ष्मशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा तथा सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य तैजस में उसी प्रकार से अभेद है, जिस प्रकार वन तथा वृक्ष में अभेद है और वन व वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में अभेद है। या जिस प्रकार से जलाशय व जल के बीच अभेद है, तथा जिस प्रकार जलाशय व जल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब में अभेद है।

अत्रापीति। नन यथा वृक्षसमुदायो वनम्, तथा लिङ्गशरीरसमुदायो न समष्टिः। तथा सति वृक्षावच्छिन्नाकाशसमुदायो यथा वनावच्छिन्नाकाशो न त्वतिरिक्तोऽस्ति, अतिरिक्तोपाधेरभावात्। एवं समष्टिलिङ्गशरीरोपहितहिरण्यगर्भोऽपि परिच्छिन्नलिङ्गशरीरोपहितास्मदाद्यनेकजीवसमूह इत्यापद्येत, अतिरिक्तोपाधेरभावात्। न च एतद्युक्तम्, हिरण्यगर्भस्य प्रभूतपुण्यजीवविशेषस्य अस्मदादिभ्यो भिन्नत्वेन श्रूयमाणत्वात्। किञ्च 'समः प्लुषिणा समो नागेन समो मशकेन' इत्यादिना 'वायुना वै गौतम सूत्रेण' इत्यादिना च हिरण्यगर्भलिङ्गशरीरस्य व्यापकत्वमेकत्वञ्च प्रतीयते। तत्परिच्छिन्नलिङ्गशरीरोपहितास्मदाद्यनेक-जीवसमूहस्य हिरण्यगर्भत्वे न युज्यते। किञ्च 'ज्ञानमप्रतिहतं यस्य'[1] इत्यादिना हिरण्यगर्भस्य सर्वज्ञत्वादि प्रतीयते। यदि च जीवसमूहस्य हिरण्यगर्भत्वं तदा समूहस्य समूहिभ्योऽतिरिक्तत्वाभावेनास्मदादीनामेव

यहाँ पर बालबोधिनी के लेखक आपदेव यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि जिस प्रकार वृक्ष का समुदाय ही वन है, वृक्ष के समुदाय से वन अतिरिक्त नहीं है। उसी प्रकार लिङ्गशरीर का समुदाय ही लिङ्गशरीर की समष्टि कहा जायेगा। परन्तु लिङ्गशरीर का समुदाय प्रत्येक लिङ्गशरीर से अतिरिक्त तो नहीं हो सकता। इस स्थिति में जिस प्रकार वनावच्छिन्न आकाश तथा वृक्षावच्छिन्न आकाश अतिरिक्त नहीं हो पाता क्योंकि दोनों की उपाधियाँ अतिरिक्त नहीं होती हैं। उधाधियों के भेद से ही आकाशादि में भेद किया जा सकता है, स्वरूपतः नहीं। यदि उपाधियाँ भिन्न नहीं हैं, तो उपहित आकाश में भी भेद नहीं हो सकेगा। उसी प्रकार चूँकि समष्टि-लिङ्गशरीर व्यष्टि-लिङ्गशरीर से अतिरिक्त नहीं है, इस कारण समष्टि-लिङ्गशरीररूप उपाधि से उपहित चैतन्य भी व्यष्टि-लिङ्गशरीररूप उपाधि से उपहित चैतन्य से अतिरिक्त नहीं हो सकेगा। व्यष्टिलिङ्गशरीररूप उपाधि से उपहित चैतन्य तो हम सब जीव ही हैं। इस कारण हम सब जीवों का जो समूह है, वही समूह समष्टिलिङ्गशरीररूप उपाधि से उपहित चैतन्य कहकर पकड़ में आयेगा। इस प्रकार हिरण्यगर्भ हम सब जीवों के समूह से अतिरिक्त नहीं होगा। परन्तु यह तो किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं है क्योंकि हिरण्यगर्भ कहकर हम सबसे भिन्न कोई प्रभूतपुण्य विशिष्ट जीव सुना जाता है। न केवल इतना ही किन्तु अनेक श्रुतिवाक्यों में आता है कि वह हिरण्यगर्भ प्लुषि के समान है, हस्ती के समान है, मशक के समान है, वायुरूप है, इससे पता चलता है कि हिरण्यगर्भ का लिङ्गशरीर व्यापक है तथा एक है। यह बात तो उस स्थिति में सम्भव नहीं है, जब हम मानते हैं कि हम सब जो जीवसमूह हैं, वही हिरण्यगर्भ है क्योंकि हम सब जीवों में तो एक समय में ही मशक की समानता, नाग की समानता तथा प्लुषि की समानता है ही नहीं। इसी प्रकार *'ज्ञानमप्रतिघं यस्य'* जिसका ज्ञान अप्रतिहत है, इत्यादि वाक्यों के द्वारा हिरण्यगर्भ की सर्वज्ञता भी प्रतीत होती है। यदि जीवसमूह ही हिरण्यगर्भ माना जाये तो समूह तो समूहियों से अतिरिक्त होता नहीं, इस कारण हम सब जीव ही हिरण्यगर्भ हुए। फिर तो हम सब जीवों को भी सर्वज्ञ होना चाहिए। परन्तु हमारी सर्वज्ञता हमारे अनुभव से विरुद्ध है। इस कारणलिङ्गशरीर का समुदाय ही लिङ्गशरीर की समष्टि है, ऐसा नहीं माना जा सकता।

१.ज्ञानमप्रतिघं यस्य इति प्रसिद्धः पाठः। द्रष्टव्य-बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक १/४/११९७ तथा १/४/७९

हिरण्यगर्भत्वेन सर्वज्ञत्वादिप्रसङ्गः। न चैतत्, अनुभवविरोधात्। तस्मान्न लिङ्गशरीरसमुदायः समष्टिरिति चेत्?

सत्यम्; न लिङ्गशरीरसमुदायः समष्टिः। किन्तु व्यापकं लिङ्गशरीरं समष्टिशब्देनोच्यते। तदुपहितो हिरण्यगर्भ इति तस्य व्यापकत्वमेकत्वञ्च युज्यते। अयं चाऽऽधिकारिकः कश्चिज्जीव एव, न त्वीश्वरः, *'सोऽबिभेत्'* इत्यादिना भयवत्त्वश्रवणात्। व्यष्टिशब्देन च परिच्छिन्नानि लिङ्गशरीराण्युच्यन्ते। तदुपहिताश्चानेके जीवाः। व्यष्टिसमष्टिलिङ्गशरीरयोस्तु नाभेदः। *तथा सति तदुपहितयोरप्यभेदे सर्वज्ञत्वादिधर्मसाङ्कर्यप्रसङ्गात्।* मूले त्वभेदशब्दः पूर्ववद्व्याख्येय इति।

सूत्रात्मेति व्यपदेशे युक्तिमाह— **सर्वत्रेति**। *'वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि*

यह आशङ्का सही है। इसी कारण सिद्धान्ततः व्यापक लिङ्गशरीर ही लिङ्गशरीर की समष्टि कहा जाता है। उसी व्यापक लिङ्गशरीर से उपहित चैतन्य ही हिरण्यगर्भ है। इस कारण उस हिरण्यगर्भ का व्यापकत्व भी सङ्गत होता है तथा एकत्व भी। यह हिरण्यगर्भ कोई आधिकारिक जीवविशेष ही है न कि ईश्वर क्योंकि इस हिरण्यगर्भ के भयवत्त्व की प्रतिपादिका श्रुति प्राप्त होती है *'सोऽबिभेत्'* वह डर गया, इत्यादि। भगवत्पाद आचार्य शङ्कर ने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में हिरण्यगर्भ के विषय में यह प्रश्न उपस्थित करते हुए कि यह क्या जीव है या ईश्वर? समाधान दिया कि *'हिरण्यगर्भस्तूपाधिशुद्ध्यतिशयापेक्षया प्रायशः पर एवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः। संसारित्वं तु क्वचिदेव दर्शयन्ति'* (बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्य १/४/६) हिरण्यगर्भ तो उपाधि के अतिशय शुद्ध होने की अपेक्षा से प्रायशः परमात्मा ही है, परन्तु उसका संसारित्व भी कहीं दिखलाते हैं। सूक्ष्मशरीरों की व्यष्टि के द्वारा परिच्छिन्न लिङ्गशरीरों को कहा जा रहा है। उन परिच्छिन्न लिङ्गशरीरों से उपहित अनेक हम सब जैसे जीव हैं। इस प्रकार वस्तुतः व्यष्टि लिङ्गशरीर तथा समष्टि लिङ्गशरीर में अभेद नहीं है। फिर किस कारण मूलकार ने इनका अभेद बताया है? तो वस्तुतः भेद शब्द यहाँ पर भेदक का बोधक है। अभेद शब्द का अर्थ है भेदक न होना। उपाधि वस्तुतः किसी प्रकार के भेद को उत्पन्न नहीं करती है। इस कारण इन उपाधियों के द्वारा वस्तुतः चैतन्य में कोई भेद नहीं किया जाता, यह इस वाक्य का तात्पर्य है। इस प्रकार बालबोधिनीकार आपदेव के अनुसार 'सूक्ष्मशरीर की समष्टि' कहकर व्यापक लिङ्गशरीर का ग्रहण किया जा रहा है।

वेदान्तसार के अन्य व्याख्याकार इस बात से सम्मति नहीं रखते। विद्वन्मनोरञ्जनी व्याख्या के लेखक श्रीरामतीर्थ यति कहते हैं कि श्रुतियाँ दोनों प्रकार की मिलती हैं जिनमें लिङ्गशरीर की एकता की बात कही गयी है तथा अनेक श्रुतियों में लिङ्गशरीर की अनेकता की बात कही गयी है। इसी प्रकार अनेक स्थलों में व्यष्टि तथा समष्टि की एकता की बात भी कही गयी है। वे बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य *'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः'* वायु ही व्यष्टि है तथा वायु ही समष्टि है, (बृहदारण्यक उपनिषद् ३.३.२)का प्रदर्शन करते हैं। इस कारण उनका मानना है कि वस्तुतः सूक्ष्मशरीर की समष्टि तथा व्यष्टि में पारमार्थिक भेद मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जिस प्रकार एक ही अज्ञान में सामान्य विशेषभाव से एकत्व तथा अनेकत्व का व्यवहार कर लिया जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर की समष्टि तथा व्यष्टि में भी सामान्य-विशेषभाव से एकत्व तथा अनेकत्व सम्भव होता है।

भूतानि संदृब्धानि' इति वचनादिति भावः। हिरण्यगर्भ इति व्यपदेशे युक्तिमाह— **ज्ञानेति**। प्राण इति व्यपदेशे तामाह— **क्रियेति**। **अत एवेति**। यतो वासनामयम् अत एवेत्यर्थः। अन्तःकरणस्य तेजोमयत्वं तेजोबाहुल्यात्। **तदानीमिति**। स्वप्नकाले इत्यर्थः। सूक्ष्मविषयान् प्रातिभासिकान् रथादीनित्यर्थः।

यत्तु वासनानिर्मितत्वेन सूक्ष्मत्वमिति, तन्न; सत्कार्यवादे घटादेरपि वासनाजन्यत्वेन सूक्ष्मत्वापत्तेः।

न च वासनामात्रजन्यत्वे तत्सूक्ष्मत्वमिति वाच्यम्; स्वाप्निकपदार्थानामज्ञानजन्यत्वेन वासनामात्राजन्यत्वात्।

सुबोधिनी व्याख्या के लेखक श्री नृसिंहसरस्वती इस बात को इस रूप में समझते हैं कि समस्त सूक्ष्म शरीरों को सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ के द्वारा एकशरीर के रूप में समझने के कारण समस्त सूक्ष्म शरीरों की समष्टि एक शरीर के रूप में स्वीकृत होती है।

वस्तुतः तो जिस प्रकार अवयव तन्तुओं से पटात्मक अवयवी भिन्न नहीं है, तथापि पट इस रूप में भिन्नतया समझा जाता है। उसी प्रकार यद्यपि सूक्ष्म शरीरों से सूक्ष्म शरीरों की समष्टि भिन्न नहीं है, तथापि भिन्नरूप में ज्ञात अवश्य होती है। अनिर्वचनीय सूक्ष्मशरीरसमष्टि में सूक्ष्मशरीरव्यष्टियों को स्वीकार करते हुए भी आपदेव के द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का समाधान किया जा सकता है।

सूक्ष्मशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा कहा जाता है क्योंकि वह सर्वत्र अनुस्यूत है। जिस प्रकार माला के पुष्पों में एक धागा गुंथा रहता है, उसी प्रकार समष्टिघटक समस्त सूक्ष्म शरीरों में एक आत्मचैतन्य अनुस्यूत है, इसी कारण उसको सूत्रात्मा कहा जाता है। इसका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी प्राप्त होती है *'वायुना वै गौतम! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतानि संदृब्धानि'* हे गौतम! सूत्ररूपी वायु के द्वारा यह लोक तथा परलोक तथा समस्त भूत गुँथे हुए हैं, इसी कारण उसको सूत्रात्मा कहा गया। हिरण्यगर्भ कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान हिरण्य (सुवर्ण) के समान अत्यन्त मूल्यवान है, तथा यह सूक्ष्मशरीर की समष्टि ज्ञानेच्छामती है। उससे उपहित चैतन्य है, इसलिए हिरण्यगर्भ कहलाता है। इसको प्राण भी कहा जाता है क्योंकि इसकी उपाधि सूक्ष्मशरीर की समष्टि क्रियाशक्तिमती है।

विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश तथा प्राणमयकोश इन तीन कोशरूप सूक्ष्मशरीरों की यह समष्टि— सूक्ष्म शरीरों का समुदाय— समुदाय होने पर भी स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म है, इसी कारण उसको सूक्ष्मशरीर कहा गया। यह कोशत्रय स्वप्नात्मक है क्योंकि जाग्रदवस्था में जो अनुभूत है, उसकी वासना से निर्मित है। सूत्रात्मा विराट् के रूप में जो कुछ अनुभव करता है, उसकी वासना से निर्मित होने के कारण ही ये तीन कोश स्वप्न कहे जा रहे हैं। मनुष्य जाग्रदवस्था में जो अनुभव करता है, उसका स्वप्न उसी की वासना से निर्मित होता है। उसी प्रकार विराट् के रूप में जो कुछ अनुभव सूत्रात्मा करता है, उसी की वासना से विज्ञानमय आदि कोशत्रय निर्मित होते हैं। चूँकि ये जाग्रद्वासनामय हैं, इसी कारण स्वप्न है,तथा इसी कारण सूक्ष्म भी हैं।

सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को तैजस कहा जाता है। तैजस कहने का तात्पर्य यह है कि तेजोमय अन्तःकरण से उपहित होता है। प्रश्न हो सकता है कि अन्तःकरण तो पाँच भूतों से निर्मित है, फिर उसको तैजस

मनोवृत्तिभिरिति। यद्यपि स्वाप्निकपदार्थानां साक्षिण्यध्यस्तत्वेन सुखादिवत्साक्षिवेद्यत्वम्।

न च साक्षिण्यध्यासे इदन्तया प्रतिभासः कथमिति वाच्यम्? तस्यापि भ्रान्तत्वात्। एतच्च 'देशोऽपि तादृश एव' इत्यादिना स्वप्नटीकायां[1] स्पष्टम्।

किञ्च मनोवृत्तेः प्रमाणसहकारित्वेन तदानीं च प्रमाणोपरमात् न मनोवृत्तिगम्यत्वं स्वाप्निकानाम्, किन्तु साक्षिवेद्यत्वमेव। तथापि मनसि वृत्तिः वर्तनं येषां ते निद्रादिदोषाः,तैः साहाय्यं प्राप्य स्वयं विषयाननुभवत इत्यर्थ इति द्रष्टव्यम्। स्वाप्निकपदार्थाश्च मूलाज्ञानकार्या इत्यन्यत्र विस्तरोऽस्मत्तातकृतौ[2]।

लिङ्गशरीरनिरूपणमुपसंहरति— एवमिति।

क्यों कहा जा रहा है? तो अन्तःकरण के पाँच भूतों से निर्मित होने पर भी उसको तैजस इस कारण कहा जा रहा है क्योंकि उसमें तेजस् की प्रधानता है। जागरणकाल में स्थूलशरीर के द्वारा अनुभूत जो विषय हैं, उनकी वासना से *विज्ञानमयादि तीन कोशों का निर्माण होता है, इसी कारण इसको स्वप्न कहा जाता है।*

ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस अपनी स्वप्नावस्था में मनोवृत्तियों के द्वारा सूक्ष्मविषयों का अनुभव करते हैं। सूक्ष्म विषयों के भोग से तात्पर्य प्रातिभासिक विषयों के भोग से है। स्वप्न में जिन कामिनी आदि विषयों का भोग किया जाता है, या जिन रथादि विषयों का प्रत्यक्ष होता है। वे विषय लौकिक व्यावहारिक विषय नहीं हैं क्योंकि यदि वे व्यावहारिक विषय होते तो उनका बाध स्वप्न के उपरान्त जगने पर नहीं होना चाहिए था। इस कारण यही मानना पड़ता है कि जो स्वाप्निक विषय हैं वे प्रातिभासिक हैं। प्रातिभासिक होना ही उनका सूक्ष्म होना है।

कुछ लोगों का पक्ष है कि स्वाप्निक विषय वासनानिर्मित होने के कारण सूक्ष्म हैं, तो यह मत नहीं माना जा सकता क्योंकि सत्कार्यवाद में तो वही वस्तु उत्पन्न होती है जो पहले से सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है, सूक्ष्मरूप से विद्यमान होने का तात्पर्य है वासना के रूप में विद्यमान होना। तो इस परिस्थिति में सत्कार्यवाद के अनुसार घटादि भी तो वासनामय ही हैं। इस कारण यदि वासनानिर्मित होने के कारण वस्तु सूक्ष्म हो, तब तो घटादि भी वासनानिर्मित होने के कारण सूक्ष्म होने लगेंगे। वासनामात्रनिर्मित होने के कारण स्वाप्न पदार्थों की सूक्ष्मता की बात भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि स्वाप्न पदार्थ भी अज्ञान से जन्य होने के कारण वासनामात्रजन्य नहीं होते। स्वाप्न पदार्थो के वासनासहकृत अज्ञान से जन्य होने के कारण ही स्वप्न की स्मृतिरूपता नहीं है।

यहाँ सदानन्द का यह वक्तव्य विचारणीय है। उन्होंने कहा कि सूत्रात्मा तथा तैजस स्वप्न की अवस्था में मनोवृत्तियों के द्वारा सूक्ष्मविषयों का भोग करते हैं। स्वाप्निक पदार्थ साक्षी में अध्यस्त हैं, इस कारण जिस प्रकार सुख आदि साक्षी से भास्य होते हैं, उसी प्रकार स्वाप्निक पदार्थ भी साक्षी से ही भास्य होते हैं। इस कारण मन की वृत्तियों के द्वारा स्वाप्निक पदार्थो का भासन होता है, यह बात सही नहीं दिखायी देती। यदि यह पूछा जाये कि यदि स्वाप्निक पदार्थ साक्षी में अध्यस्त हैं तो अहन्तया प्रतिभास होना चाहिए, जिस प्रकार सुखादि का 'मैं ज्ञानवान् हूँ' इस रूप में प्रतिभास होता है। परन्तु ऐसा प्रतिभास तो होता नहीं। स्वाप्निक पदार्थों का प्रतिभास तो

१.द्रष्टव्य- पृ.११२, पञ्चपादिका।

२.अनया पङ्क्त्या आपदेवस्य पित्रा कश्चन ग्रन्थो लिखितोऽभविष्यदिति प्रतीयते। इदानीं तु स ग्रन्थो न दृश्यते।

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिषु पञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्च भागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य

स्थूलानि निरूपयति— **स्थूलेति**। 'तासामेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणि' इति त्रिवृत्करणश्रुतिः। त्रिवृत्करणं तु त्रयाणां भूतानां तेजोबन्नानामेकैकं द्विधा विभज्यार्धत्रयमिति प्रत्येकं द्विधा विभज्य तत्तदर्धस्य

इदन्तया हुआ करता है। तो इदन्तया प्रतिभास होने का कारण यह है कि देश भी उसी प्रकार से स्वाप्निक विषयों के समान भ्रान्त है। मनोवृत्तियाँ प्रमाण की सहकारी कारण होती हैं, स्वप्नकाल में तो समस्त प्रमाणों का उपरम हो जाता है। फिर किस प्रकार से स्वाप्निक पदार्थ मनोवृत्ति से गम्य हो सकते हैं? इस कारण स्वाप्निक पदार्थ साक्षिवेद्य ही होते हैं, ऐसा मानना ही उचित है। तथापि सदानन्द का यह कथन सङ्गत है क्योंकि निद्रा भी मन की एक वृत्ति ही है। मन में जिनका वर्तन हो, मन में जो रहें, ऐसे हैं निद्रा आदि दोष। इस व्युत्पत्ति के कारण निद्रादि दोष भी मन की वृत्ति हैं। उन निद्रादि दोषों की सहायता पाकर ही सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य जिसको कि तैजस कहा जा रहा है, विषयों का अनुभव करता है। इसी अभिप्राय से तैजस मनोवृत्तियों से स्वाप्निक विषयों का उपभोग करता है, ऐसा कहा गया है। स्वाप्निक पदार्थ मूलाज्ञान के कार्य हैं, ऐसा आपदेव प्रतिपादित करते हैं।

सिद्धान्तबिन्दु में मधुसूदनसरस्वती ने स्वप्न का लक्षण बताया है कि अन्तःकरणगत वासना के कारण इन्द्रियवृत्त्यभावकालीन अर्थोपलब्धि ही स्वप्न है। दो पक्ष उन्होंने उठाया, प्रथम यह कि मन ही गज-तुरग आदि के आकार में परिणत हो जाता है, तथा उन अर्थों का ज्ञान अविद्या की वृत्ति के द्वारा हुआ करता है। दूसरा पक्ष यह कि शुक्तिका में रजतभ्रम के स्थल में जिस प्रकार अविद्या ही रजताकार में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार स्वप्नकाल में अविद्या ही स्वाप्निक गज-तुरगादि रूप में परिणत हो जाती है, तथा उसका ज्ञान भी अविद्या की वृत्ति के द्वारा ही होता है। इसके बाद मधुसूदनसरस्वती प्रश्न करते हैं कि इनमें से कौन सा पक्ष उचित है? समाधान दिया कि दूसरा पक्ष ही उचित है। इसका कारण यह है कि सर्वत्र अविद्या के ही अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास का उपादानत्व स्वीकार किया जाता है, मन का नहीं। प्रथम पक्ष में मन का उपादानत्व स्वीकार करना पड़ेगा, जो कि उचित नहीं है। मनोगत वासना के निमित्त अवश्य कहीं पर मन को भी उपादान कह दिया जाता है। (द्रष्टव्य-पृ.१६०, सिद्धान्तबिन्दु, न्यायरत्नावलीयुक्त, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी)

नैयायिक तो इन्द्रियों के उपरत हो जाने के उपरान्त, मन के निरिन्द्रिय आत्मप्रदेश में अवस्थित होने पर मन के द्वारा होनेवाला संस्कारसहकृत जो मानस अनुभव है, उसी को स्वप्न कहते हैं। पदार्थधर्मसङ्ग्रह में प्रशस्तपाद का वचन है— *'उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम्'* (द्रष्टव्य-पृ. ४३६, पदार्थधर्मसङ्ग्रह, न्यायकन्दलीसहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७७)

पञ्चीकृत भूतों को स्थूलभूत कहा जाता है। पञ्चीकरण की प्रक्रिया तो इस प्रकार से है— आकाश आदि पाँचों को एक-एक कर दो-दो भागों में विभक्त कर लिया जाता है। इस प्रकार से दस भाग हो जाते हैं। उन दस भागों में से प्राथमिक पाँच भागों को लेकर उनमें से हर द्वितीय भाग को चार बराबर हिस्सों में बाँट लेना है। उन चार

तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु योजनम्। तदुक्तम्—

"द्विधा विभज्य चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते।।" इति।

स्वार्धपरित्यागेनार्धान्तरयोजनम्। **उपलक्षणत्वादिति।** 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिना पञ्चानामपि भूतानां सृष्ट्याम्नानात् पुराणादावाकाशवाय्वादेरपि स्थूलसूक्ष्मविभागाम्नानादिति भावः।

भागों को अपने -अपने द्वितीय आधे हिस्से को छोड़कर बाकी सभी में जोड़ देना है। जैसा कि कहा गया है कि 'एक-एक को दो भागों में विभक्त कर फिर एक-एक को चार भागों में विभक्त कर अपने-अपने से भिन्न द्वितीय अर्ध अंश से जोड़ने से वे अपञ्चीकृत भूत पञ्चीकृत हो जाते हैं'।

यह पञ्चीकरण की प्रक्रिया किसी प्रमाण से पुष्ट नहीं होती है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि त्रिवृत्करण की श्रुति प्राप्त होती है, तथा वह त्रिवृत्करण की श्रुति पञ्चीकरण की भी उपलक्षण है। यद्यपि पञ्चीकरण प्रक्रिया के कारण पाँचों भूतों का ही पञ्चात्मकत्व एक समान है, (पञ्चीकरण प्रक्रिया के कारण पाँचों ही भूत पञ्चभूतात्मक हैं) तथापि 'वैशेष्यात्तु तद्वादः तद्वादः'(ब्रह्मसूत्र२/४/२२), जिसमें जिसका वैशेष्य— आधिक्य —होता है, उसको वही कहे जाने का सिद्धान्त है, इस न्याय के कारण आकाश आदि भूतों को आकाश आदि नामों से सम्बोधित किया जाना सम्भव होता है। इस पद्धति से पञ्चीकरण प्रक्रिया के द्वारा पाँचों भूतों में पञ्चभूतात्मकता होने के कारण आकाश में शब्द अभिव्यक्त होता है। वायु में शब्द तथा स्पर्श अभिव्यक्त होते हैं। तेज में शब्द, स्पर्श तथा रूप अभिव्यक्त होते हैं। जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस अभिव्यक्त होते हैं। पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।

पञ्चीकरण के बारे में यद्यपि प्रसिद्ध दस उपनिषदों में कोई शब्दशः उल्लेख नहीं प्राप्त होता है, तथापि छान्दोग्य उपनिषद् में 'तासामेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणि' उनमें से तीनों को त्रिवृत् करूँ, इस प्रकार से त्रिवृत्करण के बारे में बताया गया है। तेज, जल तथा पृथिवी इन तीन भूतों में एक-एक को दो भागों में बाँटने के उपरान्त एक-एक भाग के तीन-तीन भाग कर प्रथम को छोड़कर अन्य के द्वितीय अर्ध भाग से मेलन कर देने से ये तीनों भूत त्रिभूतात्मक हो जाते हैं, ऐसा त्रिवृत्करण का विधान प्राप्त होता है। परन्तु इस त्रिवृत्करण के विधान से पञ्चीकरण का भी सङ्केत प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि उपनिषदों में 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इस प्रकार से आत्मा से आकाश आदि पाँचों ही भूतों की सृष्टि का वर्णन प्राप्त होता है। फिर केवल तेज, जल तथा पृथिवी इन तीन भूतों को ही दो-दो भागों में विभक्त कर फिर उनका तीन-तीन विभाग कर अन्यों से मेलन करने की बात समझ में नहीं आती। यदि आकाश तथा वायु में तेज, जल तथा पृथिवी की अपेक्षा कोई विलक्षणता होती, तब तो केवल तेज, जल तथा पृथिवी के परस्पर मेलन की बात युक्तिसङ्गत दिखती। परन्तु ऐसा है नहीं। इन दोनों का त्रिवृत्करण के प्रसङ्ग में उल्लेख न करने का कारण यह है कि ये दोनों प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं,

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयम्, त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इतिन्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते, वायौ शब्दस्पर्शौ, अग्नौ शब्दस्पर्शरूपाणि, अप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च।

ननु पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समाने, कथमसाधारण्येन पृथिव्यादिव्यपदेशः तत्राह— **पञ्चानामिति।** वैशेष्यात्पृथिव्यादिभागानामाधिक्यात्, तद्वादः पृथिव्यादिव्यपदेश इत्यर्थः। एवञ्च पञ्चीकरणे आकाशवाय्वोरपि रूपवत्त्वमहत्त्वयोर्विद्यमानत्वेऽप्याकाशादिभागयोराधिक्येन तदभिभवोपपत्तेः। अन्यथा त्रिवृत्करणपक्षेऽपि तेजसि गन्धोपलम्भप्रसङ्गः।

पञ्चीकरणानङ्गीकारे दूषणान्तरमाह—**तदानीमिति।** पञ्चीकरणकाले इत्यर्थः। पञ्चीकरणानङ्गीकार आकाशवाय्वोः सूक्ष्मत्वेन सूक्ष्मपृथिव्यां गन्धानुपलम्भवत्तयोः शब्दस्पर्शानुपलम्भप्रसङ्ग इति भावः।

अन्य तेज आदि तीन भूत तो प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इस कारण उन तीनों भूतों का परस्पर मेलन समझाना आसान है। इसी कारण इन दो भूतों की चर्चा नहीं की गयी। इस कारण इन पाँचों ही भूतों का परस्पर मेलन स्वीकार करना आवश्यक व उचित है। इसी कारण पञ्चीकरण प्रक्रिया को स्वीकार किया जाता है।

यद्यपि पञ्चीकरण प्रक्रिया का अनुसरण करने पर आकाश में अर्धभाग तो आकाश का है तथा अर्धभाग का चतुर्थांश वायु, तेज, जल तथा पृथिवी सभीका समान रूप से है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिसे आकाश कहा जाता है, उसका वस्तुतः पचास प्रतिशत अंश ही आकाश है। शेष पचास प्रतिशत में वायु, तेज, जल तथा पृथिवी चारों का ही समान रूप से सम्मिलन है। यही बात अन्य वायु आदि भूतों पर भी लागू होती है। इस प्रकार पाँचों ही भूतों में पाँचों भूतों के अंश सम्मिलित हैं। इस कारण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि पाँचों ही भूतों में पाँचों भूतों के अंश शामिल हैं, तो किसी को आकाश, किसी को वायु, किसी को तेज, किसी को जल तथा किसी को पृथिवी कहने का आधार क्या है? इस प्रश्न का समाधान इस आधार पर दिया जाता है कि सभी भूतों में सभी भूतों का अंश होने पर भी जिसमें जिस भूत का अंश अधिक होता है, उसको वही कहा जाता है। आकाश में आकाश का अंश पचास प्रतिशत है, अन्य के अंश केवल साढ़े बारह प्रतिशत-साढ़े बारह प्रतिशत। इसी कारण उसको आकाश कहा जाता है। यही स्थिति अन्य भूतों की भी है।

इसी कारण इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है कि यदि आकाशादि पाँचों ही भूतों में पञ्चभूतात्मकता है तो आकाश तथा वायु में भी तेज, जल तथा पृथिवी का अंश मिला रहने के कारण गन्ध तथा रूप भी आकाश तथा वायु में निश्चित रूप से रहेगा। फिर इनका चक्षु से प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? किसी द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने के लिए उसमें रूपवत्ता तथा महत्परिमाण होना चाहिए। आकाश तथा वायु में महत्परिमाण के होने में तो सन्देह पहले भी नहीं था। चूँकि तैजस अंश आकाश तथा वायु दोनों में ही शामिल है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानां, अतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपाताल-नामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विध-

'उपरि विद्यमानानाम्' इत्यादिषष्ठ्यन्तानाम् **'एतेभ्य उत्पत्तिर्भवति'** इत्यन्वयः। **शरीराणीत्यादि स्पष्टम्।**

कि इनमें रूपवत्ता नहीं है। जब महत्परिमाण तथा रूपवत्ता दोनों ही हैं, तो आकाश तथा वायु का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए। क्यों नहीं होता? तो आकाश तथा वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने का कारण यह है कि यद्यपि पञ्चभूतात्मकता पाँचों ही भूतों में समान है, तथापि आकाशादिभाग की अधिकता होने के कारण रूप-गन्धादि का अभिभव हो जाता है। इसी कारण आकाश व वायु में रूपादि का अभिभव होने के कारण उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। त्रिवृत्करण का पक्ष मानने पर भी तेज में गन्ध की उपलब्धि का प्रश्न ऐसे ही समाहित हो जाता है।

पञ्चीकरण की प्रक्रिया से पाँचों ही भूतों के पञ्चात्मक होने पर भी आकाश में केवल शब्द का, वायु में केवल शब्द तथा स्पर्श का तथा इसी प्रकार अन्य भूतों में अन्य गुणों का होना किस प्रकार से व्याख्यायित किया जायेगा? जब पाँचों ही भूत पञ्चभूतात्मक हैं, तो पाँचों ही भूतों के गुण पाँचों ही भूतों में समान रूप से उपलब्ध होने चाहिए थे, जबकि ऐसा नहीं होता। ऐसा क्यों? तो ऐसा इस कारण है कि कारण के गुण कार्य में अनुप्रविष्ट होते हैं न कि कार्य के गुण कारण में। इसका कारण यह है कि कारण कार्य की अपेक्षा व्यापक होता है, यथा सभी भूतों का कारण आकाश वायु, तेज आदि चारों भूतों की अपेक्षा व्यापक होता है, वायु शेष तीन भूतों की अपेक्षा व्यापक होता है, इसी प्रकार शेष भूतों के विषय में भी समझना चाहिए। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी इस क्रम से भूतों की उत्पत्ति बतायी गयी है। अतः आकाश में केवल शब्द की अभिव्यक्ति होती है, वायु में शब्द तथा स्पर्श दोनों की अभिव्यक्ति होती है, अग्नि यानी तेज में शब्द, स्पर्श तथा रूप तीनों की अभिव्यक्ति होती है, जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस इन चारों की अभिव्यक्ति होती है, तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पाँचों की अभिव्यक्ति होती है। इस लिए पाँचों ही भूतों के पञ्चात्मक होने पर भी पाँचों ही भूतों में समान रूप से गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती।

पञ्चीकरणप्रक्रिया के माध्यम से अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों से पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया बतायी गयी। अब पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों से अन्य समस्त वस्तुओं की सृष्टि की प्रक्रिया बतायी जा रही है—

इन पञ्चीकृत भूतों से ऊपर-ऊपर विद्यमान भूर्लोक, भुवःलोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक की एवं नीचे-नीचे विद्यमान अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल इन सात लोकों की, ब्रह्माण्ड की, ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती चार प्रकार के स्थूलशरीरों की, उन चार शरीरों के लिए उपयोगी बननेवाले अन्न-पान आदि की भी उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीर हैं जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा

स्थूलशरीराणां तदुपचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूका-मशकादीनि।

अत्रापि चतुर्विधसकलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते, सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविकारत्वादन्नमयकोशः, स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं

एतत्समष्टीति। अत्राहुः[1]— न स्थूलशरीरसमुदायः समष्टिः। तथा सति स्थूलशरीरोपहितास्मदादि-

स्वेदज। जरायुज शरीर का तात्पर्य है जरायु (गर्भ को वेष्टित करनेवाली चमड़े की थैली) से उत्पन्न होनेवाले। मनुष्य, पशु आदि इसी प्रकार के हैं। अण्डों से उत्पन्न होनेवाले पक्षी, सर्प आदि को अण्डज कहा जाता है। भूमि को भेदकर उत्पन्न होनेवाले तृण, वृक्ष आदि उद्भिज्ज कहलाते हैं। स्वेद यानी पसीने से तथा गन्दे पानी-गन्दे स्थानों से उत्पन्न होनेवाले जूँ, मच्छर आदि स्वेदज हैं।

यहाँ पर भी चारों ही प्रकार के समस्त स्थूल शरीर एक बुद्धि का विषय होने के कारण वन की तरह या जलाशय की तरह समष्टि होते हैं, तथा अनेक बुद्धि का विषय होने के कारण वृक्ष या जल की तरह व्यष्टि होते हैं। इस समष्टि से उपहित चैतन्य समस्त नरों (मनुष्यों अर्थात् जीवों) का अभिमानी होने के कारण वैश्वानर तथा विविध प्रकार से राजमान होने के कारण विराट् भी कहलाता है। स्थूलशरीरों की समष्टि, जो कि स्थूलशरीर है, अन्न का विकार होने के कारण अन्नमयकोश है, स्थूलभोगों का आयतन होने के कारण स्थूलशरीर तथा जाग्रत् भी कही जाती है। स्थूलशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य 'विश्व' कहलाता है क्योंकि सूक्ष्मशरीर का अभिमान विना छोड़े ही वह इस स्थूलशरीर में प्रविष्ट हुआ है। स्थूलशरीर की ये जो व्यष्टि है वह स्थूलशरीर है तथा अन्न का विकार होने के कारण ही अन्नमयकोश तथा जाग्रत् कही जाती है। उस समय अर्थात् जाग्रद्दशा में ये दोनों ही विश्व तथा वैश्वानर (विराट्) क्रमशः दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विन् के द्वारा नियन्त्रित श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों के द्वारा (श्रोत्र, स्पर्शनेन्द्रिय त्वचा, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय के द्वारा) क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का अनुभव करते हैं। (ये दोनों) अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम तथा प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित की जानेवाली वाणी आदि कर्मेन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, पायु तथा उपस्थ) के द्वारा क्रमशः बोलना, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा आनन्दोपभोग करते हैं। (ये दोनों) चन्द्र, चतुर्मुख यानी ब्रह्मा, शङ्कर तथा अच्युत यानी विष्णु के

१.इदं मतं वाचस्पतिमिश्रानुयायिनां कल्पतर्वादिकृतां स्यादिति चिन्तयामि।

जाग्रदिति च व्यपदिश्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते, सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नमयविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते। तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात् सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः। अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः।

द्वारा क्रमशः नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त रूपी चार अन्तरिन्द्रियों के द्वारा क्रमशः सङ्कल्प, निश्चय, अङ्कार तथा चिन्तन सम्पादित करते हैं। इस प्रकार से (ये दोनों) इन समस्त स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं क्योंकि श्रुति प्राप्त होती है 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' जाग्रत् अवस्था में बहिःप्रज्ञ है। यहाँ पर भी पूर्ववत् ही इन दोनों स्थूल शरीर की व्यष्टि एवं स्थूल शरीर की समष्टि में तदनुसार स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य में एवं स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य में उसी प्रकार से अभेद होता है जैसे वन और वृक्ष में तथा वन से अवच्छिन्न आकाश और वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में अभेद होता है। अथवा जिस प्रकार से जलाशय व जल में अभेद होता है तथा जलाशयगत प्रतिबिम्ब व जलगतप्रतिबिम्ब में अभेद होता है। इस प्रकार से पञ्चीकृत भूतों से स्थूलप्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

वेदान्तसार की बालबोधिनी व्याख्या के लेखक आपदेव यहाँ पर वाचस्पति मिश्र के अनुयायियों का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि वेदान्तसार में जो यहाँ पर स्थूलशरीरों की समष्टि को भी स्थूलशरीर बताया जा रहा है वह सङ्गत नहीं है। स्थूलशरीरों के समुदाय को स्थूलशरीरों की समष्टि नहीं माना जा सकता क्योंकि ऊपर बताया गया है कि स्थूलशरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर है तथा स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य विश्व है। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्थूलशरीरों की समष्टि क्या स्थूल शरीरों का समुदाय है या समुदाय से अतिरिक्त कुछ अन्य? यदि स्थूल शरीरों की समष्टि स्थूल शरीरों का समुदाय ही है, तो समुदाय तो समुदाय के अङ्ग बननेवाले समुदायियों से अतिरिक्त तो होता नहीं। इस कारण समुदायियों— स्थूलशरीरों की व्यष्टि— से उपहित चैतन्य ही वस्तुतः स्थूलशरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य होगा। इसमें समस्या यह आयेगी कि स्थूलशरीरों

जीवसमुदाय एव विराट् स्यात्। न चैतद्युक्तम्, विराजो भिन्नतया श्रवणात्। नापि व्यापकं स्थूलशरीरं समष्टिस्तदुपहितश्च विराडिति युक्तम्, अस्मदादिवद्विराजः प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तस्मान्न समष्ट्युपहितो विराट्। किन्तु परिच्छिन्नचतुर्मुखस्थूलशरीरोपहितः सत्यलोकाधिपतिः सर्वज्ञो हिरण्यगर्भाच्छतगुणापकृष्टा-नन्दभुग्जीवविशेष एव विराट्। तस्य च समष्ट्युपहितत्वमस्मदादिसकलस्थूलशरीराभिमानात् क्वचिद्व्यपदिश्यते। न तु वस्तुतः समष्ट्युपहितत्वम्, उक्तहेतोः। स च अस्मदादिभ्यो भिन्नः। अन्यथा सर्वज्ञत्वादिधर्मसाङ्कर्यं स्यादिति।

अन्नं पृथिवी। अज्ञानोपहित आनन्दमयः। बुद्ध्युपहितो विज्ञानमयः। मनउपहितो मनोमयः। प्राणोपहितः प्राणमयः। स्थूलशरीरोपहितश्चान्नमय इत्याखण्डलार्थः। **विश्व** इति। अज्ञानोपहितः प्राज्ञः। लिङ्गशरीरोपहितस्तैजसः। स्थूलशरीरोपहितश्च विश्व इत्याखण्डलार्थः। **जाग्रदिति**। जाग्रद्दशायां विद्यमानत्वादित्यर्थः।

तदानीमिति। जाग्रद्दशायामित्यर्थः। द्वितीयान्तानां गन्धानित्यादीनामनुभवत इत्यनेन सम्बन्धः। **वागादीन्द्रियपञ्चकेने**त्यस्याग्रे जनितानिति शेषः। वचनादीनानन्दान्तान् यथायथं ज्ञानेन्द्रियैः साक्षिणा वा **अनुभवत** इत्यर्थ इति द्रष्टव्यम्, कर्मेन्द्रियाणामनुभावकत्वाभावात्। चतुर्मुखो विराट्। मनोबुद्ध्यादीनामिन्द्रियत्वं सङ्कल्पादिग्राहकत्वञ्च उपचारादुक्तम्, तेषां तैः सहाभेदात्। उपचारश्च सङ्कल्पादीनां स्वसाक्षिप्रत्यक्षे विषयत्वेन हेतुत्वात्।

अत्रापीति। एतदेकदेशिमतम्, औपाधिकयोगाद्विराजः समष्ट्युपहितत्वाभावाच्चेति केचित्। अभेदशब्दो भेदयतीति व्युत्पत्त्या पूर्ववद्व्याख्येयः। समष्ट्युपहितत्वं तु स्थूलाभिमानित्वादिति वा अर्थः। स्थूलनिरूपणमुपसंहरति— **एवमिति**।

की व्यष्टि से उपहित जो जीवसमुदाय है वही विराट् या वैश्वानर कहलाना चाहिए। परन्तु यह तो युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि विराट् का श्रवण तो विश्व से भिन्नतया प्राप्त होता है। यहाँ पर सूक्ष्मशरीरसमष्टि के स्थल पर जिस प्रकार से समाधान दिया गया था कि व्यापक लिङ्गशरीर को सूक्ष्मशरीर की समष्टि कहा जाता है, वैसा समाधान भी नहीं दिया जा सकता क्योंकि यदि उसी प्रकार से कहा जाये कि व्यापक स्थूल शरीर को ही स्थूलशरीर की समष्टि कहा जा रहा है, तो यह कथन समुचित नहीं होगा। इसका कारण यह है कि फिर तो विराट् (वैश्वानर) के शरीर का प्रत्यक्ष होने की बारी आ जायेगी क्योंकि जिस प्रकार हमारा शरीर स्थूल है तथा प्रत्यक्षसिद्ध है। उसी प्रकार से विराट् का शरीर भी तो व्यापक तथा स्थूल है, इस कारण उसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस कारण स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित विराट् या वैश्वानर नहीं है। किन्तु परिच्छिन्न चार मुख वाले स्थूल शरीर से उपहित, सत्यलोक का अधिपति, सर्वज्ञ एक जीवविशेष ही विराट् है, जो कि हिरण्यगर्भ से सौ गुना कम आनन्द का भोग करता है। परन्तु यदि वह स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित नहीं है, तो उसको स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित किस कारण कहा जा रहा है? तो वस्तुतः उसको स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित कहने का कारण यह है कि वह हम सभी लोगों के समस्त स्थूल शरीरों के विषय में अपनेपन का अभिमान रखता है। इसी कारण उसको कहीं-कहीं स्थूलशरीर की समष्टि से

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति, यथाऽवान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति, यथा वाऽवान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महाञ्जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तर-

स्थूलेति। यद्यपि न स्थूलसमष्टिः, तथापि स्थूलव्यष्टिरेव विराजः समष्टिरुक्तेति मन्तव्यम्। **एकमेवेति**।

उपहित कह दिया जाता है। वस्तुतः तो वह स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित नहीं ही है। वह तो हम सबसे भिन्न ही है। यदि हम सभी जीवों के समुदाय को ही विराट् या वैश्वानर कहा जाये, तब तो सर्वज्ञत्वादि धर्मों का साङ्कर्य होने लगेगा क्योंकि हम सबमें अल्पज्ञत्व है परन्तु वैश्वानर के सर्वज्ञ होने की बात विभिन्न श्रुतियों में कही गयी है। परन्तु मूलकार की पङ्क्तियों का आशय तो इसके साथ सङ्गत नहीं दिखता। वेदान्तसार के लेखक सदानन्द तो स्थूल शरीरों के समुदाय को ही एकत्वबुद्धि का विषय होने मात्र से ही एक स्थूलशरीर के रूप में मान्यता देते हुए दिखते हैं। वेदान्तसार की अन्य व्याख्याएँ भी इसी प्रकार से इसको व्याख्यायित करती हैं। चतुर्विध समस्त स्थूल शरीर भी एकत्वबुद्धि का विषय होने के कारण समष्टिता को प्राप्त करते हैं, प्रत्येक तच्छरीर को विषय करनेवाली अनेकत्वबुद्धि का विषय होने के कारण व्यष्टिता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वस्तुतः स्थूलशरीरों की अनिर्वचनीय समष्टि को ही विराट् के शरीर के रूप में समझना चाहिए।

स्थूलशरीर को अन्न का विकार बताया गया। अन्न का तात्पर्य है पृथिवी। इसका तात्पर्य है कि वस्तुतः स्थूलशरीर पृथिवी का ही विकार है। इस प्रकार अज्ञान से उपहित आनन्दमय, बुद्धि से उपहित विज्ञानमय, मन से उपहित चैतन्य मनोमय, प्राण से उपहित चैतन्य प्राणमय तथा अन्न से उपहित चैतन्य अन्नमय होता है। इसी प्रकार अज्ञान से उपहित को प्राज्ञ, लिङ्गशरीर से उपहित को तैजस, स्थूलशरीर से उपहित को विश्व कहा जाता है।

वेदान्तसार में मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त को अन्तरिन्द्रिय कहा गया। वस्तुतः तो मन आदि का इन्द्रियत्व वेदान्तमत में स्वीकार्य नहीं है। किन्तु लाक्षणिक रूप से गौणी वृत्ति के आधार पर साम्य के कारण इनको इन्द्रिय कहा गया है। साम्य क्या है? इनका साम्य वस्तुतः यही है कि सङ्कल्प आदि का साक्षी के द्वारा प्रत्यक्ष होने में विषयविधया कारणत्व होता है। इन्द्रियों में भी इसी प्रकार से कारणत्व विद्यमान है।

ऊपर प्रदर्शित युक्तियों के आधार पर वाचस्पति मिश्र के मत का अनुसरण करते हुए स्थूलशरीर की समष्टि विराट् की उपाधि नहीं हो सकती। इस स्थिति में यह कथन सङ्गत नहीं दिखता है कि स्थूलशरीर की समष्टि तथा स्थूलशरीर की व्यष्टि में अभेद है, तथा इसी कारण इनसे उपहित चैतन्यों में भी अभेद है। अभेद का अर्थ तो पूर्ववत्; भेदक नहीं होते हैं, ऐसा करना चाहिए।

इन स्थूल तथा सूक्ष्म कारणप्रपञ्चों की भी एक समष्टि होती है, जोकि महाप्रपञ्च है। यह उसी प्रकार से हुआ करता है जैसे अवान्तर वनों की समष्टि एक महावन होता है, या जैसे अनेक अवान्तर जलाशयों की समष्टि एक महान् जलाशय होता है। क्रमशः इन सबसे उपहित वैश्वानर से लेकर ईश्वरपर्यन्त चैतन्य भी अवान्तर वनों से

वनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव। आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति, विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति। एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते—

अतिप्राकृतस्तु— 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव पुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।

एतच्चोपासनार्थम्, विराड्हिरण्यगर्भयोर्जीवत्वेनेश्वराभेदायोगात्। जीवत्वञ्च 'भयात्' इत्यादि-श्रवणादित्युक्तम्। वास्तवाभेदाभिप्रायं वा एतदिति सम्प्रदायः।

इदानीमिति। सामान्यतोऽध्यारोपनिरूपणानन्तरमित्यर्थः। **इदमिदमिति**। वक्ष्यमाणं पुत्रत्वादीत्यर्थः। **अयमयमिति**। स स वादीत्यर्थः। **आत्मा वै पुत्रेति**। यद्यपि प्राकृतानां श्रुत्युपन्यासो न युक्तस्तत्प्रामाण्या-नङ्गीकारात्, तथापि सिद्धान्तिना तत्तत्प्रामाण्याङ्गीकारेण तं प्रति तदुपन्यासो युक्त इति भावः। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्।

अवच्छिन्न आकाश की तरह अवान्तर जलाशयों में दिखनेवाले आकाश के प्रतिबिम्ब की तरह एक ही होता है। इस महाप्रपञ्च और उससे उपहित चैतन्यों से तपाये हुए लोहे के पिण्ड के समान अविविक्त जो अनुपहित चैतन्य है, वही अनुपहित चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म है, इस वाक्य का वाच्य होता है। विविक्त रूप से तो वही चैतन्य लक्ष्य होता है। इस प्रकार वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है, इस बात को सामान्य रूप से प्रदर्शित किया गया।

ईश्वरचैतन्य में सामान्य रूप से महाप्रपञ्च के अध्यारोप की प्रक्रिया को विस्तार से बताने के बाद विशेष रूप से अध्यारोप का प्रकार बताना शुरु किया जा रहा है—

इस समय प्रत्यगात्मा में 'यह यह इसने इसने बताया है' इस प्रकार से क्या क्या विशेष रूप से आरोप किया जाता है, इसको कहा जा रहा है—

अति प्राकृत (अत्यन्त स्वभाववादी मनुष्य) तो —'आत्मा वै जायते पुत्रः' पुत्र अपनी आत्मा ही होता है, इस श्रुतिवाक्य का अनुसरण करते हुए अपनी तरह अपने पुत्र के प्रति भी प्रेम दिखायी देने के कारण, पुत्र के पुष्ट व नष्ट होने पर मैं ही पुष्ट व नष्ट हुआ, ऐसा अनुभव होने के कारण पुत्र ही आत्मा है— ऐसा कहता है।

यहाँ पर पुत्र के आत्मत्व का समर्थन करने के लिए श्रुति का उद्धरण देने का कोई औचित्य नहीं दिखायी देता है, क्योंकि अतिप्राकृत मनुष्य इस प्रकार की श्रुति उपलब्ध होने के कारण पुत्र को आत्मा मानते हों, ऐसा नहीं है। यहाँ तक कि अत्यन्त प्राकृत जन तो श्रुति का प्रामाण्य स्वीकार भी नहीं करते। परन्तु सिद्धान्ती श्रुति का प्रामाण्य स्वीकार करता है, तथा श्रुति समस्त ज्ञानमय है, इस कारण सिद्धान्ती के द्वारा उसका उपन्यास किया गया

चार्वाकस्तु— 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादिश्रुतेः, प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्, 'स्थूलोऽहम्' 'कृशोऽहम्' इत्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।

अतिप्राकृताद्विशेषमाह— **प्रदीप्तेति**। 'आत्मा वै पुत्रः' इत्यादिश्रुतिस्तु पुत्रस्य प्रियत्वमाहेत्यर्थः।

प्राणाः= इन्द्रियाणि। **ऊचुरिति**। तथा चेन्द्रियाणां चेतनत्वमाश्रयणीयम्, अन्यथा वचनासम्भव इति भावः। शरीराद्विशेषमाह— **इन्द्रियाणामिति**। उपजीव्यत्वादिन्द्रियाणामात्मत्वमिति भावः। 'स वा एषः' इत्यादि श्रुतिस्तु स्थूलदृष्ट्यभिप्राया, अन्यथोत्तरश्रुतिविरोध इत्यर्थः। स्थूलस्यात्मत्वे बाल्यचेष्टाः कौमारादौ न स्मरेदित्यादि द्रष्टव्यम्। 'स्थूलोऽहम्' इत्याद्यनुभवस्तु देहस्य तादात्म्याध्यासात्।

न च प्रामाणिकस्य कथमध्यास इति वाच्यम्? शरीरत्वादिना प्रामाणिकत्वेऽपि तादात्म्याभिनिविष्टमनुष्यत्वेनाध्यासात्[1]।

है। इसी उद्देश्य से आगे की श्रुतियाँ भी उद्धृत की गयी हैं।

चार्वाक तो— 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' यह वही पुरुष है जो कि अन्नरसमय है, इस प्रकार की श्रुति के अनुसार तथा आग से जलते हुए घर में पुत्र को छोड़कर भी लोगों का घर से बाहर निकल जाना दिखायी पड़ने के कारण तथा 'स्थूलोऽहम्' मैं मोटा हूँ, 'कृशोऽहम्' मैं दुबला हूँ, इत्यादि अनुभवों के भी रहने के कारण अन्न-रसमय स्थूलशरीर ही आत्मा है— ऐसा कहता है।

चार्वाक भी श्रुति के प्रामाण्य के आधार पर शरीर के आत्मत्व का निर्धारण नहीं करता। वह शरीर को आत्मा मानने के पीछे अनुभव का प्रामाण्य ही प्रदर्शित करता है। पुत्र की अपेक्षा आत्मा का प्रियतर होना तो सिद्ध ही है, क्योंकि आग से जलते हुए घर में पुत्र को छोड़कर भी व्यक्ति घर से बाहर निकल आता है। इस कारण शरीर को ही आत्मा मानना उचित है। *मैं मोटा हूँ*, इत्यादि अनुभव भी शरीर के आत्मत्व का ही समर्थन करते हैं।

पुत्र के आत्मत्व के समर्थन में भी श्रुति प्राप्त होती है, तथा शरीर के आत्मत्व का समर्थन करती हुई भी श्रुति प्राप्त होती है तो किस श्रुति को प्रमाण मानना तथा किस श्रुति को प्रमाण न मानना? दोनों में ही श्रुतित्व समान होने के कारण दोनों को ही प्रमाण मानना आवश्यक है। तो वस्तुतः पुत्र को आत्मा बतानेवाली श्रुति युक्ति, अनुभव तथा श्रुति से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण अभिधार्थ में प्रमाण नहीं हो सकती। फिर उसके द्वारा क्या कहा जा रहा है? तो उक्त श्रुति के द्वारा वस्तुतः पुत्र के आत्मवत् प्रियत्व को बताया जा रहा है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण लोक में भी प्राप्त होते हैं। जैसे बहुत बार लोग कहते हैं कि 'मेरी आत्मा भद्रसेन है'। इस प्रकार के कथन के आधार पर भद्रसेन का आत्मत्व नहीं सिद्ध होता किन्तु आत्मवत् प्रियत्व ही सिद्ध होता है। उसी प्रकार यह श्रुति भी पुत्र के आत्मवत् प्रियत्व को बता रही है।

१. 'शरीरं स्थूलम्' इति शरीरत्वेन शरीरस्य ज्ञान तु प्रामाणिकमेव, परन्तु यत् 'स्थूलोऽहम्' इत्येवंरूपमात्मनः शरीराभिन्नतया ज्ञानं भवति। तज्ज्ञानमाध्यासिकमेव भवति।

अपरश्चार्वाकः— 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' इत्यादिश्रुतेः, इन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्, 'काणोऽहम्' 'बधिरोऽहम्' इत्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः— 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादिश्रुतेः, प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगात्, 'अहमशनायावान्' 'अहं पिपासावान्' इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।

अन्योऽन्तर आत्मेति। अन्नमयादित्यर्थः। **प्राणाभाव** इति। मरणकाले इतिशेषः। तथा च उपजीव्यत्वात् प्राणस्यैव आत्मत्वम्। 'ते ह प्राणाः' इति श्रुतिस्त्विन्द्रियाधिष्ठातृदेवताभिप्राया। इन्द्रियाणामेवात्मत्वे 'पुरुषं प्राप्यास्तं यन्ति' इत्यादिश्रुतिविरोधः, 'यश्चक्षुषा रूपमद्राक्षं स एवाहं त्वगिन्द्रियेण स्पर्शमनुभवामि' इत्याद्यनुभवविरोधश्च स्यात्।

'बधिरोऽहम्' इत्याद्यनुभवस्तु बधिरत्वादिधर्माध्यासादिति केचित्। अन्ये तु— बधिरत्वादिनेन्द्रियाणां तादात्म्याध्यास इत्याहुः।

अशनाया अशितुमिच्छा। पातुमिच्छा पिपासा। एते च प्राणधर्मौ।

एक अन्य चार्वाक— 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' वे प्राण पिता प्रजापति के पास जा कर बोले, इत्यादि श्रुतियों के अनुसार, इन्द्रियों के न रहने पर चलना आदि न होने के कारण तथा 'काणोऽहम्' मैं काना हूँ, 'बधिरोऽहम्' मैं बहरा हूँ, इत्यादि अनुभवों के कारण इन्द्रियाँ हीं आत्मा है— ऐसा कहता है।

'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' इस श्रुति के द्वारा सीधे-सीधे इन्द्रियों का आत्मत्व नहीं प्रतिपादित किया गया है। परन्तु प्राण शब्द का अर्थ यहाँ पर इन्द्रिय है। इन्द्रियों के द्वारा प्रजापति से कुछ कहना विना इन्द्रियों को चेतन माने सम्भव नहीं है, इस कारण इन्द्रियों का चेतनत्व स्वीकरणीय होगा, इस प्रकार से इन्द्रियों के आत्मत्व की बात आती है। शरीर को आत्मा मानने की अपेक्षा इन्द्रियों को आत्मा मानना अधिक युक्तिसङ्गत है क्योंकि इन्द्रियाँ शरीर की उपजीव्य हैं। *'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'* यह श्रुति स्थूलदृष्टि से कही गयी है। स्थूलशरीर ही यदि आत्मा होता तो बचपन में देखी गयी चीजों का किशोरावस्था में स्मरण नहीं होना चाहिए था, क्योंकि बचपन का शरीर तो किशोरावस्था में रहा ही नहीं। प्रत्यक्ष से ही बचपन के शरीर तथा किशोरावस्था के शरीर का भेद जाना जा सकता है। परन्तु बचपन में जो देखा गया है, उसका स्मरण तो किशोरावस्था में होता है। इससे ज्ञात होता है कि शरीर आत्मा नहीं है। *मैं मोटा हूँ,* इत्यादि अनुभव तो आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य का भ्रम होने के कारण सम्भव होते हैं। परन्तु प्रामाणिक को किस प्रकार से भ्रम हो सकता है, भ्रम यदि प्रमाणसिद्ध है, तब तो वह भ्रम ही नहीं रहेगा। तो ऐसा नहीं है, शरीरत्वेन रूपेण जो ज्ञान हो रहा है, उस अंश में तो प्रामाण्य है, परन्तु आत्मा में शरीर के तादात्म्य का जो आग्रह इस प्रकार के ज्ञान में आ रहा है, उसी अंश में यह ज्ञान भ्रम है।

एक अन्य चार्वाक— 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' अन्य भीतरी आत्मा प्राणमय है, इस श्रुति के

अन्यस्तु चार्वाकः— 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यादिश्रुतेः, मनसि सुप्ते प्राणादेरभावात्, 'अहं सङ्कल्पवान्' 'अहं विकल्पवान्' इत्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।

अन्योऽन्तर आत्मेति। प्राणमयादित्यर्थः। **मनसीति।** मूर्च्छादाविति शेषः। प्राणप्रवृत्तेर्मनोऽधीनत्वाच्च। तदुक्तं विवरणे— 'मनोऽधीनतादर्शनात्प्राणप्रवृत्तेः' इति। अत उपजीव्यत्वान्मनस एवात्मत्वम्; न तु प्राणस्य, मनोऽधीनत्वानुपपत्तेः, चेतनस्य जडाधीनप्रवृत्त्यभावात्। किञ्च प्राणस्य आत्मत्वे तत्समानयोगक्षेमत्वेन अपानादेरात्मत्वप्रसङ्गः। तथा चानेकात्माधिष्ठितशरीरस्य युगपद्विरुद्धप्रवृत्तिप्रसङ्गेनोन्मथनं स्यात्। ततश्च प्राणस्य नात्मत्वम्। किन्त्वेकस्य मनस एव। 'प्राणमयः' इति श्रुतिस्तु 'अन्नमयः' इतिवद्व्याख्येया। 'अहमशनायावान्' इतिप्रत्ययस्तु 'बधिरोऽहम्' इतिप्रत्ययवन्नेयः।

अनुसार प्राण के न रहने पर इन्द्रियों में भी कोई चलनादि क्रिया सम्भव न होने के कारण तथा 'अहमशनायावान्' मैं भूखा हूँ, 'अहं पिपासावान्' मैं प्यासा हूँ, इत्यादि अनुभवों के बल से प्राण ही आत्मा है— ऐसा कहता है।

प्राण को आत्मा बतानेवाली श्रुति भी है। इन्द्रियात्मवादी चार्वाक का मत उठाते हुए श्रुति का जो उद्धरण प्रस्तुत किया था, वह उद्धरण प्राणशब्द से इन्द्रियों के आत्मत्व का समर्थन करनेवाला था। हालाँकि उक्त श्रुति में इन्द्रियों के द्वारा प्रजापति के समीप जाकर कुछ कहने के लिए कहा गया है, यह इन्द्रियों को आत्मा माने विना भी सङ्गत हो सकता है। उक्त श्रुति का तात्पर्य इन्द्रियों को आत्मा मानने में नहीं है। वस्तुतः तो उक्त श्रुति का अभिप्राय इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के द्वारा प्रजापति को प्राप्त कर कुछ कहने से है। यदि इन्द्रियाँ आत्मा होतीं तो *'पुरुषं प्राप्यास्तं यान्ति'* इस श्रुति में जो इन्द्रियों के द्वारा पुरुष को प्राप्त कर अस्त होने के बारे के बताया गया है, उससे विरोध होगा। इसी के साथ *'यश्चक्षुषा रूपमद्राक्षं स एवाहं त्वगिन्द्रियेण स्पर्शमनुभवामि'* जो मैंने चक्षु से रूप को देखा, वही मैं त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का अनुभव कर रहा हूँ, इत्यादि अनुभवों का विरोध होगा। इस अनुभव के द्वारा रूपद्रष्टा तथा स्पर्शकर्ता का अभेद बताया जा रहा है, चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय तो भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण द्रष्टा तथा स्पर्शकर्ता का अभेद विरुद्ध होगा। इस अनुभवविरोध के कारण इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता। *'बधिरोऽहम्' मैं बहरा हूँ,* इत्यादि अनुभव तो आत्मा में बधिरत्व रूप धर्म का आरोप करके भ्रम होने के कारण होता है, ऐसा भी कुछ लोग समाहित करते हैं। कुछ अन्य लोग बधिरत्वेन रूपेण इन्द्रियों का तादात्म्य अध्यास होता है, ऐसा कहते हैं।

भूख तथा प्यास आदि प्राण के धर्म हैं। मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ, इत्यादि प्रत्यय मैं पद के वाच्य को भूखा तथा प्यासा बता रहे होते हैं। इससे प्राण को आत्मा मानने के लिए आधार प्राप्त हो जाता है।

अन्य चार्वाक तो— 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' अन्य भीतरी मनोमय आत्मा है, इत्यादि श्रुति के अनुसार मन के सो जाने पर प्राण आदि का भी अभाव हो जाने के कारण 'अहं सङ्कल्पवान्' मैं सङ्कल्पवान् हूँ, 'अहं विकल्पवान्' मैं विकल्पवान् हूँ, इत्यादि अनुभवों के आधार पर मन ही आत्मा है— ऐसा कहता है।

प्राण की प्रवृत्ति मन के अधीन होती है, मूर्च्छा आदि में मन के सुप्त होने पर प्राण की प्रवृत्ति नहीं दिखती

बौद्धस्तु— 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इति श्रुतेः, कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावात्, 'अहं कर्ता' 'अहं भोक्ता' इत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।

अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयादित्यर्थः। **करणस्येति**। सुखादिज्ञानकरणत्वेन हि मनोऽनुमीयते। अतस्तत्करणम्। ततस्तदतिरिक्तः कर्ता वाच्यः, करणातिरिक्तस्य कर्तुः दर्शनात्। यश्च कर्ता स आत्मा, सा च बुद्धिरित्यर्थः।

है। इस कारण पता चलता है कि मन प्राण का उपजीव्य है। इस कारण प्राण की अपेक्षा मन को आत्मा मानने की बात युक्तिसङ्गत है। जड चेतन के अधीन होता है, चेतन जड के अधीन नहीं होता है। इस कारण मनोऽधीन प्राण को जड़ तथा मन को आत्मा मानना उचित है। इसके अतिरिक्त अनेक प्राणों को आत्मा मानने पर प्राण के समान ही योगक्षेम अपान आदि वायुवों का भी है, इस कारण अपानादि को भी आत्मा मानने की बात आ जायेगी। फिर तो अनेक आत्मा से अधिष्ठित शरीर में एक ही समय में भिन्न-भिन्न विरुद्ध प्रवृत्तियों का प्रसङ्ग होगा। इस कारण शरीर उन्मथित होकर विनष्ट हो जायेगा। इस कारण अनेक प्राणों को आत्मा नहीं माना जा सकता, किन्तु एक मन को ही आत्मा मानना उचित है।

बौद्ध तो— 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' शरीर से लेकर मनोमय तक से अन्य आत्मा विज्ञानमय है, इस श्रुति के अनुसार कर्ता के न रहने पर करण की भी शक्ति न होने के कारण तथा 'अहं कर्ता' मैं कर्ता हूँ, 'अहं भोक्ता' मैं भोक्ता हूँ, इत्यादि अनुभवों के आधार पर बुद्धि ही आत्मा है— ऐसा कहता है।

बौद्ध दार्शनिक भी श्रुति का प्रामाण्य नहीं मानते, उनके मत के समर्थन में भी श्रुति का प्रदर्शन वेद की सर्वज्ञानमयता को प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। कर्ता के न रहने पर करण में शक्ति नहीं होती, बढ़ई के न रहने पर कुठार आदि काष्ठ का छेदन करने में सफल नहीं होते। मन का अनुमान तो सुख आदि विषयक ज्ञानों के करण के रूप में किया गया है। करण तो कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए मन को कर्ता नहीं माना जा सकता। इस कारण शरीर मन आदि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करना चाहिए क्योंकि करण से अतिरिक्त कर्ता दिखायी देता है। जो कर्ता है, वही आत्मा है। ऐसा कर्ता तो बुद्धि ही है। उस मन आदि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करने में अनुभव का भी बल है, अनुभव होता है, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ। इस कारण मन आदि से अतिरिक्त बुद्धिरूप आत्मा को स्वीकार करना चाहिए।

यद्यपि यहाँ पर बौद्धमत का जिस रूप में उद्धरण दिया गया है वह विचारणीय है। बौद्ध दार्शनिक सङ्घातवादी हैं। रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना तथा विज्ञान के सङ्घात से अतिरिक्त आत्मा नहीं है, ऐसा बौद्ध दार्शनिकों का पक्ष है। यहाँ तक कि बौद्ध दार्शनिक यह भी नहीं कहते कि रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना तथा विज्ञान का सङ्घात ही आत्मा है, इसके स्थान पर वे यह कहते हैं कि इनसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है। इन पाँच चीज़ों के सङ्घात के लिए हम आत्मा शब्द का प्रयोग करते हैं। आत्मा नाम की कोई वस्तु है नहीं, केवल नाममात्र है। बस एक सङ्घात ही है, जिसके लिए हम आत्मा शब्द का प्रयोग अज्ञान से करते हैं। इस बौद्धसिद्धान्त के आलोक में बुद्धि को यानी क्षणिक

प्राभाकरतार्किकौ तु—'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इत्यादिश्रुतेः, बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनात्, 'अहमज्ञः' 'अहमज्ञानी' इत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।

प्राभाकरेति। यद्यपि गुरुभिस्तार्किकैर्वा आत्मा नानन्दरूपत्वेन स्वीक्रियते, तस्य सुखाश्रयत्वेन स्वीकारात्; नाप्यज्ञानरूपत्वेन स्वीक्रियते, ज्ञानाश्रयत्वेन स्वीकारात्, ज्ञानाश्रयस्य च अज्ञानत्वायोगात्, सिद्धान्ताभिमतस्याज्ञानस्य तैरनङ्गीकाराच्च। तथापि तैर्न चिद्रूप आत्मा स्वीक्रियते, किन्तु ज्ञानाश्रयो जडः, तस्यानादित्वं च स्वीक्रियते। एवम्भूतश्च वस्तुतो नात्मा, 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादिश्रुत्या तस्य चिद्रूपतया श्रवणात्। तस्मात् परस्यात्मत्वेनाभिमतो योऽनादिसिद्धो जडः पदार्थः, तद्वस्तुतोऽज्ञानमेव, तस्य जडत्वे सत्यनादित्वात्। अतः परेषामज्ञान एव आत्मत्वभ्रम इति भावः।

विज्ञान को आत्मा मानने का पक्ष बौद्धपक्ष है, ऐसा प्रथमदृष्ट्या सही नहीं दिखता। तथापि सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक इन चार बौद्ध सम्प्रदायों में सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक की चरमपरिणति योगाचार विज्ञानवाद के रूप में ही होती है। योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार केवल विज्ञान ही परमार्थसत् है। अन्य सब कुछ तो मिथ्या है। वह विज्ञान क्षणिक है। उस क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा भी कहा जा सकता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बौद्ध मत का समुपस्थापन इस रूप में किया गया है।

प्राभाकर यानी प्रभाकर मीमांसक के अनुयायी तथा तार्किक तर्क के अध्येता अर्थात् नैयायिक और वैशेषिक तो— 'अन्योऽन्तर आत्मा ऽऽनन्दमयः' उन सभी की अपेक्षा अन्तरङ्ग तथा अन्य आत्मा आनन्दमय है, इस श्रुति के अनुसार बुद्धि आदि का भी अज्ञान में लय दिखायी देने के कारण 'मैं अज्ञ हूँ' 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि अनुभवों के आधार पर अज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहते हैं।

क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने पर देखे हुए का बाद में स्मरण हो पाना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि अनुभविता तथा स्मर्ता का ऐक्य आवश्यक है, अन्य के द्वारा अनुभूत का स्मरण अन्य कोई नहीं करता। इस कारण क्षणिकविज्ञान रूप बुद्धि को आत्मा नहीं माना जा सकता। इसी युक्तिविरोध के कारण बौद्धमत के उपरान्त प्राभाकर व तार्किक मत को उपस्थित किया गया है। बुद्धि आदि का अज्ञान में लय बताने का तात्पर्य है कि सुषुप्ति आदि की अवस्था में आत्मा तो है, परन्तु कोई ज्ञान आदि नहीं है। इस कारण ज्ञान आदि का अज्ञानस्वरूप आत्मा में लय हो गया है, ऐसा पता चलता है।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि न तो प्राभाकर और न तो तार्किक आत्मा को आनन्दरूप मानते हैं, बल्कि वे आत्मा को सुख का आश्रय मानते हैं। सुख का आश्रय मानना तथा आनन्दमय मानना इन दोनों में अन्तर है। आत्मा यदि आनन्दस्वरूप हो तो उसको आनन्दमय कहा जा सकता है। परन्तु यदि आत्मा सुख का आश्रय है तो उसको आनन्दमय नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि प्राभाकर तथा तार्किक आत्मा को अज्ञानस्वरूप भी नहीं मानते किन्तु ज्ञानाश्रय मानते हैं; जो ज्ञान का आश्रय है वह अज्ञान तो नहीं हो सकता। अथ च वेदान्ती

भाट्टस्तु—'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' इत्यादिश्रुतेः, सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाश-सद्भावात्, 'मामहं न जानामि' इत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति।

अपरो बौद्धः— 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः, सुषुप्तौ सर्वाभावात्, 'अहं सुषुप्तौ नासम्' इत्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति।

बुद्धेरात्मत्वं दूषयति— **बुद्ध्यादीनामिति**। 'यदा वै पुरुषः स्वपिति' इत्यादिश्रुतिष्विति शेषः, 'अहमज्ञः' इत्यन्वाचयोक्तेः। **प्रज्ञानघनं** इति। ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः। भाट्टैर्ह्यात्मनो द्रव्यबोधात्मकत्वं स्वीक्रियते[1]। अतस्तेषामज्ञानोपहिते चैतन्ये एवात्मत्वभ्रम इति भावः।

द्रव्यबोधात्मकत्वे युक्तिमाह—**सुषुप्तावित्यादिना। अपर** इति। स्पष्टम्। श्रुतेश्च वस्तुतोऽनभिव्यक्तनामरूपात्मनावस्थाने तात्पर्यम्, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः, असतः सज्जननायोगाच्चेति ध्येयम्।

जिस अज्ञान को स्वीकार करते हैं, उस अज्ञान को तो प्राभाकर व तार्किक स्वीकार ही नहीं करते। इसी प्रकार प्राभाकर व तार्किक *'मैं अज्ञ हूँ' 'मैं अज्ञानी हूँ'* इत्यादि अनुभवों के आधार पर अज्ञान को आत्मा नहीं बताते हैं।

तथापि प्राभाकर तथा तार्किक आत्मा को चिद्रूप नहीं मानते, ज्ञानाश्रय व जड मानते हैं। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है, इस कारण स्वरूपतः आत्मा चेतन नहीं है। ऐसा आत्मा अनादि माना जाता है। परन्तु ऐसा आत्मा वस्तुतः स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त है, इस श्रुति के द्वारा आत्मा की चिद्रूपता का श्रवण प्राप्त है। इस कारण प्राभाकर व तार्किक के मत से आत्मा के रूप में स्वीकृत जो अनादिसिद्ध जड पदार्थ है, वह वस्तुतः अज्ञान ही है क्योंकि अज्ञान की परिभाषा ही यही है कि जो जड होते हुए अनादि हो। इससे पता चलता है कि वस्तुतः प्राभाकर व तार्किकों को अज्ञान में ही आत्मत्व का भ्रम है।

कुमारिल भट्ट का अनुयायी तो— 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' प्रज्ञानघन ही आनन्दमय है, इत्यादि श्रुतियों के अनुसार, सुषुप्ति में प्रकाश व अप्रकाश के सद्भाव से तथा 'मैं अपने आपको नहीं जानता हूँ' इस अनुभव के कारण अज्ञान से उपहित चैतन्य ही आत्मा है— ऐसा कहता है।

प्रज्ञानघन का तात्पर्य है ज्ञानस्वरूप। भाट्टमीमांसकों के मत में आत्मा द्रव्यबोधात्मक है। आत्मा के द्रव्यबोधात्मक होने में युक्ति है कि सुषुप्ति के काल में प्रकाश भी है तथा अप्रकाश भी है। इस कारण अज्ञान से उपहित ज्ञानस्वरूप आत्मा को स्वीकार करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भाट्टमीमांसकों को अज्ञान से उपहित चैतन्य में आत्मत्व का भ्रम है।

एक अन्य बौद्ध— 'असदेवेदमग्र आसीत्' यह सब कुछ पहले असत् ही था, इस श्रुति के अनुसार सुषुप्ति की अवस्था में समस्त वस्तुओं का अभाव हो जाने के कारण 'मैं सुषुप्ति के समय नहीं था' इस प्रकार से सुषुप्ति से उठने के बाद अपने अभाव के विषय में अनुभव होने के कारण शून्य ही आत्मा है— ऐसा कहता है।

१.न्यायभाट्टमतयोरयं विशेषो यत् नैयायिकाः आत्मनो मानसप्रत्यक्षविषयत्वं स्वीकुर्वन्ति किन्तु भाट्टाः नाङ्गीकुर्वन्ति।

श्रुति वस्तुतः असत् शब्द का प्रयोग करते हुए वस्तुमात्र की अभावरूपता नहीं बता रही है, किन्तु उसका तात्पर्य अनभिव्यक्त नामरूपात्मना अवस्थान को बतलाने में है। क्योंकि श्रुति केवल इतना नहीं कहती कि *'असदेवेदमग्र आसीत्'* यह सब कुछ पहले असत् ही था, किन्तु इसके साथ-साथ यह भी कहती है कि *'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'* हे सोम्य यह सब कुछ पहले भी सत् ही था। इस कारण ज्ञात होता है कि परस्पर विरुद्ध सत् व असत् का विधान श्रुति इस जगत् में नहीं कर रही है, किन्तु सत् शब्द के द्वारा अबाध्यतारूप सत्ता को तथा असत् शब्द के द्वारा अनभिव्यक्त नामरूपता को श्रुति बता रही है। जिस वस्तु का नाम व रूप अभिव्यक्त नहीं रहता है, उसको भी असत् कह दिया जाता है। यह ध्येय है कि माध्यमिक बौद्ध भी अपने मत का समर्थन करने में श्रुति का समर्थन नहीं प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त सब कुछ असत् है, ऐसा भी नहीं प्रतिपादित करता। इसके विपरीत वह वस्तुओं की शून्यता को प्रतिपादित करता है। शून्यता क्या है? तो शून्यता सत्, असत्, सदसत् तथा सदसदनिर्वचनीय इन चारों ही कोटियों से विनिर्मुक्त है। शून्य को न तो सत्, न तो असत्, न तो सदसत् और न तो सदसदनिर्वचनीय कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में शून्य को न तो भाव, न तो अभाव, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तथापि सत्ता का निषेध करने के कारण शून्य की भावरूपता तो नहीं हो सकती, इस कारण भावभिन्नता तो होगी ही। इसी आधार पर असत् का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का उद्धरण शून्यवाद के समर्थनार्थ प्रस्तुत है।

बौद्धों के चार सम्प्रदाय हैं—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इन चारों ही मतों में पार्थक्य यह है कि सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक इन दोनों मतों के अनुसार बाह्यार्थ की सत्ता भी स्वीकार की जाती है, तथा आन्तरिक अर्थ की सत्ता भी। परन्तु घट-पटादि सङ्घातात्मक बाह्यार्थ स्वीकार्य नहीं हैं। फिर भी धर्म तो अवश्य स्वीकार्य हैं। रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना तथा विज्ञान इन पाँचों ही धर्मों की सत्ता सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक के मत में स्वीकार्य है। रूप का तात्पर्य पृथिवी, जल, तेज तथा वायु से है। संस्कार का तात्पर्य स्मृति को उत्पन्न करनेवाले संस्कार से है। वेदना का तात्पर्य सुख-दुःखादिवेदन से है। संज्ञा का आशय किसी वस्तु के निश्चित ज्ञान से है। तथा विज्ञान से आशय किसी ज्ञान की अन्तर्निहित ज्ञप्ति से है।। परन्तु सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक में अन्तर सिर्फ़ इतना है कि वैभाषिक के मत में बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष से वेद्य होता है। वहीं सौत्रान्तिक के मत में बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष से वेद्य नहीं होता, अनुमान से वेद्य होता है। योगाचार के मत में बाह्य अर्थ की सत्ता स्वीकार ही नहीं की जाती, केवल आन्तर अर्थ ही हैं। चित्त तथा चैत्त ज्ञान तथा अवश्यवेद्य सुख-दुःखादि की सत्ता ही स्वीकार्य होती है। यहाँ तक कि किसी भी अर्थ की सत्ता ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है। माध्यमिक को शून्यवादी भी कहा जाता है शून्यवाद के अनुसार न बाह्य है और न तो आन्तर की ही सत्ता है। ज्ञान की सत्ता का भी निषेध माध्यमिक कर देते हैं। परमार्थतः शून्य ही स्वीकृत है।

विशिष्टाद्वैतवेदान्त के अनुसार प्रत्येक शरीर में भिन्न होनेवाला जीव स्वभावतः अणु, नित्य, स्वयम्प्रकाश, परमेश्वराधीन तथा चित्स्वरूप है। समान रूप से मध्वाचार्य के द्वैतसिद्धान्त के अनुसार भी जीव अणुस्वरूप ही है। मध्वमत में जीवों का त्रैविध्य मुक्तियोग्य, तमोयोग्य तथा संसारी के भेद से स्वीकार किया गया है। निम्बार्कमत में

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते— एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तर-श्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात् पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव।

किञ्च— 'प्रत्यक्' 'अस्थूलः' 'अचक्षुः' 'अप्राणः' 'अमनाः' 'अकर्ता'

विशेषाध्यारोपं प्रदर्श्य तस्यारोपत्वं दर्शयति— **एतेषामिति**।

उत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैः पूर्वश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधनात्पुत्रादीनामनात्मत्वमित्युक्त्वा प्रकारान्तरेण पुत्रादीनामनात्मत्वमाह— **किञ्चेति**। प्रत्यक्पदेन पुत्रस्यानात्मत्वमुच्यते, तस्य पराक्त्वात्।

भी जीव ईश्वर का अंशभूत, अणु, नित्य, परमेश्वराधीन तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न, ज्ञानाश्रय तथा ज्ञानस्वरूप है। शुद्धाद्वैतमत में जीव ईश्वर का अंशभूत, अणु, नित्य, परमेश्वराधीन, प्रत्येकशरीर में भिन्न-भिन्न, ज्ञानाश्रय तथा ज्ञानस्वरूप है। सुषुप्ति में ज्ञान न होने पर भी अपनी आनन्दमयता का भान होने से ही ज्ञानस्वरूपता है।

विशेषतः अध्यारोप का प्रदर्शन करने के उपरान्त उन आरोपों के आरोपत्व को बता रहे हैं—

इन पुत्रादि का अनात्मत्व कहा जा रहा है— इन अतिप्राकृत (अत्यन्त मूर्ख) वादियों के द्वारा उक्त श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभासों में पूर्व-पूर्व में उक्त श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभासों का उत्तर-उत्तर में उक्त श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभासों के द्वारा आत्मत्व का बाध दिखायी देने के कारण पुत्रादि का अनात्मत्व स्पष्ट है।

यद्यपि अत्यन्त मूढ मनुष्य के द्वारा जिस प्रकार का आत्माभिमान किया जाता है कि पुत्र ही आत्मा है, उस प्रकार के आत्माभिमान के लिए भी किसी न किसी श्रुति का आधार उपलब्ध है ही। इसी प्रकार अन्तिम में जो आत्माभिमान बताया गया कि शून्य ही आत्मा है, उसके लिए भी श्रुति उपलब्ध है। इसी प्रकार अतिप्राकृत मनुष्य के द्वारा स्वीकृत मत के समर्थनार्थ तथा शून्यवाद के समर्थनार्थ भी युक्ति तथा अनुभव का बल उपलब्ध है। इन परस्पर विरुद्ध मतों के रहने पर किस मत को सही माना जाये तथा किसको ग़लत माना जाये? यह प्रश्न है। तो इन समस्त मतों के समर्थनार्थ श्रुति, युक्ति तथा अनुभव का बल समान रूप से उपलब्ध रहने पर भी पूर्व-पूर्व में प्रदर्शित श्रुति, युक्ति तथा अनुभव का उत्तर-उत्तर में प्रदर्शित श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के द्वारा बाध कर दिया जाता है। पूर्व-पूर्व श्रुति के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है, उत्तर-उत्तर श्रुति के द्वारा उसके विपरीत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उस-उस पूर्व मत का निषेध कर दिया जा रहा है। यही बात युक्तियों तथा अनुभवों के साथ भी है। इस कारण यह मानना ही उचित दिखता है कि पुत्रादि का आत्मत्व जिन श्रुति, युक्ति तथा अनुभवों के आधार पर प्रतिपादित किया जा रहा है, उत्तर-उत्तर श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के द्वारा उनका बाध हो जाने के कारण पुत्रादि का अनात्मत्व ही स्वीकार करना चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुत्रादि आत्मा नहीं हैं।

तो फिर आत्मप्रत्यय का विषय क्या है?

इसके अतिरिक्त भी— 'प्रत्यक्' आत्मा प्रत्यक् है, आन्तर है बाह्य नहीं है, 'अस्थूलः' आत्मा स्थूल नहीं है,

'चैतन्यम्' 'चिन्मात्रम्' 'सत्' इत्यादिप्रबलश्रुतिविरोधात्, अस्य पुत्रादि-शून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वात्, 'अहं ब्रह्म' इत्यादिविद्वदनुभवप्राबल्याच्च[1] तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः।

अकर्तृपदेन च बुद्धेः, आत्मचैतन्यपदेन जडस्याज्ञानस्य। चिन्मात्रमिति द्रव्यबोधकात्मकस्यानात्मत्वमुच्यते। प्रत्यगस्थूलाद्यात्मना ह्यात्मा श्रुत्योच्यते। पुत्रादीनामात्मत्वे तद्विरुद्धमित्यर्थः। **प्रबलेति**। उपक्रमोपसंहारादिना प्राबल्यनिश्चयादित्यर्थः। **अस्येति**। तथा च 'विमतं नात्मा चिद्भास्यत्वाद् घटवत्' इत्यनुमानमुक्तं भवति। पुत्रादीनामात्मत्वे प्रत्यवायमप्याह— **अहमिति**। **अत** इति। तथा च तत्तद्वाचिनां पुत्राद्यात्म-त्वोक्तिरारोपमात्रमित्यर्थः। **शुद्ध**पदेन संसारराहित्यमुच्यते। तच्च संसारराहित्यं न मुक्तिदशायामेव, किन्तु सर्वदेत्याह— **मुक्तेति**। 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इति श्रुतेरित्यर्थः। बुद्धिपदेन स्वप्रकाशत्वमुच्यते। दीपसाधारण्यं निराकरोति— **चैतन्यमिति**।

'अचक्षुः' आत्मा चक्षु नहीं है तथा चक्षुष्मान् नहीं है, 'अप्राणः' आत्मा प्राण नहीं है तथा प्राणवान् नहीं है, 'अमनाः' आत्मा मन नहीं है तथा मनोयुक्त नहीं है, 'अकर्ता' आत्मा कर्ता नहीं है, 'चैतन्यम्' आत्मा चैतन्य है, जड नहीं है, 'चिन्मात्रम्' आत्मा चिन्मात्र है, 'सत्' आत्मा सत् है, इत्यादि प्रबल श्रुतियों से विरोध होने के कारण इस पुत्रादि शून्य पर्यन्त (पुत्र से लेकर शून्य तक) जड के चैतन्यभास्य होने के कारण, घटादि की तरह अनित्य होने के कारण, 'अहं ब्रह्म' इस विद्वदनुभव के प्रबल होने के कारण उन-उन श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभासों के बाधित होने के कारण भी पुत्रादि से लेकर शून्यपर्यन्त सभी अनात्मा ही है। इस कारण उन पुत्रादि शून्यपर्यन्त अनात्मा का भासक जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य है, वही आत्मवस्तु है, ऐसा वेदान्तवेत्ताओं का अनुभव है।

पुत्र आदि से लेकर शून्य पर्यन्त को आत्मा नहीं माना जा सकता, इसमें प्रमुख कारण यह भी है कि ये सभी मत प्रबल श्रुतियों से विरुद्ध हैं। श्रुति आत्मा को प्रत्यक् बताती है, इस कारण पुत्र जो पराक् है, अतिप्राकृत मत पुत्रके आत्मत्व का निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को अस्थूल बताती है, इस कारण शरीरादि जो स्थूल हैं, उनके आत्मत्व का— शरीरात्मवादी चार्वाकमतविशेष का— निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को अचक्षु बताती है, अचक्षु बताने का तात्पर्य केवल चक्षु से भिन्न बताने से नहीं है, किन्तु समस्त इन्द्रियों से भिन्न बताने से है। इस कारण इन्द्रियों के आत्मत्व का — इन्द्रियात्मवादी चार्वाकमतविशेष का— निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को अप्राण— प्राण से भिन्न— बताती है, इस कारण प्राण के आत्मत्व का — प्राणात्मवादी चार्वाकमतविशेष का— निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को अमनाः बताती है, इस कारण मनके आत्मत्व का — मन आत्मवादी चार्वाकमतविशेष का— निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को अकर्ता बताती है, इस

१. विद्वदनुभवस्य प्राबल्यञ्च श्रुत्यादिभिः प्रमाणैः सम्पुष्टत्वमेव।

कारण कर्ता के रूप में स्वीकार्य जो बुद्धि है, उसके आत्मत्व का — बुद्ध्यात्मवादी बौद्धमतविशेष का— निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को चैतन्य बताती है, इस कारण जड अज्ञान के आत्मत्व का — अज्ञानात्मवादी प्राभाकर व तार्किकमत का— निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को चिन्मात्र बताती है, इस कारण जड अज्ञानोपहित चैतन्य के आत्मत्व का — अज्ञानोपहित चैतन्यात्मवादी भाट्टमत का— निराकरण हो जाता है। श्रुति आत्मा को सत् बताती है, इस कारण शून्य के आत्मत्व का — शून्यवादी बौद्धमतविशेष का— निराकरण हो जाता है। ये सारे ही मत प्रबल श्रुतियों से विरुद्ध हैं, इसी कारण त्याज्य हैं।

श्रुतियों का प्राबल्य यही है कि इन श्रुतियों की प्रबलता का निश्चय उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल,अर्थवाद तथा उपपत्ति से निर्धारित किया जाता है। यदि किसी अर्थ के प्रतिपादित होने का उपक्रम तथा उपसंहार की एकता के द्वारा निर्धारण होता है, अभ्यास (बार-बार आवृत्ति) के द्वारा किसी अर्थ में श्रुति का तात्पर्य निर्धारित होता है। इसी प्रकार अपूर्वता आदि के द्वारा भी समर्थित होता है, तो उस अर्थ को प्रतिपादित करनेवाली श्रुति का प्राबल्य है, यह मानना पड़ेगा। यदि किसी आकस्मिक श्रुति का तात्पर्य उपक्रमोपसंहार की एकता, अभ्यास, अपूर्वता आदि के द्वारा निर्धारित अर्थ से विरुद्ध है, तो यही मानना उचित होगा कि आकस्मिक श्रुति का वह तात्पर्य नहीं हो सकता जो कि आपाततः प्रतीत हो रहा है क्योंकि वह उपक्रमोपसंहार आदि के द्वारा किसी अन्य श्रुति का जो अर्थ निर्धारित हुआ है, उससे विरुद्ध है।

दूसरी बात यह भी कही जा रही है कि पुत्रादि शून्य तक सभी जड हैं, क्योंकि चिद्भास्य हैं, इसी कारण घटादि की तरह अनित्य हैं। आत्मा तो जड नहीं हो सकता। यहाँ पर इस कथन के द्वारा इस अनुमान की ओर सङ्केत किया जा रहा है कि 'विमतं नात्मा चिद्भास्यत्वात्, घटवत्' सन्देह के विषय पुत्रादि आत्मा नहीं है क्योंकि वे सभी चिद्भास्य हैं। जो चिद्भास्य है वह आत्मा नहीं हो सकता, वह जड ही होगा। आत्मा के जड होने पर जगत् के आन्ध्य का प्रसङ्ग बहुधा उपस्थापित किया जाता है। यदि आत्मा जड है तो कोई भी वस्तु प्रकाशित नहीं हो सकेगी।

तीसरी बात यह कही जा रही है कि 'अहं ब्रह्म' ऐसा विद्वज्जनों का अनुभव है, इस अनुभव की प्रबलता के आधार पर भी ब्रह्म के ही आत्मत्व का निर्धारण होता है। प्रश्न यह भी है कि 'अहं ब्रह्म' विद्वज्जनों के इस अनुभव की प्रबलता का आधार क्या है? इस विद्वदनुभव को आपामरसाधारण लोकानुभव की अपेक्षा प्रबल क्यों माना जाये? तो इस विद्वदनुभव को प्रबल मानने का कारण यह है कि आपामरसाधारण लोकानुभव असमीक्षित होता है, लोगों का स्वभाव विचित्र होता है। लोग तो आँख के अन्धे को भी नयनसुख नाम से बुलाते हैं। इस कारण लोकानुभव तो अनेक अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है। ऊपर विवेचित अनेक अनुभव बताये गये, कुछ चार्वाकमत के समर्थन में, कुछ न्यायमत के, कुछ बौद्धमत के तथा इसी प्रकार अन्य मतों के भी समर्थन में कोई न कोई अनुभव तो है ही। फिर किस अनुभव को प्रबल मानना किसको नहीं, इसमें यही निर्धारण उचित दिखता है कि जो समीक्षित अनुभव हो, उसको ही प्रबल माना जाये। जो असमीक्षित अनुभव हैं, या समीक्षण करने पर ग़लत सिद्ध होते हैं।

उनको प्रबल नहीं माना जा सकता। तो जितने भी अनुभव अन्यान्य पक्षों के समर्थन में उपस्थित हुए हैं, वे सभी अनुभव अन्य युक्तियों के द्वारा, श्रुतिवाक्यों के द्वारा, अन्य विपरीत अनुभवों के द्वारा निराकृत कर दिये जाते हैं। परन्तु 'अहं ब्रह्म' मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जो विद्वज्जनों का अनुभव है, वह निराकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि समस्त धर्मों का निषेध कर देने पर भी निर्धर्मक धर्मी सन्मात्र तो निषिद्ध नहीं हो सकता। इसी कारण अनेक स्थलों पर कहा जाता है कि जो निराकर्ता है वही तो उसका स्वरूप है। सभी का निराकरण कर देने पर भी निराकर्ता तो शेष रहेगा ही, अनिराकृत ही रहेगा। इस प्रकार विद्वदनुभव का विरोध करनेवाली न तो काई श्रुति है, न तो कोई युक्ति है, तथा न तो कोई अनुभव है। इसके अतिरिक्त इस विद्वदनुभव के समर्थन में कई युक्तियाँ, अनुमान तथा श्रुतियाँ हैं। इसी कारण इस विद्वदनुभव को प्रबल बताया जा रहा है।

एक अन्य बात यह भी है कि पुत्रादि के आत्मत्व की प्रतिपादिका जो श्रुतियाँ, युक्तियाँ तथा अनुभव हैं, वे सभी बाधित हैं। इनके बाधित होने के कारण भी पुत्रादि से लेकर शून्य पर्यन्त सभी का अनात्मत्व निर्धारित होता है। इस कारण पुत्र, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान आदि सभी का अवभासक जो नित्य— न तो उत्पन्न होनेवाला और न ही नष्ट होनेवाला, शुद्ध— संसार से रहित, बुद्ध— स्वयंप्रकाश, मुक्त— सर्वदा ही किसी भी बन्धन से रहित तथा सत्यस्वभाव — तीनों ही कालों में न बाधित होना जिसका स्वभाव है, प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्म है, वही आत्मवस्तु है, ऐसा वेदान्तवेत्ताओं का अनुभव है। ब्रह्म के संसार से रहित होने का तात्पर्य यह है कि संसार ब्रह्म में कभी भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि केवल मुक्ति की अवस्था में ही संसार न हो किन्तु कभी भी ब्रह्म में संसार नहीं ही है। श्रुति स्वयं बताती है कि 'विमुक्तश्च विमुच्यते' जो सदा सर्वदा से मुक्त था, वही मुक्ति को प्राप्त करता है। ऐसा नहीं कि कभी बन्धन में था, बाद में मुक्त होता है। ऐसा विद्वानों का अनुभव कभी बाधित नहीं होता तथा श्रुति आदि से परिपुष्ट होने के कारण प्रबल है।

इससे यह भी पता चलता है कि पुत्रादि को आत्मा माननेवालों के द्वारा पुत्रादि को आत्मा बताना वस्तुतः आरोपमात्र है। वस्तुतः पुत्र आदि आत्मा नहीं हैं।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि जब एक श्रुति पुत्र को आत्मा बताती है, एक दूसरी श्रुति शरीर को आत्मा बताती है, इसी प्रकार अन्यान्य श्रुतियाँ भी क्रमशः प्राण को, इन्द्रिय को, मन को, बुद्धि को, अज्ञान को आत्मा बतानेवाली प्राप्त होती हैं। शुद्ध चैतन्य को आत्मा बतानेवाली श्रुतियाँ भी प्राप्त होती हैं। इन समस्त श्रुतियों का एक साथ प्रामाण्य तो नहीं माना जा सकता क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध हैं। यह भी उचित नहीं दिखायी देता है कि एक श्रुति का प्रामाण्य माना जाये तथा द्वितीय श्रुति का प्रामाण्य न माना जाये। वेदवाक्यों का यदि प्रामाण्य मानते हो तो समस्त वेदवाक्यों का प्रामाण्य मानना ही उचित है। परन्तु विरुद्धार्थप्रतिपादक होने के कारण किस प्रकार से समस्त वेदवाक्यों का प्रामाण्य माना जाये? यदि किसी एक का ही प्रामाण्य मानना है, तो क्यों न पुत्रादि के आत्मत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का ही प्रामाण्य मान लिया जाये, तथा आत्मा के अस्थूलता आदि का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का अप्रामाण्य न मान लिया जाये?

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्—

तो सिद्धान्ततः समस्त श्रुतियों का ही प्रामाण्य मानना है। पुत्रादि के आत्मत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का प्रामाण्य भी सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं। पुत्रादि के आत्मत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का भी प्रामाण्य तो है ही। परन्तु आत्मा की अस्थूलता आदि का प्रतिपादन करनेवाली जिन श्रुतियों का तात्पर्य उपक्रमोपसंहार आदि तात्पर्यनिर्णायकों के द्वारा निर्धारित कर दिया गया है, उन प्रबल श्रुतियों के द्वारा विरोध होने के कारण, अनेक स्मृतियों का विरोध भी होने के कारण तथा अनेक न्यायों से विरोध होने के कारण यही निर्धारित करना पड़ता है कि इन पुत्रादि के आत्मत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का तात्पर्य वस्तुतःपुत्रादि के आत्मत्व का प्रतिपादन करने में नहीं है, ऐसा निश्चित होता है। परस्पर विरुद्ध वस्तुओं के आत्मत्व का प्रतिपादन करने में श्रुति का तात्पर्य क्या है? यह सोचना चाहिए। तो ध्रुव-अरुन्धती न्याय से श्रुति आत्मतत्त्व का प्रतिपादन कर रही है। विवाह के समय में वर-वधू को ध्रुव तथा अरुन्धती का दर्शन कराने का विधान प्राप्त होता है। अरुन्धती एक बहुत छोटा तारा है, इस कारण अरुन्धती को सीधे-सीधे दिखा पाना सम्भव नहीं है। इस कारण पहले अरुन्धती को दिखाते हुए कहा जाता है कि अरुन्धती चन्द्रज्योतिरूपा है। फिर कहा जाता है कि अरुन्धती चन्द्र से भिन्न तारा है। फिर किसी तारे को दिखाते हुए कहा जाता है कि यह तारा अरुन्धती नहीं है, वे जो सात तारे हैं वह अरुन्धती है। फिर उन सात तारों में से चार तारों को दिखाते हुए कहा जाता है कि ये चार तारे अरुन्धती नहीं हैं, अपितु ये जो तीन तारे बच रहे हैं वे अरुन्धती हैं। फिर कहा जाता है कि उन तीन तारों में जो सूक्ष्म तारा है, वह अरुन्धती है। इस क्रम से अरुन्धतीतारा की पहचान करायी जाती है। यहाँ पर परस्पर विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने के कारण इन वाक्यों का अप्रामाण्य नहीं स्वीकार किया ज़ा सकता, अपितु प्रतिपत्ता की बुद्धि के अनुसार प्रतिपादन व निषेध करते हुए पूर्व-पूर्व के निराकरण के द्वारा अरुन्धती का परिचय कराने में वक्ता का तात्पर्य है। उसी प्रकार अतिप्राकृत जन को सीधे-सीधे शुद्ध,चिन्मात्र, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म का परिचय नहीं कराया जा सकता, इस कारण पहले अन्नमय, फिर प्राणमय, फिर मनोमय, फिर विज्ञानमय, फिर आनन्दमय के आत्मत्वरूप परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करती हुई भगवती श्रुति वस्तुतः प्रतिपत्ता की बुद्धि के अनुसार सोपान-क्रम से पूर्व-पूर्व के आत्मत्व का प्रतिपादन तथा तदुपरान्त निराकरण करती हुई अन्त में शुद्ध,बुद्ध, मुक्त, चैतन्य मात्र परमसूक्ष्म पुच्छ ब्रह्म (अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म) के आत्मत्व का प्रतिपादन करने के उपरान्त फिर से उसके आत्मत्व का निषेध नहीं करती। इस कारण वस्तुतः समस्त वेदान्तवाक्यों का साक्षात् या परम्परया अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। इसलिए पुत्रादि के आत्मत्व प्रतिपादन का ब्रह्म के आत्मत्वप्रतिपादन के साथ वस्तुतः कोई विरोध नहीं है।

अध्यारोपापवादन्याय से ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाना है, ऐसा बताया था। अभी तक अध्यारोप क्या है, यह बताया। अभी ग्रन्थकार अपवाद का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

रज्जुविवर्त सर्प के रज्जुमात्र ही होने की तरह वस्तुविवर्त अवस्तुभूत अज्ञानादि-प्रपञ्च का वस्तुमात्र ही

"सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥" इति।

तथाहि—तद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातम्, भोग्यरूपान्नपानादिकम्, एतदायतनभूतभूरादिचतुर्दश भुवनानि, एतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत् सर्वमेतेषां कारणरूपपञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि, सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतानि उत्पत्तिव्युत्क्रमेणैतत्कारण-

इदानीमपवादं निरूपयति— **अपवादो नामेति**। सङ्गतिश्च हेतुहेतुमद्भावलक्षणा बोध्या। अवस्तुभूतस्य वस्त्वात्मनोपदेशोऽपवाद इत्यर्थः। **एतत्सर्वमिति**। यथा घटो मृत्स्वरूपस्तत्कार्यत्वात्, तथैतदित्यर्थः। **व्युत्क्रमेणेति**। पृथिवी जलमात्रम्, जलं तेजोमात्रम्, तेजो वायुमात्रम्, वायुराकाशमात्रमित्यर्थः। तदुक्तम्—

'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' इति।
'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥
वायुर्व्योम्नि.........' इति च।

अज्ञानोपहितेति। अज्ञानविषयतोपहितचैतन्यमात्रमित्यर्थः। **एतदाधारभूतेति**। एतदधिष्ठानभूतेत्यर्थः।

होना अपवाद है। जैसा कि कहा गया है—

तात्त्विक रूप से होनेवाला जो अन्यथा प्रसिद्ध होनेवाला रूप है, उसको विकार कहा जाता है तथा अतात्त्विक रूप से वस्तु का जो अन्यथा प्रसिद्ध होनेवाला रूप है, उसको विवर्त कहा जाता है।

तो यह भोग का आयतनभूत चतुर्विध (जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज के भेद से चार प्रकार के) समस्त स्थूल शरीर, भोग्यरूप अन्न-पान आदि, इस भोगायतन शरीर तथा भोगों के आयतनभूत भूर्लोक आदि चतुर्दश भुवन, इन चतुर्दश भुवनों का आयतनभूत ब्रह्माण्ड, यह सब कुछ इनके कारण पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं है, पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतमात्र ही है। ये शब्दादि विषयों के सहित पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत तथा सूक्ष्मशरीर ये सब कुछ ही इनके कारण अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतमात्र ही हैं। सत्त्वादिगुणों से सहित ये अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत भी अपनी उत्पत्ति के उलटे क्रम से — जिस क्रम से उत्पत्ति बतायी गयी थी उसके विपरीत क्रम से— इन सत्त्वादिगुणों से सहित अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्यमात्र ही हैं। यह अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य ईश्वरादि इनके आधारभूत— अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य ईश्वरादि के अधिष्ठानभूत— अनुपहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्ममात्र ही होते हैं। यही है अपवाद।

जब तक अध्यारोप का प्रतिपादन न कर लिया जाये, तब तक अपवाद समझ में नहीं आ सकता। इस कारण अध्यारोप के उपरान्त अपवाद का निरूपण करने में हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है। इस प्रकार सारांश रूप में कहा

भूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवन्ति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिक-मेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।

जा सकता है कि जो अवस्तुभूत है, उसका वस्तु के रूप में उपदेश कर देना ही अपवाद है। जिस प्रकार घट मिट्टी से अलग नहीं होता, मिट्टी ही है। उसी प्रकार जिस क्रम से उत्पत्ति बतायी गयी थी, उसके विपरीत क्रम से कार्य को कारण के रूप में ही समझना, कार्य की सत्ता को कारण की सत्ता से अतिरिक्त नहीं मानना ही अपवाद है। 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' (ब्रह्मसूत्र २/३/१४) इस सूत्र के द्वारा भी यही बताया गया है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवत्पाद आचार्य शङ्कर कहते हैं कि लोक में देखा जाता है कि व्यक्ति जिस क्रम से सीढ़ी पर चढ़ता है, उसके विपरीतक्रम से ही उससे उतरता है। इसी प्रकार यहाँ पर भी होना चाहिए। जिस क्रम से जिससे जिसकी उत्पत्ति बतायी गयी है, उसके विपरीत क्रम से ही उसका लय होना चाहिए। आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति बतायी गयी है, सो इसके विपरीत क्रम से पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में तथा वायु का आकाश में लय होना ही उचित है। इसी अभिप्राय से महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि *'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते।।'* (महाभारत शान्तिपर्व ३३९/२९) पृथिवी वस्तुतः जल ही है, जल वस्तुतः अग्नि ही है, अग्नि वस्तुतः वायु ही है, वायु वस्तुतः आकाश ही है, इस क्रम से कार्यों को उनके कारणों से अतिरिक्त न मानना ही अपवाद है। रस्सी में दिखायी पड़नेवाला सर्प रस्सी से अतिरिक्त नहीं है। उस रस्सी में भासमान सर्प की सत्ता रस्सी की सत्ता से अतिरिक्त नहीं है। इसी कारण कहा जाता है कि अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता भ्रमविषय की नहीं होती। ठीक उसी प्रकार स्थूलशरीरादि समस्त प्रपञ्च की सत्ता उनके प्रति कारणीभूत (अधिष्ठानभूत) पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं है क्योंकि स्थूलशरीरादि समस्त प्रपञ्च पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों में अध्यस्त हैं। शब्दादि विषयों से सहित पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों की तथा सूक्ष्मशरीरों की सत्ता अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं है क्योंकि शब्दादि विषयों से सहित पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के प्रति तथा सूक्ष्मशरीरों के प्रति अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कारण (अधिष्ठान) हुआ करते हैं, अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों में ही ये अध्यस्त हैं। सत्त्वादिगुणों के साथ-साथ अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों की सत्ता उनके अधिष्ठानभूत अज्ञानोपहित चैतन्य या अज्ञानविषयता से उपहित चैतन्य से अतिरिक्त नहीं है। इसी प्रकार अज्ञान तथा अज्ञानोपहित चैतन्य की सत्ता उसके अधिष्ठानभूत अनुपहित चैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त नहीं है क्योंकि अज्ञान तथा अज्ञानोपहित चैतन्य अनुपहित चैतन्य में अध्यस्त हैं। अध्यारोप की प्रक्रिया में जिसकी कारणता जिसके प्रति बतायी गयी है, उस कार्य-कारणभाव का तात्पर्य उन-उन कार्यों की उन-उन कारणों से वास्तविक उत्पत्ति बताने में नहीं है, अपितु उसका तात्पर्य अतात्त्विक अन्यथाभाव से है। यही अपवाद का तात्पर्य है।

यहाँ पर बालबोधिनी व्याख्या के लेखक पूर्व (पृ.१००) की तरह अज्ञान से उपहित चैतन्य को ईश्वर नहीं मानते अपितु अज्ञानविषयता से उपहित चैतन्य को ही ईश्वर मानते हैं।

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वंपदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि— अज्ञानादिसमष्टिः, तदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यम्, एतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधार-भूतमुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिः, एतदुपहितमल्पज्ञ-त्वादिविशिष्टं चैतन्यम्, एतदनुपहितं चैतत् त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं

अध्यारोपापवादनिरूपणप्रयोजनमाह—**आभ्यामिति**। **अज्ञानादिसमष्टिरिति**। अज्ञानमादिर्निरूपकं यस्याः सा समष्टिर्विषयतेत्यर्थः।

यत्तु—आदिशब्देन लिङ्गशरीरसमष्टिरुच्यते— इति; तन्न, तदुपहितस्य हिरण्यगर्भस्य जीवत्वात् त्वम्पदवाच्यत्वेन तत्पदवाच्यत्वाभावात्।

सर्वज्ञत्वादीति। अत्र 'आदि'शब्देन सर्वनियन्तृत्वाद्युच्यते। **चैतन्यमिति**। ईश्वरचैतन्यमित्यर्थः, तस्य तत्पदवाच्यत्वात्। **अज्ञानादिव्यष्टिरिति**। अत्र 'आदि'शब्देन व्यावहारिकजीवोपाधिलिङ्गशरीरमुच्यते, तदुपहितस्यापि त्वम्पदवाच्यत्वात्।

अनुपहित चैतन्य अज्ञान तथा अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर का आधार नहीं है किन्तु अधिष्ठान है। अधिष्ठान के अर्थ में आधार शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी वस्तु को किसी का आधार होने की बात वहाँ पर की जाती है, जहाँ पर कि आधेय का अस्तित्व भी आधार के अस्तित्व के समान होता हो। परन्तु यहाँ पर जिस प्रकार का अस्तित्व ब्रह्म का है, वैसा अस्तित्व अज्ञान तथा अज्ञानोपहित चैतन्य का नहीं है। अज्ञान तथा अज्ञानोपहित चैतन्य दोनों की ही सत्ता व्यावहारिक है, परन्तु ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है। इस कारण अनुपहितचैतन्य ब्रह्म अज्ञान तथा अज्ञानोपहित चैतन्य का आधार नहीं हो सकता, अधिष्ठान ही हो सकता है। इसलिए उसी रूप में ग्रन्थ की सङ्गति लगानी चाहिए।

परन्तु इस अध्यारोप तथा अपवाद का प्रतिपादन करने का उद्देश्य क्या है? ग्रन्थकार इसे बताना प्रारम्भ कर रहे हैं—

इन दोनों —अध्यारोप तथा अपवाद— के द्वारा तत् तथा त्वं पदार्थ का शोधन भी सिद्ध होता है। वह इस प्रकार होता है— अज्ञानादि समष्टि, अज्ञानादिसमष्टि से उपहित सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य, इस अज्ञानादिसमष्टि से अनुपहित चैतन्य ये तीनों ही तपाये हुए लौहपिण्ड के समान एकत्वेन अवभासमान तत् पद का वाच्यार्थ होता है। इस उपाधि से अनुपहित आधारभूत (अधिष्ठानभूत) चैतन्य तत्पद का लक्ष्यार्थ होता है। इसी प्रकार अज्ञानादि की व्यष्टि, उस अज्ञानादिव्यष्टि से उपहित अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य, इस अज्ञानादिव्यष्टि से अनुपहित चैतन्य ये तीनों ही तपाये हुए लौहपिण्ड के समान एकत्वेन अवभासमान त्वम् पद का वाच्यार्थ होता है। इस उपाधि से अनुपहित आधारभूत (अधिष्ठानभूत) प्रत्यगानन्दरूप तुरीय, अनुपहित चैतन्य त्वम्पद का लक्ष्यार्थ होता है।

अध्यारोप तथा अपवाद के माध्यम से जब यह बता दिया जाता है कि ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, उससे

त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दरूपं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।

अतिरिक्त जो कुछ भी भासमान है वह सब कुछ उस ब्रह्म में अध्यस्त है। तो उस अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इस वाक्य के घटक तत् पद तथा त्वम् पद का क्या अर्थ है इसका शोधन भी हो जाता है। तत् तथा त्वम् पद के अर्थ का शोधन करना इस कारण आवश्यक है क्योंकि सत्य तथा अनृत दोनों ही मिले हुए हैं। शोधनोपरान्त ही सत्य तथा अनृत का निर्णय किया जा सकता है। वह तत् पद के अर्थ का शोधन इस प्रकार से आता है कि तत् पद का अर्थ है ईश्वर। परन्तु वह ईश्वर क्या है? वह ईश्वर जीव से परमार्थतः अतिरिक्त नहीं है, किन्तु औपाधिक रूप से ही जीव से अतिरिक्त है। ईश्वर की उपाधि है अज्ञान की समष्टि। बालबोधिनी व्याख्या के लेखक आपदेव के अनुसार ईश्वर की उपाधि अज्ञान की समष्टि नहीं है क्योंकि समष्टि व्यष्टि से अतिरिक्त नहीं होती, इस कारण जीव की उपाधि तथा ईश्वर की उपाधि में कोई भेद न होने के कारण उपहितों में भी— जीव तथा ईश्वर में भी— कोई भेद नहीं हो पायेगा। परन्तु व्यावहारिक रूप से औपाधिक भेद की व्यवस्था करनी आवश्यक है। इस कारण ईश्वर की उपाधि अज्ञानसमष्टि नहीं है, किन्तु अज्ञानसमष्टि की विषयता ही ईश्वर की उपाधि है। मूलकार के पद 'अज्ञानादिसमष्टिः' का अर्थ सीधे-सीधे तो अज्ञानसमष्टि ही निकलता है न कि अज्ञानसमष्टि की विषयता। इस कारण 'अज्ञानमादिः निरूपकं यस्याः सा समष्टिः विषयता' अज्ञान ही आदि है अर्थात् निरूपक है, जिसका ऐसी जो समष्टि अर्थात् विषयता, इस प्रकार खींचतानकर अज्ञानसमष्टि की विषयता को ईश्वर की उपाधि मानना चाहिए, ऐसा वे स्थापित करते हैं। विद्वन्मनोरञ्जनी व्याख्या के लेखक श्रीरामतीर्थयति तो जिस प्रकार से व्याख्या करते हैं, उससे 'आदि' पद का आशय लिङ्गशरीर की समष्टि, स्थूलशरीर की समष्टि आदि को आदि पद से ग्रहण करने का तात्पर्य समझ में आता है। परन्तु आपदेव लिङ्गशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य हिरण्यगर्भ को तथा स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य विराट् को जीववर्ग में रखने की बात करते हैं, इस कारण उसका तत् पद से ग्रहण करना ठीक नहीं है, ऐसा उनका मन्तव्य है। यद्यपि आपदेव के अनुसार लिङ्गशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य हिरण्यगर्भ नहीं है, किन्तु लिङ्गशरीर की समष्टि से भिन्न व्यापक सूक्ष्मशरीर को ही वे लिङ्गशरीर की समष्टि से समझते हैं, उससे उपहित चैतन्य ही हिरण्यगर्भ है, ऐसा मानते हैं। इसी प्रकार स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को वे विराट् नहीं मानते, किन्तु परिच्छिन्न चतुर्मुखादिशरीर से उपहित चैतन्य को ही— जीवविशेष को ही— विराट् मानते हैं। इस कारण यह विराट् भी तत् पद का वाच्यार्थ नहीं है। सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य में आदि पद से सर्वनियन्तृत्वादि का ग्रहण करना चाहिए।

मूल में आये हुए *'अज्ञानादिव्यष्टिः'* इस पद के घटक 'आदि' पद से व्यावहारिक जीव की उपाधिभूत लिङ्गशरीर का ग्रहण किया जाता है। उससे उपहित चैतन्य-ही-त्वम्पद का लक्ष्य है।

मूल में तत् पद के अर्थ का शोधन करते हुए तीन चीजों के बारे में बताया गया। एक अज्ञानादिसमष्टि, दूसरा अज्ञानसमष्टि से उपहित चैतन्य तथा तीसरा इस अज्ञानसमष्टि से अनुपहित चैतन्य। इसी प्रकार त्वम् पद के अर्थ

का शोधन करते हुए भी तीन चीजों के बारे में बताया गया। एक अज्ञानादिव्यष्टि, दूसरा अज्ञानादिव्यष्टि से उपहित चैतन्य तथा तीसरा इस अज्ञानादिव्यष्टि से अनुपहित चैतन्य। इन दोनों में प्रथम त्रिक भी उसी प्रकार ज्ञात होता है, जैसे आग में तपाया हुआ लोहे का गोला। वह लोहे का गोला एक ही प्रतीत होता है, परन्तु एक है नहीं। उसमें विवेक करने की आवश्यकता होती है, आग दूसरी वस्तु है, लोहा दूसरी वस्तु है। उसी प्रकार द्वितीय त्रिक अज्ञानादिव्यष्टि, अज्ञानादिव्यष्टि से उपहित चैतन्य तथा इस अज्ञानादिव्यष्टि से अनुपहित चैतन्य भी तप्ताय:पिण्ड के समान एकत्वेन अवभासमान हैं। इसमें भी विवेक करने की आवश्यकता है। इन दोनों त्रिकों में— जो कि परस्पर अत्यन्त भिन्नतया प्रतीत होते हैं— विवेक करने पर कोई भेद दिखायी नहीं देता क्योंकि इन दोनों त्रिकों का कोई वास्तविक भेद नहीं है, केवल उपाधि के आधार पर ही इनका भेद है। अज्ञानादिसमष्टि तथा अज्ञानादिव्यष्टि के आधार पर ही इन दोनों का भेद दिखायी देता है। परन्तु अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा जब यह ज्ञात हो जाता है कि अज्ञानादिसमष्टि तथा अज्ञानादिव्यष्टि वस्तुतः शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त हैं, तो केवल शुद्ध चैतन्य ही शेष रहता है। इस प्रकार *'तत्त्वमसि'* वह तुम हो, इस वाक्य का तात्पर्य शुद्ध चैतन्य की अद्वितीयता के बोधन में ही है, ऐसा पता चल जाता है। उसी अद्वितीय ब्रह्म का बोधन करने में ही तो उपनिषदों का तात्पर्य है।

वेदान्तसार के लेखक पदार्थों का निरूपण करने के उपरान्त वाक्यार्थ का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि सामान्यतया दो प्रकार के वाक्य होते हैं— १) संसृष्टार्थक तथा २) अखण्डार्थक। संसृष्टार्थक वाक्य वह होता है, जो वाक्य सम्बन्धविषयक प्रतीति को उत्पन्न करता हो। जैसे 'गामानय' गाय को लाओ, यह वाक्य गोकर्मक आनयन का बोध कराता है। गोकर्मकत्व का आनयन से अन्वय होकर यहाँ पर शाब्दबोध होता है। तनिक विविक्त रूप से देखा जाये तो गो पद के अर्थ का द्वितीया के अर्थ कर्मत्व के साथ, उस कर्मत्व का आनयन के साथ अन्वय होकर गोकर्मक आनयन का बोध होता है। गो का संसर्ग कर्मता के साथ, कर्मता का संसर्ग आनयन के साथ इस प्रकार संसर्गविषयिणी प्रतीति यहाँ पर होती है, तथा वाक्य संसृष्टार्थक कहलाता है। अखण्डार्थक वाक्य वे होते हैं, जो संसर्गाविषयक प्रतीतिजनक होते हैं, जहाँ पर किसी संसर्ग का भान नहीं होता। जैसे *'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'* प्रकृष्टप्रकाश चन्द्रमा, इस प्रकार के वाक्य। यदि कोई प्रश्न करे कि 'अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कतमश्चन्द्रः?' इस ज्योतिर्मण्डल में चन्द्रमा कौन सा है? इस प्रकार का चन्द्रस्वरूपमात्र की विवक्षा से तद्विषयक प्रश्न करने पर यदि कोई उत्तर देता है कि *'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'* प्रकृष्टप्रकाश चन्द्रमा है, तो इस प्रकार के वाक्य के द्वारा क्या किया जाता है? चूँकि चन्द्रमा के स्वरूपमात्र को जानने के लिए प्रश्न किया गया है, इस कारण यह वाक्य किसी संसर्ग को नहीं बताता, केवल चन्द्रस्वरूपमात्र को बताता है। यदि किसी संसर्ग को बतायेगा, तो प्रश्न तथा उत्तर की समरूपता नहीं होगी। प्रश्न किसी अन्य आशय से होगा, तथा समाधान किसी अन्य आशय से। इसलिए प्रश्नोत्तर की समरूपता की रक्षा के लिए यही मानना पड़ेगा कि केवल चन्द्र के स्वरूप के विषय में उत्तरवाक्य के द्वारा बताया जा रहा है, जिसमें संसर्ग विषय नहीं होता। *'सोऽयं देवदत्तः'* यह वही देवदत्त है, इस वाक्य से भी किसी संसर्ग का बोधन नहीं होता है, तत्कालविशिष्टत्व तथा एतत्कालविशिष्टत्व इन विरुद्ध

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते— इदं 'तत्त्वमसि'वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेष्यविशेषणभावः, प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्—

"सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥" इति।

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावत्— यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये

पदार्थनिरूपणानन्तरं वाक्यार्थं निरूपयति— **अथे**ति। अत्र वाक्यं द्विविधम्— संसृष्टार्थमखण्डार्थञ्चेति। तत्र संसृष्टार्थं संसर्गगोचरप्रतीतिजनकम्, यथा 'गामानय' इत्यादि। अखण्डार्थं तु संसर्गागोचरप्रतीतिजनकम्, यथा 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इत्यादि। तथाहि— 'अस्मिञ्ज्योतिर्मण्डले कतमश्चन्द्रः' इति चन्द्रस्वरूपमात्रविवक्षया प्रश्ने, कश्चिदाह 'यः प्रकृष्टप्रकाशः स चन्द्रः' इति। तथा च चन्द्रवाक्यं चन्द्रस्वरूपमात्रं बोधयति, न तु संसर्गम्, प्रश्नप्रतिवचनयोर्वैरूप्यापत्तेः। 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यपि वाक्यमखण्डार्थम्।

एवं 'तत्त्वमसि'वाक्यमपि स्वरूपमात्रविवक्षया प्रयुक्तत्वादखण्डार्थमित्याह— **इदमि**ति। **अखण्डार्थबोधकमि**ति। संसर्गागोचरप्रमितिविषयबोधकमित्यर्थः। **प्रत्यगात्मलक्षणयोरि**ति। अत्र लक्षणपदेन लक्षकमुच्यते। **पदार्थे**ति। पदार्थौ च प्रत्यगात्मा च तेषामित्यर्थः। यद्वा पदं च अर्थश्च प्रत्यगात्मा च तेषामित्यर्थः।

अंशों का परित्याग कर केवल देवदत्तमात्र का बोध इस स्थल में होता है, किसी संसर्ग का बोध नहीं होता। इस कारण यह वाक्य अखण्डार्थक वाक्य है। 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, ऐसा वाक्य भी स्वरूप मात्र की विवक्षा से प्रयुक्त है, इस कारण संसर्गबोधक नहीं है, अपितु अखण्डार्थक वाक्य है।

यद्यपि कुछ अन्य स्थलों में वाक्यों का त्रैविध्य भी बतलाया गया है— १) संसृष्टार्थक, २) विशिष्टार्थक, तथा ३) अखण्डार्थक। परन्तु जो विशिष्टार्थक वाक्य होते हैं, वे भी संसृष्टार्थक होते ही हैं, क्योंकि विशेषण तथा विशेष्य का सम्बन्धबोधन किये विना विशिष्ट की प्रतीति नहीं बन सकती है। यदि विशिष्टप्रतीति में भी विशेषण तथा विशेष्य का संसर्ग बोधित किया ही जा रहा है, तो वह प्रतीति भी संसृष्टार्थविषयिणी प्रतीति ही है, तथा ऐसा विशिष्टार्थक वाक्य भी संसृष्टार्थक वाक्य ही हुआ। इस प्रकार वस्तुतः वाक्यों का द्वैविध्य ही है। सम्भवतः बालबोधिनी के व्याख्याता आपदेव ने इसी कारण इसी अभिप्राय से वाक्यों का द्वैविध्य ही समझाया है।

अब महावाक्यार्थ का वर्णन किया जाता है— यह 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, ऐसा वाक्य तीन सम्बन्धों से अखण्डार्थ का बोधक होता है। ये तीन सम्बन्ध हैं— पदों का सामानाधिकरण्य, पदार्थों का विशेषणविशेष्यभाव तथा प्रत्यगात्मा एवं उसके लक्षक का लक्ष्यलक्षणभाव। जैसा कि कहा गया है—

सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यता तथा पदार्थ व प्रत्यगात्मा का लक्ष्यलक्षणभाव होता है।

तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्य एतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः; तथाऽत्र 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि परोक्षत्वादि-विशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्य अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु— यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्ट-देवदत्तस्य, अयंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः, तथाऽत्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य, त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्यभावः।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु— यथा तत्रैव सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्ध-तत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेन अविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः, तथाऽत्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्व-परित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।

सामानाधिकरण्येति। समानविभक्त्यन्तयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यं सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। 'अभिधेयाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते' 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इत्येतन्मतद्वयाभिप्रायेण तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वेत्युक्तमिति मन्तव्यम्।

सामानाधिकरण्य सम्बन्ध इस प्रकार से होता है— जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है, इस वाक्य में तत्कालविशिष्ट देवदत्तवाचक 'सः' शब्द का तथा एतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचक 'अयं' शब्द का एक ही पिण्ड में (एक ही व्यक्ति में) तात्पर्य होना ही सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। उसी प्रकार यहाँ पर भी 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इस वाक्य में भी परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के वाचक तत् पद का, अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के वाचक 'त्वम्' पद का एक ही चैतन्य में तात्पर्य होना ही सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध तो— जैसे उसी 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है, इस वाक्य में 'सः' शब्द के अर्थ तत्कालविशिष्ट देवदत्त और 'अयं' शब्द के अर्थ एतत्कालविशिष्टदेवदत्त का अन्योन्यभेद का (एक दूसरे के भेद का) व्यावर्तक होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध हुआ करता है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इस वाक्य में भी तत्पदार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का और त्वम्पदार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का अन्योन्यभेद का (एक दूसरे के भेद का) व्यावर्तक होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव होता है।

लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध तो— जैसे वहीं 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है, इस वाक्यस्थल में 'सः' शब्द और 'अयं' शब्द का अथवा 'सः' शब्द के अर्थ तत्कालविशिष्ट देवदत्त और 'अयं' शब्द के अर्थ

एतत्कालविशिष्टदेवदत्त का विरुद्ध तत्कालविशिष्टत्व तथा एतत्काल -विशिष्टत्व का परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त के साथ लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध होता है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इस वाक्यस्थल में भी तत्पद और त्वम्पद का अथवा तत्पदार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और त्वम्पदार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के विरुद्ध अंश परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व का परित्याग कर अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध कहा जाता है। इसी को ही भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं।

सदानन्द यति यहाँ पर तीन बातें बता रहे हैं— पहली तो यह कि 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, तथा *'सोऽयं देवदत्तः'* यह वही देवदत्त है, इत्यादि वाक्यों के घटक पदों के मध्य सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। समान विभक्ति जिन पदों में हो, ऐसे अनेक पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्य होना ही सामानाधिकरण्य है। *'सोऽयं देवदत्तः'* यह वही देवदत्त है, इस वाक्य के घटक 'सः' तथा 'अयम्' इन दोनों ही पदों में प्रथमा का एकवचन है। तथा इन दोनों ही पदों का तात्पर्य केवल देवदत्त में है। उसी देवदत्त को 'सः' कहकर भी बताया जा रहा है, तथा उसी देवदत्त को 'अयम्'कहकर भी बताया जा रहा है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इस वाक्य के घटक 'तत्' तथा 'त्वम्'इन दोनों ही पदों में प्रथमा का एकवचन है तथा इन दोनों ही पदों का तात्पर्य शुद्ध चैतन्य में है। उसी शुद्ध चैतन्य को 'त्वम्'कहकर भी बताया जा रहा है, तथा उसी शुद्ध चैतन्य को 'तत्' कहकर भी बताया जा रहा है।

दूसरी बात यह है कि *'सोऽयं देवदत्तः'* यह वही देवदत्त है, 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इत्यादि वाक्यों के घटक पदों के अर्थों के मध्य विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। *'सोऽयं देवदत्तः'* यह वही देवदत्त है, इस वाक्य के घटक 'सः'शब्द का अर्थ है तत्कालविशिष्ट देवदत्त और 'अयं'शब्द का अर्थ है एतत्कालविशिष्टदेवदत्त। इन दोनों का विशेषणविशेष्यभाव है। 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इस वाक्य के घटक 'तत्'पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वम्'पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य। इन दोनों का विशेषणविशेष्यभाव है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रथमस्थल में 'सः'शब्द का अर्थ विशेषण है या 'अयम्'शब्द का अर्थ ? इसी प्रकार द्वितीय स्थल में 'तत्'पद का अर्थ विशेषण है या 'त्वम्'पद का अर्थ? तो वस्तुतःदोनों ही एक दूसरे के विशेषण तथा विशेष्य होते हैं। इसकी वज़ह यह है कि विशेषण का कार्य होता है इतर से व्यावृत्ति करना[1]। प्रथमस्थल में 'सः'शब्द का अर्थ भी विशेषण का कार्य करता है तथा 'अयम्'शब्द का अर्थ भी। 'सः'शब्द का अर्थ 'अयम्'शब्द के अर्थ को दूसरे से व्यावृत्त करता है, इसी प्रकार 'अयम्'शब्द का अर्थ 'सः'शब्द के अर्थ की अन्य से व्यावृत्ति कराता है। इस कारण दोनों का ही परस्पर एक दूसरे के प्रति विशेषणभाव भी है तथा विशेष्यभाव भी। द्वितीय स्थल में भी इसी प्रकार 'तत्'शब्द का अर्थ भी विशेषण का कार्य करता है तथा 'त्वम्'शब्द का अर्थ भी करता है। 'तत्'शब्द का अर्थ 'त्वम्'शब्द के अर्थ को दूसरे से व्यावृत्त करता है, इसी प्रकार 'त्वम्'शब्द का अर्थ

१. विशेषण तथा उपलक्षण दोनों का कार्य इतर से व्यावृत्ति कराना ही होता है, परन्तु विशेषण विद्यमान रहता हुआ इतर से व्यावृत्ति कराता है, तथा उपलक्षण अविद्यमान रहता हुआ। जैसे शिखा विद्यमान रहते हुए इतर से व्यावृत्ति कराती है, परन्तु काक आदि घर पर विद्यमान रहते हुए भी उसको अन्य से व्यावृत्त कर देते हैं।

अस्मिन्वाक्ये 'नीलमुत्पलम्' इतिवाक्यवद् वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र नीलपदार्थनीलगुणस्य, उत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेद-

भागलक्षणां समर्थयितुं प्रकारान्तरं व्युदस्यति— **अस्मिन्नित्यादिना। प्रत्यक्षादीति**। ननु यदीश्वरः प्रत्यक्षः स्यात्तदा जीवेश्वरयोर्भेदः प्रत्यक्षसिद्ध इति तयोरभेदलक्षणो वाक्यार्थो न सङ्गच्छेत—

'तत्'शब्द के अर्थ की अन्य से व्यावृत्ति कराता है। इस कारण दोनों का ही परस्पर एक दूसरे के प्रति विशेषणभाव भी है तथा विशेष्यभाव भी।

तीसरी बात यह है कि पदार्थों व प्रत्यगात्मा का लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर उद्धृत की गयी कारिका के द्वारा पदार्थ तथा प्रत्यगात्मा के मध्य लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध बताया गया। उसी अभिप्राय को वेदान्तसार के लेखक सदानन्द यति भी प्रतिपादित कर रहे हैं। इसमें लक्ष्य है प्रत्यगात्मा क्योंकि प्रत्यगात्मा जो कि समस्त प्रमाणव्यापार से परे है, किसी भी शब्द के द्वारा अभिधावृत्ति से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। इसकारण उसका प्रतिपादन लक्षणा के द्वारा ही किया जाता है। इसीलिए वह प्रत्यगात्मा लक्ष्य है। इस प्रकार सुस्पष्ट है कि प्रत्यगात्मा किसी भी पद का शक्यार्थ नहीं हो सकता, फिर प्रत्यगात्मा बोधित किस प्रकार होगा? लक्षणा के द्वारा। पदार्थों की लक्षणा होती है, किसी एक पद की लक्षणा नहीं होती है, अपितु दोनों ही पदों की लक्षणा होती है। जैसे *'सोऽयं देवदत्तः'* यह वही देवदत्त है, इस वाक्य के स्थल में 'सः'शब्द और 'अयं'शब्द दोनों की ही भागत्यागलक्षणा की जाती है। 'सः'शब्द का अर्थ है तत्कालविशिष्ट देवदत्त और 'अयं'शब्द का अर्थ है एतत्कालविशिष्टदेवदत्त। इन दोनों का परस्पर अन्वय होना सम्भव नही है क्योंकि इन दोनों में विरोध है, जो तत्काल से विशिष्ट है वह एतत्काल से विशिष्ट किस प्रकार हो सकता है? इस कारण यहाँ पर का विरुद्ध तत्कालविशिष्टत्व तथा एतत्कालविशिष्टत्व का परित्याग करके केवल देवदत्त बोधित होता है। उसी प्रकार *'तत्त्वमसि'* वह तुम हो, इस वाक्यस्थल में भी तत्पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा त्वम्पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य। इन दोनों के मध्य विरोध होने के कारण परस्पर अन्वय बाधित है, इस कारण अन्वयानुपपत्ति के कारण (अथवा तात्पर्यानुपपत्ति के कारण तात्पर्य भी बाधित होने के कारण) दोनों ही पदों की लक्षणा की जाती है। परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादि-विशिष्टत्व का परित्याग कर शुद्ध चैतन्यमात्र बोधित होता है। वही शुद्ध चैतन्य तो प्रत्यगात्मा है। इस कारण तत्, त्वम् पदार्थों को शुद्ध चैतन्य का लक्षण कहा गया। लक्षण का तात्पर्य है लक्षक क्योंकि ये दोनों ही पदार्थ शुद्ध चैतन्य को लक्षणा के द्वारा बोधित करते हैं। अथवा पद व पदार्थ दोनों ही प्रत्यगात्मा के लक्षक होते हैं।

'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है, इस वाक्य में तथा *'तत्त्वमसि'* वह तुम हो, इस वाक्य में लक्षणा करनी किस कारण आवश्यक है? लक्षणा को जघन्या वृत्ति कहा जाता है, यदि अभिधावृत्ति से कार्य सम्भव हो तो लक्षणा नहीं की जाती। किस प्रकार इन स्थलों में विना लक्षणा के वाक्यार्थबोध सम्भव नहीं होता, इसको ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं—

इस वाक्य में 'नीलोत्पलम्' नीलकमल, इस वाक्य की तरह अभिधा के द्वारा वाक्यार्थ सङ्गत नहीं हो

व्यावर्तकतया अन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात् तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते।

अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद् वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

"संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।" इति।

प्रत्यक्षविरोधात्; न चैतत्, ईश्वरस्याप्रत्यक्षत्वादिति चेत्? न, जीवस्तावत्प्रत्यक्ष एव। ईश्वरस्तु यद्यपि न प्रत्यक्षः, तथापि 'तर्कितयत्सत्त्वं यदनुपलम्भविरोधि तदभावः प्रत्यक्षः' इतिन्यायेन वायौ रूपवदन्योन्याभाववद् घटे परमाण्वन्योन्याभाववद्वा जीवेश्वरभेदः प्रत्यक्ष एव। यद्यहमीश्वरः, तदा किञ्चिज्ज्ञत्वाद्युपलम्भो न स्यात्, न स्याच्च सर्वज्ञत्वाद्यनुपलम्भ इति प्रकृतेऽपि तर्कसम्भवात्। तस्माद्भेदस्य प्रत्यक्षत्वाद्युक्तमुक्तं प्रत्यक्षादि-प्रमाणविरोधादिति। प्रत्यक्षे च योग्यानुपलब्धिः परं द्रष्टव्या।

यद्वा परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य जीवाभेदे जीवस्य परोक्षत्वादि स्यात्। तथा च अपरोक्षत्वादि-बोधकप्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधः।

सकता। यहाँ पर '(नीलोत्पलम्' नीलकमल, इस वाक्य में) नीलपदार्थ नीलगुण का और उत्पलपदार्थ उत्पलद्रव्य (कमल द्रव्य)का शौक्ल्य पट आदि के भेद का व्यावर्तक होने के कारण एक दूसरे के प्रति विशेषण-विशेष्यभाव संसर्ग को वाक्यार्थ मानने में, नीलगुण से विशिष्ट उत्पल का या उत्पल से विशिष्ट नील का शाब्दबोध मानने में, अथवा नीलविशिष्ट उत्पल के ऐक्य का शाब्दबोध मानने में किसी भी प्रमाण का विरोध नहीं होने के कारण वाक्यार्थ सङ्गत होता है।

यहाँ पर तो — 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, इस वाक्यस्थल में 'तत्'पद के अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा त्वम्पद के अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य को परस्पर एक दूसरे के भेद के व्यावर्तक के रूप में विशेषणविशेष्यभाव रूप संसर्ग को, एक से विशिष्ट द्वितीय को अथवा इन दोनों के ऐक्य को वाक्यार्थ मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध है, इसलिए वाक्यार्थ सङ्गत नहीं है। इसी कारण कहा गया है कि—

संसर्ग या विशिष्ट वाक्यार्थ यहाँ पर सम्मत नहीं है, इस कारण यहाँ अखण्डैकरस वाक्यार्थ ही विद्वानों को सम्मत है।

इस ग्रन्थ के द्वारा सदानन्द यति ने यह बताया कि *'तत्त्वमसि'* वह तुम हो, इस वाक्यस्थल में 'तत्'पद के अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा त्वम्पद के अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ अभेदान्वयबोध

अन्ये तु प्रत्यक्षमादिर्यस्येत्यतद्‌गुणबहुव्रीहिणाऽनुमानादिकमेवोक्तमित्याहुः; तन्न, अतद्‌गुण-संविज्ञानतस्तद्‌गुणसंविज्ञानस्य समीचीनत्वात्। किञ्च यत्र विशेष्यैकदेशो विशेषणत्वेन सम्बध्यते स

स्वीकार करने में प्रत्यक्षादिप्रमाणों का विरोध है। इस कारण यहाँ पर अभेदान्वयबोध नहीं हो सकता। परन्तु इस विषय में प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर प्रत्यक्ष होता तो जीव तथा ईश्वर का भेद भी प्रत्यक्ष होता, परन्तु ऐसा तो है नहीं। जब ईश्वर अप्रत्यक्ष है तो ईश्वर तथा जीव का भेद भी अप्रत्यक्ष ही होगा। तो किस प्रकार से जीव तथा ईश्वर का अभेद बोधित करने में प्रत्यक्षविरोध होगा? यह प्रत्यक्षविरोध तो सङ्गत नहीं दिखता। तथापि प्रत्यक्षविरोध सङ्गत है। ईश्वर भले ही प्रत्यक्षसिद्ध न हो, तथापि जीव तो प्रत्यक्ष है ही। एक न्याय है कि 'जिसका तर्कित सत्त्व जिसके अनुपलब्धि का विरोधी होता हो, उसका अभाव प्रत्यक्ष होता है'। इस न्याय के अनुसार वायु के चक्षुरिन्द्रिय से अप्रत्यक्ष होते हुए भी वायु में रूपवद्भेद—वायु का रूपवान् न होना— चक्षुरिन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार घट में परमाणु का भेद भी प्रत्यक्षसिद्ध है। इसका कारण यह है कि हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि 'यदि वायु रूपवान् होता तो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता' इस प्रकार से शङ्कित वायु का रूपवत्त्व वायु के चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अनुपलब्धि का विरोधी है, इस कारण वायु में रूपवान् का भेद प्रत्यक्ष है, यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार घट में परमाणु का भेद भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष है क्योंकि यहाँ पर भी कहा जा सकता है कि 'यदि घट परमाणु होता तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होता' इस प्रकार से शङ्कित घट का परमाणुत्व घट के प्रत्यक्षत्व का विरोधी है, इस कारण घट में परमाणु का अन्योन्याभाव अर्थात् भेद प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार ईश्वर के प्रत्यक्ष न होने पर भी जीव में ईश्वर का भेद प्रत्यक्षसिद्ध है। यहाँ पर भी उसी रीति से तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि 'यदि मैं ईश्वर होता तो किञ्चिज्ज्ञता की उपलब्धि मुझमें न होती' अथवा 'यदि मैं ईश्वर होता तो सर्वज्ञ होता'। परन्तु न तो अपने किञ्चिज्ज्ञत्व का अनुपलम्भ होता है और न तो अपने सर्वज्ञत्व का ही उपलम्भ होता है। इस प्रकार अपना ईश्वर होना तर्कित होने पर अपने सर्वज्ञत्व का उपलम्भ न होना विरोधी है, तथा अपने किञ्चिज्ज्ञत्व की उपलब्धि होना भी विरोधी है। इस कारण जीव में ईश्वर का भेद प्रत्यक्ष ही है। अतः तत्पदार्थ तथा त्वम्पदार्थ का अभेद बोधित करने में प्रत्यक्ष से विरोध आयेगा ही। नैयायिक इसी रीति से स्तम्भ में पिशाचभेद को प्रत्यक्ष से ही देख लेने की बात करते हैं।

अथवा परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य ईश्वर का जीव से अभेद होने पर जीव का परोक्षत्व भी होने की बारी आ जायेगी। इस कारण जीव के अपरोक्षत्वादि के बोधक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा, यही मूलकार के द्वारा कथित प्रत्यक्षादिविरोध का तात्पर्य है।

इस प्रसङ्ग में बालबोधिनी व्याख्या के लेखक आपदेव किसी के मत का 'अन्ये तु' कह कर उल्लेख करते हैं। वह मत किसका है, ज्ञात नहीं हो सका। इतना तो निश्चित है कि न तो वह मत सुबोधिनी के लेखक श्रीनृसिंहसरस्वती का है और न तो विद्वन्मनोरञ्जनी के लेखक श्रीरामतीर्थ यति का है। यह पक्ष ऐसा है कि 'प्रत्यक्षादि' इस पद में अतद्‌गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि समास दो प्रकार के होते हैं, तद्‌गुणसंविज्ञान तथा अतद्‌गुणसंविज्ञान।

तद्गुणसंविज्ञानः, यथा 'लम्बकर्णः' इत्यादौ। यत्र च न सम्बध्यते, किन्त्वन्य एव विशेषणत्वेन सम्बध्येत, सोऽतद्गुणसंविज्ञानः, यथा 'बहुधनः' इत्यादौ।

एवञ्च प्रकृते प्रमाणस्य विशेष्यत्वात् तदेकदेशस्य[१] च प्रत्यक्षस्य विशेषणत्वेन सम्बन्धात् तद्गुण एवायम्, न त्वतद्गुणः।

न च यत्र विशेषणं क्रियान्वयि स तद्गुणः, यत्र च विशेषणं न सोऽतद्गुणः। एवञ्च अत्र विशेषणस्य प्रत्यक्षस्य क्रियानन्वयादतद्गुणबहुव्रीहिरेवायमिति वाच्यम्? विशेषणस्य क्रियान्वयित्वेन तद्गुणत्वे 'लम्बकर्णाय देहि' इत्यादौ कर्णविशेषणस्य दानानन्वयेन तद्गुणबहुव्रीहित्वं न स्यात्। 'बहुधन आस्ते' इत्यादौ धनस्याप्यस्तिक्रियान्वयेन तद्गुणबहुव्रीहित्वमेव स्यात्, न स्याच्चातद्गुणत्वमिति। न चेष्टापत्तिः; तथा व्यवहाराभावात्। तस्माद्यत्र विशेष्यैकदेशो विशेषणत्वेन सम्बध्यते, स तद्गुणसंविज्ञान इत्येव लक्षणम्।

अत एव द्वितीयसूत्रे 'जन्म आदिर्यस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः' इतिभाष्यटीकाव्याख्यानावसरे विवरणाचार्यैः— 'विशेष्यैकदेशमेव विशेषणं कृत्वा समासः'[२] इत्युक्तम्। उक्तरीत्या प्रत्यक्षस्यापि विरोधक्रियान्वयेनातद्गुणबहुव्रीहित्वानुपपत्तेश्चेति दिक्।

जहाँ पर विशेष्य का एकदेश विशेषण से सम्बद्ध होता है, वह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। जहाँ पर विशेष्य का एकदेश विशेषण से सम्बद्ध नहीं होता है, वह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। जैसे 'लम्बकर्णः' इस पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है क्योंकि जब कहा जाता है कि 'लम्बकर्णमानय' लम्बकर्ण को लाओ, तो लम्बे कर्ण वाले व्यक्ति का आनयन किया जाता है। उस आनयन में लम्बे कर्ण का आनयन भी साथ-साथ हो जाता है। 'बहुधनः' इस पद में अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है क्योंकि जब कहा जाता है कि 'बहुधनमानय' बहुधन को लाओ, तो बहुत धनवाले व्यक्ति का आनयन तो किया जाता है। परन्तु उस आनयन में बहुत धन का आनयन साथ-साथ नहीं होता है। 'प्रत्यक्षादि'इस पद में यदि अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होगा, तो इसका अर्थ निकलेगा कि 'प्रत्यक्षमादिर्यस्य'प्रत्यक्ष है आदि जिसका, उसमें प्रत्यक्ष को लिया नहीं जायेगा। प्रमाणों में आदि है प्रत्यक्ष। यदि इस पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होगा तो मूलकार के उक्त प्रयोग का अर्थ होगा— प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध। उसमें प्रत्यक्ष भी अन्तर्भूत होगा। परन्तु जब अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होगा तो प्रत्यक्ष को छोड़कर प्रत्यक्षादि पद से अनुमानादि प्रमाणों से विरोध ही समझ में आयेगा। इस प्रकार मूलकार के प्रयोग का आशय प्रत्यक्षविरोध दिखलाना नहीं है, किन्तु अनुमानादि का विरोध दिखाना उसका आशय है।

परन्तु इस पक्ष को बालबोधिनी के लेखक आपदेव उचित नहीं मानते। उनका कथन है कि अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि की अपेक्षा तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि उचिततर होता है। दूसरी बात यह है कि इस स्थल में विशेष्य है प्रमाण, क्योंकि मूलकार की पङ्क्तिमें *'प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात्'* ऐसा प्रयोग प्राप्त हो रहा है। प्रमाण का विशेषण है प्रत्यक्षादि। उस विशेष्य प्रमाण में प्रत्यक्ष का भी अन्वय तो हो ही रहा है। इस कारण यह तद्गुणसंविज्ञान

---

१. प्रकाशितपुस्तके तु तत्तदेकदेशस्य इति पाठः, स च न सङ्गतः।

२. द्रष्टव्य- पञ्चपादिकाविवरण पृ.५१६।

'तत्त्वमसि'वाक्ये 'नीलमुत्पलम्'इत्यादिवाक्यवन्न सामानाधिकरण्यं गुणगुणिभावाद्यसंभवाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्।

बहुव्रीहि ही है, न कि अतद्गुणसंविज्ञान। यदि कहा जाये कि तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि वह होता है, जहाँ पर क्रिया के साथ विशेषण का अन्वय किया जा सकता हो। इसके विपरीत जहाँ पर क्रिया के साथ विशेषण का अन्वय न होता हो वह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। *'लम्बकर्णमानय'* लम्बकर्ण को लाओ, यहाँ पर आनयन क्रिया का अन्वय लम्बकर्णवाले व्यक्ति के साथ भी होता है तथा लम्बे कर्ण के साथ भी। परन्तु *'बहुधनमानय'* बहुधन को लाओ, यहाँ पर आनयन क्रिया का अन्वय बहुधनसम्पन्न व्यक्ति के साथ ही होता है न कि बहुत धन के साथ भी। *प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात्* इस स्थल में तो विरोधनक्रिया के साथ प्रत्यक्ष का अन्वय तो होता नहीं, केवल प्रत्यक्ष आदि में है जिनके ऐसे अनुमानादि प्रमाणों का ही विरोधनक्रिया के साथ अन्वय होता है। इस कारण यह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि ही है। तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ पर कि क्रिया के साथ विशेषण का अन्वय किया जा सकता हो वह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है, इस प्रकार की परिभाषा दी ही नहीं जा सकती। यह परिभाषा गलत है। इस परिभाषा के अनुसार तो *'लम्बकर्णाय देहि'* लम्बकर्ण को दो, इस प्रकार का वाक्यप्रयोग होने की स्थिति में दानक्रिया के साथ लम्बे कर्ण का अन्वय सम्भव नहीं है, क्योंकि दान व्यक्ति को दिया जा सकता है, लम्बे कर्ण को नहीं। इस कारण *'लम्बकर्णाय देहि'* इस प्रकार का प्रयोग होने की स्थिति में लम्बकर्ण पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि नहीं है, ऐसा मानना पड़ जायेगा। इसी प्रकार *'बहुधन आस्ते'* बहुधन व्यक्ति है, इस प्रकार का प्रयोग होने पर 'आस्ते'क्रिया के साथ जिस प्रकार व्यक्ति का अन्वय होता है, उसी प्रकार धन का अन्वय भी होता है। फिर तो इसको भी तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि मानना पड़ेगा। इसको इष्टापत्ति तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन स्थलों में इनको क्रमशः अतद्गुणसंविज्ञान तथा तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि तो नहीं माना जाता। इस कारण यही मानना उचित है कि जहाँ पर विशेष्य का एकदेश विशेषण से सम्बद्ध होता है, वह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। जहाँ पर विशेष्य का एकदेश विशेषण से सम्बद्ध नहीं होता है, वह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। इसी कारण *'जन्माद्यस्य यतः'* (ब्रह्मसूत्र १.१.२) इस सूत्र पर आचार्य शङ्कर भगवत्पाद की पङ्क्ति *'जन्म आदिर्यस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः'* की व्याख्या करते हुए विवरणाचार्य ने— *'विशेष्यैकदेशमेव विशेषणं कृत्वा समासः'* 'विशेष्य के एकदेश को ही विशेषण करके समास किया गया है, ऐसा कहा है। यदि क्रिया के साथ अन्वय होने पर ही तद्गुणसंविज्ञान होता है, तो भी ऊपर प्रदर्शित रीति से विरोधक्रिया के साथ अन्वय होकर भी तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि ही है।

'तत्त्वमसि' इस वाक्य में *'नीलोत्पलम्'* इस वाक्य की तरह सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है, इसमें एक कारण और भी समझना चाहिए कि वस्तुतः नील तथा उत्पल में जिस प्रकार से गुणगुणीभाव सम्भव है, उस प्रकार से तत् तथा त्वम् में गुणगुणीभाव सम्भव नहीं है।

अभिधा के आधार पर *'तत्त्वमसि'* इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं हो सकता, यह बात तो स्पष्ट हुई। परन्तु

अत्र 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इतिवाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते। अत्र तु परोक्षापरोक्ष-चैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्य-लक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।

न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति, तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतु, अतः कुतो जहल्लक्षणा न

भागान्तरमपीति। वैशिष्ट्यांशमित्यर्थः। **अन्येति।** जहदजहल्लक्षणयेत्यर्थः[१]। तत्रैव स्वार्थागमनादिति भावः।

क्या दोनों पदों में लक्षणा करना ही आवश्यक है, क्या भागत्यागलक्षणा के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है? क्या जहल्लक्षणा या अजहल्लक्षणा से कार्य का निर्वाह नहीं हो सकता? इन्हीं सब बातों को आगे उठाया जा रहा है—

यहाँ पर 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' गङ्गा में अहीरों की बस्ती है, इस वाक्य में जिस प्रकार जहल्लक्षणा होती है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में जहल्लक्षणा सङ्गत नहीं होती। वहाँ पर—गङ्गा में अहीरों की बस्ती है, इस वाक्य में— गङ्गा तथा घोष में आधाराधेयभावरूप वाक्यार्थ के अशेषतः विरुद्ध होने के कारण वाक्यार्थ का अशेषतः परित्याग कर उससे सम्बन्धी तीर में लक्षणा किया जाना तो सङ्गत है। यहाँ पर तो परोक्षचैतन्य तथा अपरोक्षचैतन्य के एकत्वरूप वाक्यार्थ के भागमात्र में विरोध होने के कारण भागान्तर का भी परित्याग कर अन्य वाक्यार्थ में लक्षणा कर लेना अयुक्त है। इस कारण जहल्लक्षणा सङ्गत नहीं होती।

'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' गङ्गा में अहीरों की बस्ती है, यह वाक्य जहल्लक्षणा का उदाहरण है। जहल्लक्षणा वह होती है जहाँ पर वाच्य अर्थ का पूरा-पूरा परित्याग कर दिया जाये। इस स्थल में गङ्गा के प्रवाह में घोष यानी अहीरों की बस्ती का होना सम्भव नहीं है, यही वाच्य अर्थ है। इस कारण यह वाक्य जहल्लक्षणा का उदाहरण है, ऐसा मानते हैं। गङ्गाप्रवाह में आभीरबस्ती का होना रूपी वाक्यार्थ को पूरा का पूरा छोड़कर दूसरा ही अर्थ समझ में आता है कि गङ्गातीर पर आभीरबस्ती है। गङ्गाप्रवाह में आभीरबस्ती है, इससे गङ्गातीर पर आभीरबस्ती है यह बात तो बिलकुल ही अलग है। इसलिए जहल्लक्षणा में पूरा का पूरा वाक्यार्थ छोड़कर दूसरा ही वाक्यार्थ पकड़ा जाता है, यह बात सुस्पष्ट है। 'तत्त्वमसि' की स्थिति ऐसी नहीं है कि समग्र वाक्यार्थ का ही परित्याग कर दिया जाये क्योंकि यहाँ पर तो केवल परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व अंश में ही विरोध है। जहल्लक्षणा करने पर पूरे के पूरे वाक्यार्थ का परित्याग करना पड़ेगा। इस कारण यहाँ पर जहल्लक्षणा अनुचित है।

यदि कहा जाये कि गङ्गापद स्वार्थ का परित्याग कर जिस प्रकार से तीरपदार्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार से तत् पद या त्वम् पद भी अपने अर्थ का परित्याग कर त्वम् पद के अर्थ को या तत् पद के अर्थ को लक्षित

१. अयं पाठस्तु न सङ्गतः प्रतिभाति, 'जहल्लक्षणयेत्यर्थः' इति तु स्यात्।

सङ्गच्छत इति वाच्यम्; तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्।

अत्र 'शोणो धावति' इतिवाक्यवद् अजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षापरोक्ष चैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।

तदाश्रयेति। शोणगुणाश्रयेत्यर्थः। **विरुद्धत्वादिति।** विशिष्टयोरभेदे विशेषणयोरप्यभेदः स्यात्, विशिष्टेऽन्वितस्य विशेषणेऽन्वयादित्यर्थ इत्याहुः।

करे, इस प्रकार से भी जहल्लक्षणा सङ्गत हो सकती है? तो ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ पर 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' गङ्गा में घोष निवास करता है, वाक्य के स्थल मे तीर पद सुनायी नहीं देने से तीररूप अर्थ की प्रतीति न होने के कारण लक्षणा से तीररूप अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा है। परन्तु यहाँ पर तो तत् पद भी श्रूयमाण है, तथा त्वम् पद भी श्रूयमाण है। इस कारण न तो तत् पद के अर्थ की प्रतीति के लिए त्वम्पद की लक्षणा की अपेक्षा है और न तो त्वम् पद के अर्थ की प्रतीति के लिए ही तत् पद की लक्षणा की अपेक्षा है।

यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थापित किया जा रहा है कि दोनों पदों में से किसी एक पद की लक्षणा स्वीकार करके शाब्दबोध स्वीकार करना उचित दिखता है। *'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति'* गङ्गा में अहीरों की बस्ती है, इस स्थल में केवल गङ्गा पद की गङ्गातीर में लक्षणा की गयी। गङ्गापद अपने अर्थ का परित्याग कर देता है, तथा गङ्गातीर का बोध कराता है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी या तो तत् पद अपने अर्थ परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य को छोड़कर जीवचैतन्य को लक्षित करे या तो त्वम् पद अपने अर्थ अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य को छोड़कर ईश्वरचैतन्य को लक्षित करे। इसका समाधान इस प्रकार से दिया जा रहा है कि *'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति'* गङ्गा में अहीरों की बस्ती है, इस स्थल में घोष (अहीरों की बस्ती) विशेष्य के रूप में निर्धारित है। उस घोष (अहीरों की बस्ती) के साथ गङ्गाप्रवाह का अन्वय नहीं हो पा रहा है, इस कारण गङ्गापद की गङ्गा के तीर में लक्षणा कर ली जाती है। परन्तु 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में कौन विशेष्य है तथा कौन विशेषण यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। दोनों का ही परस्पर विशेष्यविशेषणभाव है। इस परिस्थिति में किस पद की लक्षणा की जाये तथा कौन से पद का मुख्यार्थ लिया जाये, यह निश्चित नहीं किया जा सकता। यहाँ पर किसी भी पद के अर्थ का बोधन कराने के लिए द्वितीयपद की अपेक्षा नहीं है, इस कारण यहाँ पर जहल्लक्षणा नहीं की जा सकती।

अजहल्लक्षणा क्यों नहीं हो सकती, इसको बता रहे हैं—

यहाँ पर 'शोणो धावति' शोण—लाल घोड़ा—दौड़ रहा है, इस वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भी

न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतु, अतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्; एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च।

उक्तविस्मरणशीलः शङ्कते— **न चेति**। शुद्धं चैतन्यमंशान्तरम्। **प्रकारान्तरेणेति**। पदद्वयेनापि शुद्धचैतन्यलक्षणयैव कुतः, पदार्थान्तरलक्षणयैव किं न स्यादित्यर्थः। **एकेनेति**। यद्यपि 'शोणो धावति' इत्यत्र यथा शोणपदं स्वार्थं पदार्थान्तरञ्च अश्वादिलक्षणं लक्षणयोपस्थापयति, एवं तत्पदादेरपि स्वार्थांश-पदार्थान्तरोभयलक्षकत्वे न बाधकम्, तथापि उभयलक्षणायां गौरवाच्चैतन्यलक्षणैव युक्तेति भावः।

सम्भव नहीं है। यहाँ पर शोणगुण में (लाल रंग में) गमनात्मक क्रियारूपी वाक्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण उस शोण गुण (लाल रंग) का परित्याग किये बिना ही शोणगुण (लाल रंग) के आश्रय अश्व आदि में लक्षणा करके वाक्यार्थविरोध का परिहार सम्भव होने के कारण अजहल्लक्षणा सम्भव होती है। यहाँ पर यद्यपि परोक्षत्वविशिष्टचैतन्य तथा अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य का एकत्वरूपी वाक्यार्थ विरुद्ध है, इस कारण उसका परित्याग न करते हुए उसके सम्बन्धी जिस किसी अर्थ का बोध लक्षणा से हो तो सकता है, परन्तु उससे विरोध का परिहार सम्भव न होने के कारण अजहल्लक्षणा सम्भव नहीं है।

'शोणो धावति' शोण—शोणवर्णवाला घोड़ा—दौड़ रहा है, यह वाक्य अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। शोण शब्द का अर्थ होता है, रक्तवर्ण। जब ऐसा वाक्य बोला जाता है, तो रक्तवर्ण में धावनकर्तृत्व का बोध होता है। परन्तु गुण में क्रिया नहीं रह सकती, इस कारण रक्तवर्ण में धावनकर्तृत्व के विरुद्ध होने से या कहें कि बाधित होने से वाक्यार्थबोध अनुपपन्न होने के कारण शोण पद की लक्षणा शोणवर्णविशिष्ट अश्वादि में कर ली जाती है। इस प्रकार शोण (रक्त) वर्णविशिष्ट अश्व के धावनकर्तृत्व का बोध होता है। उपर्युक्त विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँ पर *'तत्त्वमसि'* इस स्थल में भी विरोध तो उसी प्रकार से है, परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य अपरोक्षत्वविशिष्ट किस प्रकार से हो सकता है? इस कारण यहाँ पर भी तत् पद या त्वम् पद की अजहल्लक्षणा कर ली जा सकती है। परन्तु समस्या का समाधान तब भी नहीं होगा क्योंकि लक्षणा करने का प्रयोजन है, विरोध का परिहार करना। जो कि फिर भी नहीं हो सकेगा। कारण यह है कि दोनों पदों के मुख्यार्थों में ही परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य में विरोध है, चैतन्य के एक ही साथ परोक्षत्वविशिष्ट तथा अपरोक्षत्वविशिष्ट होने में विरोध है। जब तक इनमें से किसी भी पद के अर्थ का परित्याग नहीं किया जायेगा, तब तक विरोध का परिहार नहीं हो सकेगा। इसलिए अजहल्लक्षणा से काम नहीं चलेगा।

यदि कहा जाये कि तत् पद या त्वम् पद स्वार्थ के विरुद्धांश का परित्याग कर अंशान्तर से सहित त्वम् पद के अर्थ या तत् पद के अर्थ को लक्षणा के द्वारा बोधित करे, ऐसा करने पर प्रकारान्तर से भागत्यागलक्षणा करने की क्या आवश्यकता है? तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि एक पद ही स्वार्थांश

यत्तु— भागलक्षणायां गौरवादजहल्लक्षणैवास्त्विति शङ्कते— न चेति। अजहल्लक्षणायां शक्यलक्ष्यसाधारण एको धर्मो वक्तव्यः, 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र शक्याशक्यसाधारणदध्युपघातकत्वरूपधर्मदर्शनात्। न च प्रकृते स्वार्थांशपदार्थान्तरसाधारण एको धर्मोऽस्ति। ततो नाजहल्लक्षणेत्यभिप्रायेणैके नेत्युक्तम्— इति; तन्न, भागलक्षणाक्षेपे 'प्रकारान्तरेण' इत्येतद्व्यर्थम्। अतः कथंत्वसिद्ध्यर्थं शक्तिजन्योपस्थितिं त्यक्त्वा शुद्धचैतन्योपस्थित्यर्थं लक्षणावश्यमङ्गीकर्तव्येति। सा चेयं लक्षणा पदद्वयेऽपि।

न च एकेनैव पदेन लक्षणया चैतन्योपस्थितौ पदान्तरवैयर्थ्यम्; 'पदस्याप्रमाणत्वेन'[1] वाक्यत्वसिद्ध्यर्थं पदान्तरस्याप्यावश्यिकत्वादिति।

का परित्याग भी करे तथा पदार्थान्तर का बोध भी लक्षणा से कराये, इस प्रकार से तो दो लक्षणाएँ हो जायेंगी, जो कि असम्भव है। इसके अतिरिक्त पदान्तर से जब अर्थ की प्रतीति हो ही रही है, तो फिर लक्षणा के द्वारा उसकी प्रतीति की अपेक्षा ही नहीं है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठाया गया है कि तत् पद को यदि लिया जाये तो वह तत् पद त्वम् पद के अर्थ में जो विरुद्ध अंश है, उस अंश का परित्याग करते हुए अंशान्तर से सहित तत् पद के अर्थ को लक्षणा के द्वारा बोधित कराये, या इसके विपरीत त्वम् पद तत् पद के अर्थ में जो विरुद्ध अंश है, उस अंश का परित्याग करते हुए अंशान्तर से सहित त्वम् पद के अर्थ को लक्षणा के द्वारा बोधित कराये। इसके परिप्रेक्ष्य में बात यह होगी कि एक ही पद की लक्षणा के द्वारा स्वार्थ के विरुद्ध अंश का परित्याग भी करना पड़ेगा, तथा अंशान्तर का बोध भी कराना पड़ेगा। इस प्रकार एक साथ ही अभिधा के द्वारा अपने अर्थ का बोध भी करना पड़ेगा तथा लक्षणा के द्वारा दूसरे अर्थ का बोध भी करना पड़ेगा। परन्तु नियम है कि एकसाथ दो वृत्तियाँ नहीं हो सकतीं, *'युगपद्वृत्तिद्वयविरोधात्'* यह सिद्धान्त है। इसी कारण एक पद से स्वार्थांश तथा पदार्थान्तर दोनों का न तो लक्षणा के द्वारा न तो अभिधा के द्वारा बोध हो सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि एक बार शक्ति से या लक्षणा से किसी अर्थ की प्रतीति हो गयी तो दुबारा उस अर्थ की प्रतीति कराने की अपेक्षा नहीं होती। इस कारण लक्षणा के द्वारा दोनों का बोध नहीं हो सकता। फिर समस्या यह भी है कि यदि एक ही पद की लक्षणा से दो अर्थों का बोध माना जाये, तो इस पक्ष में गौरव होगा।

यहाँ पर कुछ लोग या व्याख्याकार इस ग्रन्थ का अवतरण इस प्रकार से देते हैं कि भागलक्षणा में गौरव होने के कारण अजहल्लक्षणा ही क्यों न कर ली जाये? इसी अभिप्राय से *'न च'* इस ग्रन्थ से यहाँ पर आशङ्का उपस्थापित की जा रही है। मूलकार द्वारा प्रोक्त समाधान इस प्रकार से वे अपने साथ सङ्गत करते हैं कि अजहल्लक्षणा जहाँ पर भी की जाती है, उन स्थलों में शक्य व लक्ष्य दोनों में ही रहनेवाला कोई न कोई धर्म होता है, ऐसे किसी धर्म को यहाँ पर भी कहना पड़ेगा। जैसे— *'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'* कौवों से दधि की रक्षा करो, इस स्थल में केवल कौवों से ही दधि की रक्षा करने में तात्पर्य नहीं है किन्तु दधि के जो भी उपघातक हैं, उन सभी से दधि की रक्षा करने में तात्पर्य है। इस स्थल में काक पद की दध्युपघातक में लक्षणा कर ली जाती है। दध्युपघातकत्व काक

१.पदं प्रमाणं न भवति, किन्तु वाक्यमेव, वाक्यादेव शाब्दबोधस्य जायमानत्वात्। यच्च शाब्दबोधात्मिकायाः प्रमायाः करणं तदेव शब्दः प्रमाणम्, तच्च वाक्यमेव न तु पदम्।

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इतिवाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्ट-देवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति, तथा 'तत्त्वमसि' इतिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्ध-परोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।

अथाधुना 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपा-

---

पद के शक्य काक में भी है तथा अशक्य काकेतर (कौवों से भिन्न) अन्य जन्तुओं में भी है, जो कि दधि को नष्ट कर सकते हैं। परन्तु प्रकृत स्थल में *'तत्त्वमसि'* में स्वार्थ तथा पदार्थान्तरसाधारण— स्वार्थ तथा पदार्थान्तर दोनों में ही रहनेवाला— कोई धर्म नहीं है। इस कारण अजहल्लक्षणा नहीं हो सकती, ऐसा मूलकार ने कहा है। तो यह मत सङ्गत नहीं है क्योंकि भागलक्षणा का आक्षेप होने पर 'प्रकारान्तर से' यह कथन व्यर्थ है। जब तक कैसे? ऐसी आकाङ्क्षा नहीं बनेगी, तब तक लक्षणा का उत्थान नहीं होगा। इस आकाङ्क्षा के बनने के लिए शक्तिजन्य उपस्थिति को छोड़कर शुद्धचैतन्य की उपस्थिति के लिए लक्षणा अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार यहाँ पर दोनों ही पदों में लक्षणा माननी आवश्यक है। यह नहीं कहा जा सकता कि एक पद के द्वारा ही लक्षणा से चैतन्य की उपस्थिति हो जाने के कारण द्वितीय पद की तो व्यर्थता है; क्योंकि पद प्रमाण नहीं होता, वाक्य प्रमाण होता है। एक पद वाक्यार्थबोध नहीं करा सकता, जब तक वाक्यार्थबोध नहीं होगा तब तक उसका प्रामाण्य नहीं होगा। इसी कारण पदान्तर की भी आवश्यकता होती है। सिर्फ़ एक ही पद यदि है, तो वह वाक्य नहीं होगा, वाक्यार्थबोधजनक नहीं होगा। फलतः प्रमाण नहीं होगा। इस कारण वाक्यत्व की सिद्धि के लिए पदान्तर का होना भी आवश्यक होता है।

इस प्रकार जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा दोनों के ही सम्भव न होने के कारण जहदजहल्लक्षणा करना ही विकल्प शेष रहता है। इसी आशय से ग्रन्थकार कहते हैं—

इस कारण जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है, यह वाक्य या इस वाक्य का अर्थ तत्काल तथा एतत्काल से विशिष्ट अंश का परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्तांश मात्र को लक्षित करता है; उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वह तुम हो, यह वाक्य या इस वाक्य का अर्थ भी परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व से विशिष्ट चैतन्य के एकत्वरूपी वाक्यार्थ का अंश में विरोध होने के कारण विरुद्ध परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्वविशिष्ट अंश का परित्याग कर अविरुद्ध अखण्डचैतन्य मात्र को लक्षित करता है— लक्षणा के द्वारा बोधित करता है।

वाक्य लक्षित करता है या वाक्यार्थ लक्षित करता है, ऐसा मूलकार ने कहा। इन दोनों ही कथनों में से किसी एक पक्ष में मूलकार का आग्रह हो ऐसा नहीं है। पद की लक्षणा होती है, ऐसा सिद्धान्त है। वाक्य दो पदों से घटित है। इस कारण 'वाक्य लक्षित करता है' ऐसा कहते हुए दोनों ही पदों की लक्षणा होकर बोध होता है, ऐसा कहा। तथा अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदार्थ का लक्षकत्व है, ऐसा मानकर 'वाक्यार्थ लक्षित करता है ' ऐसा कहा।

पवादपुरस्सरं तत्त्वं पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधिते, अधिकारिणः 'अहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मि' इत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तया अभिभूता भवति, तथा

अनुभववाक्येति। अनुभवस्य ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य प्रतिपादकं यद्वाक्यं तस्येत्यर्थः।

यद्यप्येतस्यापि वाक्यस्याखण्डार्थकत्वेन 'तत्त्वमसि'वाक्यान्न स्वतन्त्रोऽर्थोऽस्ति, तथापि शक्त्या प्रतीयमानोऽर्थोऽत्र प्रतिपाद्यत इति ध्येयम्।

इसके बाद—'तत्त्वमसि' इस वाक्य का बोध वर्णित करने के बाद—अब 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस अनुभव के—अखण्ड ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रतिपादक वाक्य के— वाक्यार्थ का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार—उपर्युक्त प्रक्रिया के माध्यम से— आचार्य के द्वारा अध्यारोप तथा अपवाद पूर्वक तत् तथा त्वम् पदों के अर्थ का शोधन करने के बाद वाक्य के द्वारा अखण्डब्रह्म साक्षात्कार का बोधन कर देने बाद अधिकारी को 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्यस्वभाव-परमानन्द-अनन्त-अद्वय ब्रह्म हूँ' ऐसी अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति उदित होती है। वह अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति चित्प्रतिबिम्ब सहित होने पर प्रत्यगभिन्न परब्रह्म को विषय करते हुए ब्रह्मगत अज्ञान को ही बाधित करती है। उसके उपरान्त पट के प्रति कारण बननेवाले तन्तुओं का दाह हो जाने पर जैसे पट का दाह हो जाता है, उसी प्रकार समस्त कार्यों के प्रति कारणीभूत अज्ञान के बाधित हो जाने पर , उस अज्ञान का कार्यभूत समस्त प्रपञ्च के भी बाधित हो जाने के कारण उस कार्यभूत समस्त प्रपञ्च में अन्तर्भूत अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी बाधित हो जाती है। उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी उसी प्रकार स्वयं-प्रकाशमान प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म के वृत्ति द्वारा अवभासनयोग्य न होने के कारण उससे—स्वयं-प्रकाशमान प्रत्यगात्मा से अभिन्न परब्रह्म से— अभिभूत हो जाता है, जिस प्रकार दीपप्रभा सूर्य की प्रभा का अवभासन करने में असमर्थ होने के कारण अभिभूत हो जाती है। इस प्रकार से अभिभूत हो जाने के कारण स्वोपाधिभूत अखण्डवृत्ति के बाधित हो जाने के कारण जैसे दर्पण न रहने पर मुख का प्रतिबिम्ब नहीं रहता, केवल मुख ही रहता है, उसी प्रकार प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममात्र ही शेष रहता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस वाक्य तथा *'तत्त्वमसि'* वह तुम हो, इन दोनों ही वाक्यों में कोई अधिक अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों ही वाक्य अखण्डार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। अखण्डार्थ बोधक होने के कारण इस वाक्य का अर्थ भी *तत्त्वमसि'* इस वाक्य के अर्थ से अतिरिक्त नहीं है। आपदेव इस वाक्य में उपदेशवाक्य से सिर्फ़ इतना अन्तर मानते हैं कि इस वाक्य से शक्ति से प्रतिपादित होने वाला अर्थ ही प्रतीत होता है। अहं तथा ब्रह्म पदों

स्वयम्प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत् प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।

अनन्तशब्देन व्यापकत्वमुच्यते। **अखण्डाकाराकारितेति**। अखण्डाकारगोचरेत्यर्थः। **उदेति**, एतद्वाक्यस्य शक्योऽर्थ इति शेषः। वृत्तेः प्रयोजनमाह— **सा त्विति**। **अज्ञानमेवे**त्यत्र एवकारेण चैतन्यस्फोरकत्वं वृत्तेर्व्यावर्त्यते।

नन्वज्ञाननिवर्तकवृत्तिनिवृत्त्यर्थं वृत्त्यन्तरमपेक्षणीयं न वा? आद्ये, अनवस्था। अन्त्ये, तन्निवर्तकाभावेन तस्याः सत्त्वात्तथैव सद्वितीयत्वम्। तत्राह— **तदेति**। अज्ञाननिवर्तिका वृत्तिः स्वस्या अपि बाधिका कतकरजोन्यायेनेति भावः। वृत्त्या अज्ञानमात्रं निवर्त्यते, न चैतन्यं स्फोर्यत इत्युक्तम्।

की शक्ति जिन अर्थों में है, उन्हीं अर्थों का बोध होता है। आपदेव का यह समाधान समुचित नहीं दिखता क्योंकि यदि शुद्ध ब्रह्म का बोध शक्ति के आधार पर हो जाता है, तो *'यतो वाचो निवर्तन्ते'* से विरोध होगा। इसी ब्रह्म आदि पदों के द्वारा भी शक्ति के द्वारा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द, अनन्त तथा अद्वय ब्रह्म बोधित होता नहीं है। अपितु लक्षणा के द्वारा ही बोधित होता है। परन्तु यह लक्षणा भागत्यागलक्षणा नहीं है। यही विशेष है। अधिकारी को यदि अखण्डार्थ बोधित हुआ, तो उसी को ही 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द, अनन्त तथा अद्वय हूँ' इस प्रकार की चित्तवृत्ति उदित होती है। सामान्य जन को जो अधिकारी नहीं हैं, उनको तो उक्त वाक्य का श्रवण करने के उपरान्त भी ऐसी चित्तवृत्ति उदित नहीं होती। नित्य इससे अनित्यत्व की शङ्का निवृत्त होती है, शुद्ध पद से अविद्या आदि दोष से राहित्य ज्ञात होता है, बुद्धपद से स्वप्रकाशस्वरूप होने के कारण आत्मा के जाड्य का व्यवच्छेद किया जाता है। मुक्त पद से समस्त उपाधियों का राहित्य पता चलता है। सत्य कहने से उस आत्मा की अविनाशिस्वभावता का पता चलता है। परमानन्द पद से वैषयिक मनुष्यानन्द, चतुर्मुख ब्रह्मा आदि के आनन्दों के कर्म से जन्य होने से सीमित तथा क्षयिष्णु एवं इसी कारण तुच्छ होने के कारण उससे विलक्षण निरतिशय आनन्द स्वरूपता ब्रह्म की ज्ञात होती है। अनन्त शब्द के द्वारा घटादि की तरह उसका परिच्छेद नहीं है, ऐसा पता चलता है, देशकृत, कालकृत तथा वस्तुकृत त्रिविध परिच्छिन्नत्व का अभाव ब्रह्म में ज्ञात होता है। अद्वय इस शब्दसे नानात्व के निषेध से एकत्व बोधित होता है। जो अधिकारी नहीं है, उसको इस प्रकार की चित्तवृत्ति उदित नहीं होती। वह चित्तवृत्ति अखण्डाकाराकारित उत्पन्न होती है। अखण्डाकाराकारित का तात्पर्य है अखण्डाकारविषयक। वही चित्तवृत्ति ही 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य का शक्ति से लब्ध होनेवाला अर्थ है। उस वृत्ति के उत्पन्न होने का प्रयोजन है कि वह चित्तवृत्ति चित्प्रतिबिम्ब से सहित होकर प्रत्यगभिन्न परब्रह्म को विषय बनाती हुई ब्रह्मगत अज्ञान को ही बाधित करती है।

वृत्ति के दो प्रयोजन सामान्य रूप में माने जाते हैं—प्रथम तो अज्ञान की निवृत्ति तथा द्वितीय विषय का प्रकाशन। घट विषयक ज्ञान होने की प्रक्रिया में घटविषयक अज्ञान की निवृत्ति भी होती है तथा घट का प्रकाशन भी होता है। परन्तु ब्रह्म का ज्ञान होने की स्थिति मे ब्रह्मगत अज्ञान की केवल निवृत्ति ही होती है, उस ब्रह्म का

एवं च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधः, वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्—

"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।।" इति,

'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते' इति च, जडपदार्थाकाराकारित-

तदुपपादनफलमाह— **एवमिति**। विषयेऽभिव्यक्तं चैतन्यं फलम्। चैतन्ये च न चैतन्याभिव्यक्तिः, आत्माश्रयत्वात् स्वयम्प्रकाशत्वाच्चेति भावः। **अस्येति**। चैतन्यस्येत्यर्थः। **आभासो** वृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यम्। **उपयुज्यत** इति। शुद्धचैतन्यस्फोरण इत्यर्थः।

प्रकाशन नहीं होता। वह ब्रह्म का प्रकाशन अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा किया भी नहीं जा सकता। जिस प्रकार दीप के द्वारा सूर्य को प्रकाशित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म का प्रकाशन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म तो सूर्य के समान स्वयंप्रकाशमान है, उसका प्रकाशन किस प्रकार से दीप के समान तुच्छ चित्तवृत्ति कर सकेगी?

परन्तु प्रश्न यह भी है कि अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म का प्रकाशन न किया जाये, ब्रह्मगत अज्ञान की केवल निवृत्ति ही की जाये। लेकिन यह उदीयमान चित्तवृत्ति भी तो अज्ञान का ही कार्य है, अज्ञान की निवृत्ति तो इस चित्तवृत्ति के द्वारा हो गयी, परन्तु अज्ञानकार्यभूत इस चित्तवृत्ति की निवृत्ति किस प्रकार होगी? क्या इसकी निवृत्ति के लिए किसी अन्य वृत्ति की अपेक्षा होगी? यदि अन्य वृत्ति की अपेक्षा इस चित्तिवृत्ति की निवृत्ति के लिए हो, तब तो अनवस्था हो जायेगी; क्योंकि उस चित्तवृत्ति की निवृत्ति के लिए अन्य चित्तवृत्ति की अपेक्षा होगी, उसके लिए तीसरी की, तीसरी के लिए चौथी की। इस क्रम से कहीं पर भी विश्रान्ति नहीं हो सकेगी। यदि उस चित्तवृत्ति को निवृत्त करने के लिए किसी अन्य वृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है, तो वह अन्य वृत्ति तो निवृत्त होगी नहीं, उसी वृत्ति के विद्यमान रहने के कारण ब्रह्म सद्वितीय हो जायेगा। अद्वैत नहीं बन सकेगा। तो इस समस्या का समाधान दिया गया है कि अज्ञान को निवृत्त करनेवाली वृत्ति जिस प्रकार अज्ञान का बाधन करती है, उसी प्रकार कतकरजोन्याय से अपनी भी बाधिका होती है। जल को साफ़ करने के लिए जल में डाली जानेवाली एक वनस्पतिविशेष को कतक या देशज भाषा में निर्मली कहा जाता है। उक्त वनस्पति जल में विद्यमान मलिनता को विनष्ट तो करती ही है, अपने द्वारा उत्पन्न की गयी मलिनता को भी विनष्ट कर देती है। उसी प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति अज्ञान को निवृत्त करने के उपरान्त स्वय भी निवृत्त हो जाती है। इसके लिए एक अन्य उदाहरण भी दिया जाता है कि जिस प्रकार जिस दीपक में तेल नहीं शेष है, ऐसा दीपक स्वय ही बुझ जाता है, उसी प्रकार यह अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। उसकी निवृत्ति के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

ऐसा होने पर—इस रीति से अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा केवल अज्ञान की निवृत्ति करने के कारण तथा उस चित्तवृत्ति द्वारा शुद्ध स्वयम्प्रकाश चैतन्य का प्रकाशन न करने के कारण— 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'

चित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथा हि— 'अयं घटः' इति घटाकाराकारित-चित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति। तदुक्तम्—

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।" इति।

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकार-निरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।

घटमिति। घटावच्छिन्नचैतन्यमित्यर्थः। अज्ञानस्य चैतन्यविषयत्वेन वृत्तेरपि चैतन्यविषयत्वात्, ज्ञानाज्ञानयोः समानविषयत्वनियमात्। अज्ञानस्य च चैतन्यविषयत्वमुपपादितमधस्तात्। **अज्ञानेति**। एतच्च तूलाज्ञानपक्षे।

मन से ही उसे देखना चाहिए, तथा 'यन्मनसा न मनुते' जिसको मन से नहीं देखता है, इन दोनों ही श्रुतियों का विरोध नहीं रहता क्योंकि प्रथम श्रुति के द्वारा वृत्तिव्याप्यत्व का स्वीकार किया जा रहा है तथा द्वितीय श्रुति के द्वारा फलव्याप्यत्व का निषेध किया जा रहा है। जैसा कि कहा गया है—

'शास्त्रकारों ने इस ब्रह्म का फलव्याप्यत्व ही निवारित किया है, ब्रह्म में अज्ञान का नाश करने के लिए वृत्तिव्याप्यता की अपेक्षा तो होती ही है'। तथा— 'उस शुद्ध चैतन्य के स्वयं प्रकाशमान होने के कारण आभास उपयुक्त नहीं होता'। जडपदार्थाकाराकारित चित्तवृत्ति से अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का यही विशेष है। जैसे 'अयं घटः' यह घट है, इस प्रकार की घटाकाराकारित चित्तवृत्ति अज्ञात घट को विषय करती हुई तद्घटगत अज्ञान का निरास पूर्वक स्वगत (उस वृत्ति में गत) चिदाभास (चित्प्रतिबिम्ब) से जड घट को भी भासित करती है। जैसा कि कहा गया है—

'बुद्धि तथा बुद्धिगत चिदाभास (चित्प्रतिबिम्ब) दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं, उसमें अज्ञान बुद्धि के द्वारा नष्ट हो जाता है, तथा चिदाभास (चित्प्रतिबिम्ब) के द्वारा घट स्फुरित (प्रकाशित) होता है'। जैसे दीप का प्रभामण्डल अन्धकारगत घटपट आदि को विषय बनाता हुआ घट-पटादिगत अन्धकारनिरासपूर्वक अपने प्रकाश से उस घट-पटादि को प्रकाशित भी करता है।

ज्ञान की व्याख्या एक सकर्मक क्रिया के रूप में की जाती है। ज्ञान ज्ञा धातु का अर्थ है। ज्ञाधातु सकर्मक है। इस कारण ज्ञान को सकर्मक क्रिया के रूप में ही व्याख्यायित किया जाता है। क्रिया का कर्म वह होता है, जो क्रियाजन्यफलशाली हो, क्रिया से उत्पन्न फल का आश्रय जो होता है, उसी को कर्म कहा जाता है। जिस विषय का ज्ञान होता है, उस विषय में ज्ञान से फल उत्पन्न होता है। विषय में जो चैतन्य अभिव्यक्त होता है, वही चैतन्य फल है। जब अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म ज्ञात होता है, तो उस ब्रह्म में कोई फल नहीं उत्पन्न होता, ब्रह्मगत अज्ञान की केवल निवृत्ति हो जाती है। उस शुद्ध चैतन्य में चैतन्य की अभिव्यक्ति न होने का कारण यह है

तथा हि— 'घटं न जानामि' इति प्रतीतिश्चतुर्धा व्याख्याता विवरणे—१)वृत्त्यभावविषयत्वेन, २)आवरणसंसर्गविषयत्वेन, ३)आवरणान्तराविषयत्वेन, ४)तूलाज्ञानविषयत्वेन च।

तत्र यदा 'घटं न जानामि' इति प्रतीतेर्वृत्त्यभावविषयत्वम्, तदा अखण्डचैतन्यविषयक-मूलाज्ञानातिरिक्तमज्ञानं नास्ति, वृत्त्यभावोपलक्षितान्मूलाज्ञानादेवोपपत्तेः। वृत्त्या तु रजतमात्रं निवर्तते; नाज्ञानम्, तस्याखण्डचैतन्यविषयवृत्तिनिवर्त्यत्वात्। तदुक्तम्— 'स्वाकारे प्रविलयमात्रं क्रियते'[1] इति।

यदाऽनिर्वचनीयमूलावरणसंसर्गमादाय 'घटं न जानामि' इति प्रतीतिव्याख्यानम्, तदापि नाज्ञाननिवृत्तिः। तथा हि— अज्ञानं तावच्चिन्मात्रविषयम्। अतस्तदावरणं चिन्मात्रनिष्ठमितीश्वरेऽपि मूलावरणमध्यस्तमिति वक्तव्यम्। ईश्वरे घटादयोऽप्यध्यस्ताः, तस्य सर्वज्ञत्वात्। अतो घटावरणयोरेकत्र अध्यासादावरणस्य अनिर्वचनीयसंसर्गो घटे उत्पद्यते। तं च संसर्गमादाय 'घटं न जानामि' इति प्रतीतिः। यथैकस्मिन् स्फटिकाचले प्रतिबिम्बितयोर्लौहित्यमुखयोः 'लोहितं मुखम्' इति परस्परसंसर्गोऽवभासते, तद्वत्। तदुक्तम्— 'विषयैः सहाज्ञानस्य साक्षिचैतन्येऽध्यासात् प्रतिभासः'[2] इति। अज्ञानस्याज्ञानावरणस्य साक्षिचैतन्ये

कि चैतन्य में चैतन्य की अभिव्यक्ति मानने पर आत्माश्रय होगा। दूसरी समस्या यह है कि स्वयम्प्रकाश शुद्धचैतन्य का प्रकाशन किस प्रकार किया जा सकता है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन करने के लिए अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति बननी अवश्य चाहिए, तभी शुद्ध चैतन्य का स्फुरण हो सकेगा। *'अयं घटः'* यह घट है, इस प्रकार के स्थल में किस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया है, उससे शुद्ध चैतन्य को जानने की प्रक्रिया किस प्रकार से भिन्न होती है? इसको इस रूप में देखा जा सकता है—

'अयं घटः' यह घट है, इस प्रकार की घटाकाराकारित चित्तवृत्ति बनने पर इस चित्तवृत्ति का विषय क्या होता है? यह देखना चाहिए। इस चित्तवृत्ति का विषय घट नहीं हो सकता है क्योंकि अज्ञान नियमतः चैतन्यविषयक होता है, इस कारण चित्तवृत्ति को भी चैतन्यविषयक ही होना चाहिए। ज्ञान तथा अज्ञान दोनों का ही समानविषयकत्व होना आवश्यक है, अन्यथा ज्ञान तथा अज्ञान में विरोध नहीं हो सकेगा। अज्ञान तो चैतन्यविषयक ही होता है, यह बात पीछे के पृष्ठों में प्रतिपादित की जा चुकी है। ऊपर जो घटगत अज्ञान के निरास की बात तो कही गयी है, वह तूलाज्ञानपक्ष में कही गयी है।

'घटं न जानामि' मैं घट को नहीं जानता, इस प्रकार की प्रतीति घट विषयक अज्ञान को विषय करती है, या यह कहा जाये कि घटावच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान को विषय करती है। इस अज्ञानविषयिणी प्रतीति की चार प्रकार से व्याख्या विवरण में की गयी है— १)ऐसी प्रतीति घटाकाराकारितवृत्ति के अभाव को विषय करती है, २)आवरण के संसर्ग को विषय करती है, ३)चिन्मात्रनिष्ठ आवरण से भिन्न परिच्छिन्न आवरणान्तर को विषय करती है, ४)तूलाज्ञान को विषय करती है।

१. 'अस्मिन् पक्षे शुक्तिकादिज्ञानेन रजताद्यध्यासानां स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते' एवं पङ्क्तिरुपलभ्या पञ्चपादिकाविवरणे। द्रष्टव्य-पञ्चपादिकाविवरण पृ.५८।

२. 'विषयैः सह साक्षिचैतन्येऽज्ञानाध्यासात् प्रतिभासः' एवं पङ्क्तिर्लभ्यते विवरणे। द्रष्टव्य- पञ्चपादिकाविवरण पृ.५५।

ईश्वरचैतन्येऽध्यासाच्चिन्मात्रविषय इति 'घटं न जानामि' इति प्रतिभास इत्यर्थः। एवञ्च अज्ञानस्य चिन्मात्रविषयत्वेऽप्यनिर्वचनीयावरणसंसर्गमादाय घटस्याप्यज्ञानविषयत्वाद्युक्तैव 'घटं न जानामि' इति प्रतीतिः। रजतं तु शुक्तौ जनितावरणसंसर्गान्मूलाज्ञानादेवोत्पद्यते। वृत्त्या तु प्रावरणसंसर्गमात्रनिवृत्तिः, नाज्ञाननिवृत्तिः, तस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वात्।

यदापि 'घटं न जानामि' इति प्रतीतिं व्याख्यातुं तन्मात्रनिष्ठावरणातिरिक्तं परिच्छिन्नं घटे आवरणं स्वीक्रियते, तदापि वृत्त्या आवरणमात्रनिवृत्तिः, नाज्ञाननिवृत्तिः, उक्तहेतोः।

इसमें से यदि यह माना जाये कि यह प्रतीति घटाकाराकारितवृत्ति के अभाव को विषय करती है, तो अखण्डचैतन्यविषयक मूलाज्ञान से अतिरिक्त कोई अज्ञान तो है नहीं, वृत्त्यभाव से उपलक्षित उसी मूलाज्ञान को लेकर ही ऐसी प्रतीति बन जायेगी। इस मत में अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति से अतिरिक्त किसी भी वृत्ति से अज्ञान नहीं निवृत्त होता क्योंकि मूलाज्ञान अखण्डचैतन्यविषयक होने से अखण्डाकाराकारित वृत्ति से ही निवृत्त हो सकेगा। शुक्ति में रजतभ्रम के स्थल में भी प्रथमतया रजताकाराकारित चित्तवृत्ति बनती है, बाद में जब ज्ञान होता है कि *'शुक्तिरियम्, नेदं रजतम्'* यह शुक्ति है, रजत नहीं, तो इस स्थल में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, केवल रजत की निवृत्ति ही होती है। इसी कारण इसको इस रूप में भी व्याख्यायित किया जाता है कि अपने आकार में प्रविलयमात्र किया जाता है।

यदि द्वितीय पक्ष को माना जाये कि *'घटं न जानामि'* यह प्रतीति मूल आवरण के अनिर्वचनीय संसर्ग को विषय करती है, तो भी अज्ञान की निवृत्ति स्वीकार करने की बात नहीं आती। इसका कारण यह है कि अज्ञान तो चिन्मात्रविषयक है, इस कारण उसका आवरण भी चिन्मात्रनिष्ठ ही होगा। इसलिए यह कहना पड़ेगा कि ईश्वर में भी मूल आवरण अध्यस्त है। ईश्वर में ही घट-पट आदि भी अध्यस्त हैं क्योंकि वह ईश्वर तो सर्वज्ञ है। इस प्रकार घट तथा आवरण दोनों के एक ही स्थल में अध्यस्त होने के कारण आवरण का अनिर्वचनीय संसर्ग घट में उत्पन्न हो जाता है। मूल आवरण के इसी अनिर्वचनीय संसर्ग को विषय करती हुई घट में यह प्रतीति उपपन्न हो जाती है। यह उसी प्रकार से होता है, जैसे एक ही स्फटिक पत्थर में प्रतिबिम्बित होने वाले लौहित्य तथा मुख में परस्पर संसर्ग का भान होने के कारण *'लोहितम् मुखम्'* लोहित मुख, ऐसी प्रतीति उपपन्न होती है। इसी कारण कहा जाता है कि 'विषय के साथ अज्ञान का साक्षिचैतन्य में अध्यास होने के कारण प्रतिभास होता है' इसका तात्पर्य है कि अज्ञान का यानी अज्ञानावरण का, साक्षिचैतन्य में अर्थात् ईश्वरचैतन्य में, अध्यास होने के कारण चिन्मात्रविषयक यह *'घटं न जानामि'* ऐसा प्रतिभास हुआ करता है। इस प्रकार यदि अज्ञान को चिन्मात्रविषयक माना जाये तो भी अनिर्वचनीय आवरण के ससर्ग को लेकर घट का अज्ञानविषयत्व बन जायेगा, इसलिए 'घट न जानामि' प्रतीति की व्याख्या में कोई मुश्किल नहीं है। शुक्ति में रजतभ्रम होने पर जो रजत का ज्ञान होता है, वहाँ पर शुक्ति में जो रजत उत्पन्न होता है, मूलाज्ञान-जनित आवरण के संसर्ग से मूलाज्ञान द्वारा ही उत्पन्न होता है। वृत्ति के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं की जाती है केवल आवरण के संसर्ग की निवृत्ति कर दी जाती है। अज्ञान तो ब्रह्मज्ञान से ही निवृत्त होता है।

एवम्भूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासन-समाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते।

यदा तु सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाधः, अज्ञानं प्रमाणमित्यादिव्यवहारसौकर्यार्थं तूलाज्ञानं स्वीक्रियते, तदा तु तदेव 'घटं न जानामि' इति प्रतीतेर्विषयः। तस्मादेव च रजतमुत्पद्यते। वृत्त्या तु सत्कार्यस्य तस्य निवृत्तिः क्रियते। ततश्च तूलाज्ञानपक्ष एवाज्ञाननिवृत्तिः। तस्माद्युक्तमुक्तमेतच्च तूलाज्ञानपक्ष इति। **चिदाभासनेने**ति। केवलाया वृत्तेर्जडत्वेन अभासकत्वादिति भावः।

यदि *'घटं न जानामि'* इस प्रतीति की व्याख्या के लिए तृतीय पक्ष को लिया जाये तथा माना जाये कि यह प्रतीति चिन्मात्रनिष्ठ आवरण से भिन्न घटमात्र को विषय करनेवाले किसी अन्य परिच्छिन्न आवरण को विषय करती है, तब भी अज्ञान की निवृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस स्थिति में भी वृत्ति के द्वारा केवल आवरण की निवृत्ति होती है, अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। अज्ञाननिवृत्ति तो अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के द्वारा ही होगी।

जब चतुर्थ पक्ष को स्वीकार किया जायेगा कि सविलास अज्ञान की निवृत्ति होना ही बाध है। विना अज्ञान की निवृत्ति हुए बाध नहीं हो सकता, ऐसा मानते हुए तूलाज्ञान को स्वीकार किया जाये। इस पक्ष में 'अज्ञानम्' 'प्रमाणम्' इस प्रकार के व्यवहार सुकर होते हैं अन्य पक्षों में 'घट का अज्ञान' ऐसा कहना उचित नहीं दिखता। इसी प्रकार अन्य पक्षों में प्रत्यक्षादि प्रमाण तो अज्ञान के निवर्तक होते नहीं, फिर प्रत्यक्ष आदि को किस प्रकार प्रमाण कहा जा सकेगा? तूलाज्ञानपक्ष में तो प्रत्यक्षादि प्रमाण अज्ञान के निवर्तक होने के कारण प्रमाण कहे जा सकेंगे। इस पक्ष में जो तूलाज्ञान 'घटं न जानामि' इस प्रतीति का विषय होता है, वही तूलाज्ञान घट का ज्ञान हो जाने पर नष्ट हो जाता है। प्रातिभासिक प्रतीति के स्थलों में— शुक्ति को विषय करनेवाले 'इदं रजतम्' इस प्रकार के भ्रम के स्थलों में— उसी तूलाज्ञान से रजत की उत्पत्ति होती है। बाधक प्रतीति के द्वारा 'शुक्तिरियम्, नेदं रजतम्' इस शुक्त्याकाराकारित वृत्ति के द्वारा तूलाज्ञान के कार्य रजत आदि के साथ-साथ उस तूलाज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार इन चारों ही पक्षों में से केवल तूलाज्ञानपक्ष में ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। अन्य किसी पक्ष में अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती।

उस वृत्ति में चित्प्रतिबिम्ब की क्या आवश्यकता है? तो वस्तुतः चित्प्रतिबिम्ब की आवश्यकता इस कारण है कि केवल चित्तवृत्ति तो जड है, जिस प्रकार एक अन्धा दूसरे अन्धे का मार्गदर्शन नहीं कर सकता, उसी प्रकार चित्प्रतिबिम्बरहित केवल वृत्ति जड होने के कारण घटादि के समान होने के कारण घटादि का अवभासन नहीं कर सकती। घटादि के अवभासनार्थ वृत्ति में चित्प्रतिबिम्ब की भी आवश्यकता है।

अधिकारी की ही अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति बनती है, सबकी नहीं, ऐसा पहले भी कहा जा चुका है। इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति क्या अध्यारोपापवादन्याय से बोधित कर देने पर सीधे-सीधे उत्पन्न होती है? या उसके लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा भी होती है? जिन अन्य साधनों की अपेक्षा होती है,

श्रवणं नाम—षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीयवस्तुनि ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणम्।

लिङ्गानि तु उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।

तात्पर्यावधारणमिति। तात्पर्यावधारणानुकूलो विचार इत्यर्थः। अवधारणस्यैव श्रवणत्वे श्रवणविधिविधेयत्वं न स्यात्, सिद्धान्ते ज्ञाने विध्यभावात्, अवधारणस्यैव ज्ञानत्वात्।

ननु 'श्रोतव्यः' इति श्रवणविधिः, तेन च न श्रवणं विधातुं शक्यते, उपक्रमोपसंहारादिपर्यालोचनया

उनको बता रहे हैं—

इस प्रकार के स्वरूपचैतन्य का साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाध्यनुष्ठान भी अपेक्षित होते हैं, इस कारण उनका भी प्रदर्शन किया जा रहा है—

श्रवण का अर्थ है छह तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों के आधार पर समस्त वेदान्तों का अद्वितीय वस्तु में ही तात्पर्य है, इसका निर्धारण करना। ये लिङ्ग हैं—उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति।

मूलकार ने श्रवण का अर्थ बताया कि— उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति इन छह तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों के द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तों का अद्वितीय वस्तु में तात्पर्य का निर्धारण करना ही श्रवण है। निर्धारण का अर्थ हुआ निश्चय। अर्थात् यह श्रवण ज्ञानविशेष निश्चय रूप समझ में आता है। वेदान्तसार की सुबोधिनी व्याख्या के लेखक नृसिंहसरस्वती समस्त वेदान्तवाक्यों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यनिश्चय को ही श्रवण पद का अर्थ समझते हैं। यही अर्थ सीधे-सीधे वेदान्तसार की पङ्क्तियों से दिखता भी है।

परन्तु इसमें एक समस्या है, श्रुति में श्रवण की विधि प्राप्त होती है। कहा गया है 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' अरे! यह आत्मा द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है। परन्तु भगवत्पाद आचार्य शङ्कर अनेक स्थलों में कह गये हैं कि ज्ञान में विधि नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं होता। यही वेदान्तसम्प्रदाय का मान्य सिद्धान्त भी है कि ज्ञान विधेय नहीं होता। श्रवण यदि ज्ञानविशेष निश्चय-रूप होगा, तो उसमें कोई विधि नहीं हो सकेगी। फिर भगवती श्रुति के द्वारा श्रवणविधि किया जाना असङ्गत होगा। इस समस्या का समाधान यह देते हैं कि वस्तुतः श्रवण ज्ञानविशेष निश्चयरूप नहीं होता, अपितु तादृशनिश्चयानुकूल विचार ही श्रवण है। आशय यह है कि उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति इन छह तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों के द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तों का अद्वितीय वस्तु में तात्पर्यनिर्णय के अनुकूल विचार करना ही श्रवण है। विचार मानसी क्रिया है, इस कारण उसका विधान किया जा सकता है, भले ही ज्ञान का विधान नहीं किया जा सकता हो। इसी प्रकार की व्याख्या बालबोधिनीकार करते हैं।

यहाँ पर प्रश्न सम्भव है कि *'श्रोतव्यः'* इस श्रवणविधि के द्वारा श्रवण का विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपक्रमोपसंहार आदि लिङ्गों की पर्यालोचना के द्वारा श्रवण के आत्मपरत्व का अवगम होता है। इस

तस्यात्मपरत्वावगमात्। अतः श्रवणस्याविधेयत्वान्नोक्तदोष इति चेत्? न, 'श्रोतव्यः' इति वाक्येन श्रवणस्याविधेयत्वेऽपि श्रवणेऽधिकविध्यङ्गीकारात्।

अन्ये पुनराचार्याः— 'श्रोतव्यः' इति वाक्येनैव श्रवणं विधीयते, उपक्रमोपसंहारादिपर्यालोचनया आत्मपरतावगमेऽवान्तरतात्पर्येण श्रवणपरत्वात्। यथा 'विविदिषन्ति' इतिवाक्यमात्मपरमप्यवान्तरतात्पर्येण यज्ञादि विधत्ते, तद्वत्— इत्याहुः।

एवञ्च श्रवणस्यावधारणरूपत्वे विधानमनुपपन्नमिति तदनुकूलो विचार इति श्रवणम्।

कारण श्रवण विधेय है ही नहीं, यही मान लिया जाये? तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि भले ही 'श्रोतव्यः' इस वाक्य के द्वारा श्रवण का विधान नहीं किया जा सके तथापि श्रवण में नियमविधि तो माननी ही पड़ेगी। श्रवण के द्वारा आत्मज्ञान हुआ करता है, परन्तु श्रवण तब तक करना अपेक्षित होता है, जब तक आत्मज्ञान न हो जाये। इस कारण नियमांश में तो विधान करना आवश्यक ही होगा। अतः श्रवण में विधि माननी पड़ेगी।

श्रवण को विधि माना जाये कि नहीं, इस विषय में वेदान्त के विविध आचार्यों का मतवैभिन्य है। विधि तीन प्रकार की होती है— अपूर्वविधि, नियमविधि तथा परिसङ्ख्याविधि।

जहाँ पर किसी अपूर्व बात का विधान किया जा रहा हो, उसको अपूर्वविधि कहा जाता है। जो किसी भी प्रमाण से कहीं पर भी प्राप्त नहीं हो, उसका विधान अपूर्वविधि कहलाता है। जैसे मीमांसकों के द्वारा प्रदर्शन किया जाता है कि *'व्रीहीन् प्रोक्षति'* धान को प्रोक्षित करता है (धान का प्रोक्षण करना चाहिए), इस स्थल में विहित धान का प्रोक्षण किसी भी अन्य प्रमाण से प्राप्त नहीं होता। इस कारण इसको अपूर्वविधि कहा जाता है।

जो किसी एक पक्ष में प्राप्त हो, उसके नियम का विधान करना ही नियमविधि है। दूसरे शब्दों में अप्राप्त अंश में भी पूरण की विधि ही नियमविधि है। जैसे *'व्रीहीन् अवहन्ति'* धान का अवहनन करता है (धान का अवहनन करना चाहिए), इस वाक्य के द्वारा धान का अवहनन विहित है। पुरोडाश बनाने के लिए चावल की अपेक्षा होती है, इस कारण धान के छिलके को हटाना आवश्यक है। परन्तु वह छिलका किस प्रकार से हटाया जाये, क्या नाखूनों के द्वारा हटाया जाये, अथवा मूसल के द्वारा कूटकर हटाया जाये, तो छिलके को हटाना पहले से ही प्राप्त होने पर भी मूसल के द्वारा ही छिलका हटाना है, ऐसा प्राप्त नहीं है। इस वाक्य से अप्राप्त इस अंश में विधान होता है। इसी कारण इसको नियमविधि कहा जाता है। धान के छिलके को हटाने के लिए तब तक धान को मूसल के द्वारा कूटना पड़ता है, जब तक कि उसके छिलके का निवारण न हो जाये।

अनेक जो प्राप्त हैं, उनमें से एक पक्ष की निवृत्ति कराना ही परिसङ्ख्याविधि है। जैसे *'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः'* पाँच नखवाले पाँच पशु भक्ष्य हैं, यह विधान परिसङ्ख्याविधि है। मांसभक्षण रागतः प्राप्त है, उनमें से शशक, कच्छप आदि पाँच नखवाले पाँच जीवों के भक्षण के विधान का तात्पर्य वस्तुतः इन पाँच जन्तुओं के भक्षण में नहीं है, अपितु अन्य से निवृत्ति कराने में है। यदि कोई व्यक्ति प्रबल रागवश मांसभक्षण से विरत नहीं रह सकता हो, तो वह इन पाँच जन्तुओं से अतिरिक्त जन्तुओं का भक्षण न करे, केवल इतना ही इस वाक्य के द्वारा विहित है। इस विधान का तात्पर्य यह नहीं है कि जो व्यक्ति मांस नहीं खाते हैं, वे मांसभक्षण प्रारम्भ कर दें।

प्रकटार्थकार श्रवण में अपूर्व विधि मानते हैं। उनका आशय है कि श्रवण के द्वारा अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का साक्षात्कार होगा, यह किसी भी अन्य प्रमाण से प्राप्त नहीं है। इस कारण यह अपूर्वविधि है।

विवरणाचार्य का अनुगमन करनेवाले आचार्य कहते हैं कि विचार विचार्य अर्थ के निर्णय के प्रति कारण हुआ करता है, अपरोक्षप्रमाण अपने विषय का साक्षात्कार कराता है, यह भी प्रमाणों से निर्णीत है। इस कारण श्रवण के द्वारा आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार होना तो प्राप्त ही है, परन्तु अनेक उदाहरण ऐसे भी दिखते हैं जहाँ पर विना श्रवण के भी आत्मज्ञान दिखायी देता है। जैसे वामदेव आदि को श्रवण के विना भी आत्मज्ञान का होना सुना गया है। इस प्रकार आत्मज्ञान के अन्य साधनों के साथ श्रवण की प्राप्ति होने के कारण सन्देह होता है कि क्या श्रवण ही आत्मज्ञान का साधन है? इस तरह का संशय प्राप्त होने पर श्रवण ही आत्मज्ञान का साधन है, इस नियम को करने में ही श्रवणविधि का तात्पर्य है।

श्रवणविधि में नियमविधि अनेक आचार्यों ने मानी है, परन्तु उनकी प्रक्रियाएँ विभिन्न हैं। विवरणाचार्य के अनुयायी कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि शब्द पहले तो परोक्षज्ञान ही उत्पन्न करता है। परन्तु अनन्तरकाल में मनन तथा निदिध्यासन से समन्वित होने पर अपरोक्षज्ञान भी उत्पन्न कर देता है। इसमें वे उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं कि जैसे अपनी प्रियतमा से वियुक्त व्यक्ति को प्रियतमा का मनन करने पर उसकी अनुपस्थिति में भी उसका साक्षात्कार सा होने लगता है। वैसे ही मनन व निदिध्यासन से युक्त होने पर श्रवण आत्मविषयक अपरोक्षज्ञान उत्पन्न कर देता है।

कुछ आचार्य ऐसा मत रखते हैं कि आत्मसाक्षात्कार हमेशा मन से ही होता है, तथा सर्वदा परोक्षज्ञानात्मक ही होता है। श्रवण का उपयोग तो निःसन्दिग्ध परोक्षज्ञान के लिए ही है।

कुछ अन्य आचार्य कहते हैं कि जैसे सङ्गीतशास्त्र के षड्ज, गान्धार आदि सात सुरों का अपरोक्षज्ञान सामान्य जनों को नहीं होता, सङ्गीत की समझ न रखनेवाले इन सुरों को सुनकर भी पहचान नहीं कर पाते हैं कि कौन सा सुर है। परन्तु अभ्यास करने पर सामान्य जन भी अपरोक्षतया ही जान लेते हैं कि कौन सा सुर है। इस प्रकार चित्त रूप सहकारी कारण के साथ में होने पर श्रवण के द्वारा भी अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है। ये आचार्य भी श्रवण में नियमविधि ही मानते हैं।

सङ्क्षेप शारीरक के लेखक सर्वज्ञात्ममुनि ऊहापोहात्मिका चित्त की क्रिया को ही श्रवण मानते हैं। इनके मत में श्रवण का तात्पर्य ऊहापोहात्मिका चित्त-क्रिया ही है। उनके मत से ऊहापोहात्मिका चित्तक्रियारूप श्रवण अपने आपमें कोई प्रमाण नहीं है, इस कारण श्रवण किसी भी प्रकार का ज्ञान—परोक्ष या अपरोक्ष—नहीं उत्पन्न कर सकता है। ज्ञान उत्पन्न करना तो प्रमाण का कार्य है, श्रवण जो अप्रमाण है, किस प्रकार से ज्ञान को उत्पन्न करेगा? इस कारण श्रवण का कार्य सिर्फ़ इतना है कि पुरुष में जो तात्पर्य की भ्रान्ति, संस्कार आदि दोष हैं, उन दोषों को निवृत्त कर दे। इसीलिए श्रवण का विधान किया गया है।

वार्तिक के अनुयायी आचार्य तो यह मानते हैं कि श्रवण में नियमविधि नहीं है, केवल परिसङ्ख्या की जा

प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा— छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा— तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये 'तत्त्वमसि' इति नवकृत्त्वः प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा— तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं

उपक्रमोपसंहाराविति समस्य वचनमुपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यमेकं लिङ्गमिति सूचनार्थम्। **तदाद्यन्तयोरिति।** प्रकरणाद्यन्तयोरित्यर्थः।

रही है। ब्रह्मज्ञान के लिए प्रवृत्त पुरुष को मध्य में अन्य व्यापार भी प्राप्त हो सकते हैं, उनसे निवृत्त कराने के लिए ही श्रवणविधि के द्वारा परिसङ्ख्या की जा रही है।

वाचस्पति मिश्र के अनुयायी तो कहते हैं कि श्रवण का तात्पर्य आगम तथा आचार्य के वाक्य से जन्य ज्ञान ही है, तथा ज्ञान के विधान के योग्य न होने के कारण उसमें कोई विधि नहीं हो सकती। इस विषय में विशेष जिज्ञासा का शमन करने के लिए अप्पय दीक्षित द्वारा प्रणीत सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह का अवलोकन करना चाहिए।

श्रवण को अवधारणात्मक मानने पर उसमें विधान अनुपपन्न है, विधान उपपन्न हो इसलिए तात्पर्यावधारणानुकूल विचार को ही श्रवण कहा जाता है।

तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग हैं उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति।

उपक्रमोपसंहार का तात्पर्य है— प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य जो अर्थ है, उसका प्रकरण के प्रारम्भ तथा अन्त के द्वारा उपपादन करना। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में प्रकरण से प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का ही षष्ठ अध्याय के प्रारम्भ में 'एकमेवाद्वितीयम्' एक ही अद्वितीय है, इस प्रकार से तथा अन्त में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह सब कुछ अद्वितीय आत्मा ही है, इस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपक्रम तथा उपसंहार मिलकर प्रथम तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग होते हैं।

प्रकरण से प्रतिपाद्य वस्तु का बारम्बार उस प्रकरण के मध्य में प्रतिपादन करना ही अभ्यास है। जैसे वहीं पर छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में प्रकरण के मध्य में प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु के विषय में नव बार 'तत्त्वमसि' ऐसा कहते हुए प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण से प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का प्रमाणान्तर से अविषयीकरण ही अपूर्वता है। जैसे वहीं पर छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का किसी अन्य प्रमाण से विषय न करने के बारे में बताना ही अपूर्वता है।

प्रयोजनम्। यथा— तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा— तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तु-प्रशंसनम्।

तन्मध्य इति। प्रकरणमध्य इत्यर्थः। **तत्रैवेति**। छान्दोग्ये इत्यर्थः।

मानान्तरेति। तस्योपनिषन्मात्रगम्यत्वादिति भावः।

तदनुष्ठानस्येति। ज्ञानानुकूलश्रवणाद्यनुष्ठानस्येत्यर्थः, श्रवणाद्यनुष्ठानस्योपस्थिततत्वात्। तत्प्रयोजनश्रुतिं तावदुदाहरति— **आचार्येति**। ज्ञानप्रयोजनश्रुतिमुदाहरति— **तस्येति**। **तस्य** उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य **तावदेव चिरम्** अज्ञाननिवृत्तौ तावानेव विलम्बः, **यावन्न विमोक्ष्ये** यावत्प्रारब्धकर्मणा न विमुक्तो भवतीत्यर्थः। **अद्वितीयवस्तुज्ञानस्येत्यग्रे** श्रवणाद्यनुष्ठानस्य वेति शेषः। **तत्प्राप्तिः**, ज्ञानप्राप्तिश्चैतन्यप्राप्तिश्चेत्यर्थः।

अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का प्रमाणान्तर से प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म केवल उपनिषद्रूपी प्रमाण के द्वारा गम्य है।

प्रकरण से प्रतिपाद्य आत्मा के ज्ञान का अथवा तदनुष्ठान का (ज्ञानानुकूल श्रवणाद्यनुष्ठान का) वहाँ वहाँ श्रूयमाण जो प्रयोजन है, वही तो फल है। जैसे वहीं पर 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' आचार्यवान् पुरुष (जिसको आचार्य प्राप्त हुए हैं, वही पुरुष) आत्मा को जानता है, उसके लिए उतनी ही देर है, जब तक वह प्रारब्ध कर्मों से छुटकारा नहीं पाता, उसके बाद वह ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है, इत्यादि शब्दों के द्वारा उस अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उस अद्वितीय वस्तु की प्राप्ति ही है, ऐसा सुना जाता है।

तत्त्वसाक्षात्कार के उत्पन्न हो जाने पर भी तुरन्त ही मोक्ष नहीं प्राप्त होता है, कुछ समय लगता है क्योंकि जब तक प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति नहीं हो जाती, तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। तत्त्वज्ञान से सञ्चित तथा क्रियमाण कर्मों की तो निवृत्ति हो जाती है, परन्तु प्रारब्ध कर्म नहीं नष्ट होते। प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही विनाश होता है। समस्त कर्मों का विनाश हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

प्रकरण से प्रतिपाद्य का वहाँ-वहाँ प्रशंसा करना ही अर्थवाद है। जैसे उसी स्थल में 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञात विज्ञातम्' 'क्या तुमने उस आदेश को (उपदेश को या सारांश रूप में उस वस्तु को) पूछा है (जाना है) जिसको पूछने से (अर्थात् जान लेने से) न सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है, अमत भी मत हो जाता है, अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है?' इस प्रकार से अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गयी है।

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा— तत्र 'यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।

आदिश्यतेऽसौ आदेशः अर्थः, तमर्थमप्राक्ष्यः पृष्टवानसीत्यर्थः।

प्रकरण से प्रतिपाद्य अर्थ के साधन में वहाँ वहाँ श्रूयमाण युक्ति का उपपादन करना ही उपपत्ति है। जैसे वहीं पर 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' हे सोम्य! जैसे एक ही मृण्मय पिण्ड (मिट्टी से बने हुए पिण्ड) को जान लेने से समस्त मृण्मय विज्ञात हो जाते हैं; विकार वाणी से किया जानेवाला आरम्भण मात्र है, विकार तो नाममात्र है, मिट्टी ही केवल सत्य है, इस प्रकार से अद्वितीय वस्तु के साधन में विकार को केवल नाममात्र बताते हुए विकारमात्र को वाचारम्भणमात्र बताने में युक्ति का श्रवण प्राप्त होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम पाँच अध्याय उपासना विधिपरक हैं, निर्गुणब्रह्म स्वरूपनिरूपणपरक नहीं हैं। छठें से लेकर तीन अध्याय दहरविद्या को छोड़कर निर्गुणब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले हैं। भगवत्पाद आचार्य शङ्कर इस उपनिषद् का भाष्य प्रारम्भ करते हुए सम्प्रदाय के अनुसार कर्मकाण्ड के साथ इसके सम्बन्ध को बताते हैं। वेद का अन्तिम भाग उपनिषद् पूर्वभाग से किसी न किसी विषय के रूप में सम्बद्ध ही होना चाहिए, अन्यथा असम्बद्ध प्रलाप सा होने लगेगा। सङ्गति इसी कारण अपेक्षणीय होती है। पूर्वभाग का उत्तरभाग के साथ सम्बन्ध यह है कि मनुष्य के पुरुषार्थसम्पादनार्थ उपदेश के लिए वेद प्रवृत्त हुए हैं। पुरुषार्थ तीन प्रकार के हैं ऐहिक (इस जन्म में प्राप्त होनेवाले) धन पुत्र-पशु आदि, आमुष्मिक (मरणोपरान्त प्राप्त होनेवाले) स्वर्ग आदि तथा दुःखनिवृत्ति। ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों ही प्रकार के पुरुषार्थ कर्मसाध्य, अनित्य तथा दुःखमिश्रित हैं, इनकी प्राप्ति के उपाय पूर्वकाण्ड में समग्रता से बताये गये। उपनिषदों में वर्णित चरम पुरुषार्थ मोक्ष दुःखनिवृत्तिरूप है तथा निरतिशय आनन्द से संवलित है, परन्तु कर्म से साध्य नहीं है, सिर्फ़ तत्त्वज्ञान से साध्य है। उस तत्त्वज्ञान का सम्पादन करने के लिए आत्मा के स्वरूप का बोधन करने के लिए वेदान्तों (उपनिषदों) की प्रवृत्ति हुई है। इसी कारण पूर्वकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड का सम्बन्ध दिखाते हुए प्रथम पाँच अध्यायों में उपासना का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ अध्याय के द्वारा उपक्रम आदि षड्विध तात्पर्यलिङ्गों से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है, इसको तो मूलकार सदानन्द यति ने ही प्रतिपादित किया।

ईशावास्योपनिषद् में *'ईशावास्यमिदं सर्वम्'* यह सब कुछ ईशरूप से ही ज्ञातव्य है, इस प्रकार से उपक्रम करने के उपरान्त *'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्'* वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है आकाश की तरह, शुद्ध ज्योतिष्दीप्तिमान् है, शरीररहित है, पाप से वर्जित है, इस प्रकार से उपक्रम तथा उपसंहार से अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन प्राप्त होता है। *'तदन्तरस्य सर्वस्य'* वह सबके अन्तर में विद्यमान है, इसका बारम्बार वर्णनरूप अभ्यास प्राप्त होता है। *'नैनद्देवा*

आप्नुवन्' इस आत्मा को देव[1] नहीं प्राप्त कर सके, इस प्रकार से उस आत्मा के ज्ञान की अपूर्वता बतायी गयी। *'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'* एकत्व को देखनेवाले के लिए क्या मोह है और क्या शोक है?, इस प्रकार से आत्मज्ञान का फल बताया गया। *'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।'* देवताओं तथा असुरों के लोक अन्ध तमस् के द्वारा आवृत हैं, जो आत्मा को नहीं जाननेवाले हैं, मरणोपरान्त उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार से आत्मा को न जाननेवालों की निन्दा करते हुए आत्मज्ञान की स्तुति की गयी है, जो कि अर्थवाद है। *'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'* उस आत्मा के रहने पर ही वायु प्राणियों का धारण करता है, इस प्रकार से उपपत्ति का प्रदर्शन किया गया है।

केनोपनिषद् में *'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, मनसो मनो'* वह श्रोत्र का भी श्रोत्र है, मन का भी मन है, इस प्रकार से कहते हुए श्रोत्रादि का भी आत्मभूत जीवाभिन्न ब्रह्म है, ऐसा उपक्रम करके अन्त में उपसंहार किया जाता है कि *'प्रतिबोधविदितं मतम्'* हर एक बोध में साक्षी के रूप में आत्मा विदित है, ऐसा उपसंहार किया गया है। इस प्रकार उपक्रमोपसंहार के द्वारा जीवाभिन्न ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। पुनः *'यद्वाचानभ्युदितं......तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'* जो वाणी के द्वारा कथित नहीं होता है, वाणी जिसके द्वारा कथनादि में समर्थ होती है, उसी को तुम ब्रह्म मानो, इस प्रकार से कहते हुए वाणी आदि के प्रेरक जीव के ही ब्रह्मत्व का बोधन करते हुए अभ्यास किया गया है। *'अमृतत्वं हि विन्दते'* अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार से आत्मज्ञान का फल अमृतत्वप्राप्ति है, ऐसा बताया गया। *'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'* इस मनुष्यजन्म में उस आत्मा को जान लिया तो उसका जन्म सत्य है (सत्य है), इस प्रकार से आत्मज्ञान की प्रशंसारूप अर्थवाद भी प्राप्त होता है। जीव का ब्रह्मरूप ज्ञात नहीं है, इस कारण अपूर्वता है। *'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि'* वह विदित से तथा अविदित दोनों से ही अन्य है, इस प्रकार से उपपत्ति भी प्रदर्शित की गयी है।

कठोपनिषद् में *'येयं प्रेते विचिकित्सा'* यह जो मृत पुरुषों के विषय में सन्देह है, इस प्रकार से उपक्रम कर सामान्यतः शरीरातिरिक्तरूप में पृष्ट आत्मा के *'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्'* धर्म से भी अन्य, अधर्म से भी अन्य; इस प्रकार से शुद्धजीवपरत्व का बोधन किया गया है। अन्त में उपसंहार करते हुए *'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा'* अङ्गुष्ठमात्र पुरुष ही अन्तरात्मा है, से उपक्रम करते हुए तथा बीच में आत्मस्वरूप का *'तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत्'* उसको अपने शरीर से निष्कृष्ट चिन्मात्र जाने, इस तरह से शोधन करते हुए *'तं विद्याच्छुक्रममृतम्'* उसको शुद्ध अमृत जाने, इस प्रकार से जीव का ब्रह्माभेद बताते हुए उपसंहार किया गया। जीव का शोधित स्वरूप पूछा गया था, तथा अन्त में उसी को बताया गया। *'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'* वह आत्मा शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित अव्यय है, इस प्रकार से आत्मा का स्वरूप बताने में बार-बार अभ्यास किया गया। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' यह आत्मा प्रवचन से लभ्य नहीं है, *'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा'* इस आत्मा का वक्ता आश्चर्य है तथा इसका लब्धा कुशल है, इस प्रकार से आत्मज्ञान की अपूर्वता बतायी गयी है। *'ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः'* ब्रह्म

१. देव यानी इन्द्रियाँ। देवशब्द द्योतनार्थक दिव् धातु से सिद्ध हुआ है, इस कारण देवशब्द का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय है।

को प्राप्त कर मलरहित मृत्युरहित हो जाता है, इस प्रकार से फल बताया गया है। *'पुरमेकादशद्वारम्'* एकादश द्वारवाला नगर[1], इत्यादि के द्वारा प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार प्रशंसा से यह बात ध्वनित होती है, जिस प्रकार राजा अपने अनेक द्वारों से युक्त भवन में रहता है, उसी प्रकार से आत्मा भी है। *'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः'* अर्थ इन्द्रियों से पर हैं, अर्थ से पर मन है, इस प्रकार से क्रमपूर्वक आत्मा की परमसूक्ष्मता बताते हुए उपपत्ति प्रदर्शित की गयी है।

मुण्डकोनिषद् के प्रारम्भ में *'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'* हे भगवन्! वह क्या है,जिसको जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है, इस प्रकार से एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी। आगे *'यत्तदद्रेश्यम्'* इत्यादि के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का कथन किया गया है। बीच में *'पुरुष एवेदं सर्वम्'* यह सब कुछ पुरुष ही है, इस प्रकार से कहते हुए अभ्यास किया गया। *'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'* अव्यय परब्रह्म में सब एक हो जाते हैं, *'परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'* परम ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है, इस प्रकार से फल बताया गया। *'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः'* यह आत्मा प्रवचन के द्वारा लभ्य नहीं है, इस प्रकार से उस ब्रह्मज्ञान की अपूर्वता बतायी गयी। *'यं यं लोकं मनसा संविभाति'* जिस जिस लोक को मन से विचार करता है, इत्यादि के द्वारा **अर्थवाद** का प्रदर्शन किया गया है। *'न तत्र सूर्यो भाति'* उसमें सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता, *'एतस्माज्जायते प्राणः'* इसी से प्राण उत्पन्न होता है, इस प्रकार उपपत्ति प्रदर्शित की गयी है।

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में भी इन छह तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों का प्रदर्शन प्राप्त होता है। इस उपनिषद् में *'इहैवान्तःशरीरे पुरुषः यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्ति'* यहीं शरीरान्तः में ही पुरुष है जिसमें प्राण आदि सोलह कलायें रहती हैं, इस प्रकार से जीव का ही उपक्रम करके *'स एषोऽकलोऽमृतो भवति'* वह यह जीव निष्कल तथा अमृत हो जाता है, इस प्रकार से उपसंहार के द्वारा ज्ञानसम्पन्न जीव के लिए प्रपञ्च की समाप्ति का प्रदर्शन किया गया है। *'तं वेद्यं पुरुषं वेद'* उस वेद्य पुरुष को जाना, इस प्रकार से आत्मज्ञान की अपूर्वता का प्रदर्शन किया गया। *'मा वो मृत्युः परिव्यथा'* तुमको मृत्यु व्यथित न करे, इस प्रकार से फल बताया गया। *'स ईक्षाञ्चक्रे'* उसने ईक्षण किया, इस प्रकार सृष्टि का कथन अर्थवाद है। वही उपपत्तिरूप कार्य से कारण का अनुमान है।

माण्डूक्य उपनिषद् में *'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्'* ओम् यह अक्षर ही सब कुछ है, इस प्रकार से अक्षरब्रह्म का उपक्रम करने के उपरान्त *'नान्तःप्रज्ञम् न बहिःप्रज्ञम्'* न तो अन्तःप्रज्ञ न तो बहिःप्रज्ञ, इस प्रकार से उपसंहार किया गया। विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ के रूप में आत्मा का ही विशेष रूप में अभ्यास किया गया। *'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः'* मात्रा से रहित, तुरीय (जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से परे), अव्यवहार्य (किसी भी प्रकार के व्यवहार=अभिधानाभिधेयभाव का अविषय), प्रपञ्च का उपशम, शिव ही अद्वैत है, इस प्रकार से तुरीय की ब्रह्मरूपतारूपा अपूर्वता बतायी गयी। *'आत्मैव संविशत्यात्मना'* आत्मा ही

१. जिस प्रकार राजा अनेक द्वारों से युक्त अपने भवन में रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी। इसी कारण उपर्युक्त कथन से प्रशंसा अभिव्यक्त हो रही है।

मननं तु—श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।

अनवरतमिति। शरीरयात्रासमयातिरिक्तसमय इत्यर्थः। व्यवधानेन कृतस्य फलाजनकत्वादिति भावः।

आत्मा में लीन हो जाता है, इस प्रकार से ब्रह्मभावरूप मोक्षफलोक्ति को बताया गया। *'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म'* यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इस प्रकार से उपपत्ति का प्रदर्शन किया गया। *'प्रपञ्चोपशमः'* इस प्रकार से प्रपञ्च के मिथ्यात्व के प्रदर्शन के द्वारा अधिष्ठान के सत्यत्व की उपपत्ति होती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त है, इस प्रकार से उपक्रम किया, फिर *'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये'* वह यह (आत्मा) पुरुष में तथा आदित्य में भी है, इस प्रकार से ब्रह्म का जीव से अभेद कहा गया। *'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'* ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता को जान लेनेवाला किसी से भी भयभीत नहीं होता है, इस प्रकार से उपसंहार भी किया गया है तथा फल का प्रदर्शन भी किया गया। पञ्चकोशविवरण के द्वारा *'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'* ब्रह्मपुच्छ ही प्रतिष्ठा है, इस प्रकार से सभी की प्रतिष्ठा ब्रह्म को बताया गया, यही अर्थवाद है। सृष्टि का प्रदर्शन ही उपपत्ति है।

ऐतरेय उपनिषद् में *'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'* पहले यह एक ही आत्मा था, इस प्रकार से अद्वितीय ब्रह्म का उपक्रम किया गया, *'प्रज्ञानं ब्रह्म'* प्रज्ञान ब्रह्म, इस प्रकार से उपंहार किया गया। *'एतमेव ब्रह्म ततमपश्यत्'* एक ही ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त देखा, इस प्रकार से अभ्यास किया गया। जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य उपनिषद् के द्वारा प्रतिपाद्य है, यही अपूर्वता है। *'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदम्'* गर्भ में रहते हुए इसको जाना, इस प्रकार से प्रशंसा की गयी है, यही अर्थवाद है। उस ब्रह्मज्ञान का फल बताया गया है *'अमृतः समभवत्'* अमृत हो गया। *'यदि वाचाभ्याहृतम्'* यदि वाणी से कथित है, इस प्रकार से प्रारम्भ करके *'अथ कोऽहमिति'* अनन्तर मैं कौन हूँ, यह उपपत्ति प्रदर्शित की गयी है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में *'आत्मेत्येवोपासीत'* आत्मा इसकी उपासना करनी चाहिए, इस प्रकार से उपक्रम करने के बाद *'तदेतत् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'* वह यह ब्रह्म पूर्व नहीं है, पर नहीं है, अन्दर नहीं है तथा बाह्य नहीं है, इस प्रकार से उपसंहार किया गया है। *'अनेन ह्येतत् सर्वं वेद आत्मनि खल्वरे विदिते सर्वं विदितम्'* इससे इस सबको जानता है, अरे इस आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है, इस प्रकार से अभेद का अभ्यास किया गया है। *'तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः'* इस कारण इनका यह प्रिय नहीं है यदि मनुष्य इसको जान लें, इस प्रकार से अपूर्वता का प्रदर्शन किया गया है। *'तस्मात् तत् सर्वमभवत्'* इसकारण वह सब हो गया, इस प्रकार से फल प्रदर्शित किया गया है। *'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्'* जब सबकुछ इसका आत्मा ही हो गया, इस प्रकार ब्रह्मविद्या की प्रशसा की गयी है, जो कि अर्थवाद है। मैत्रेयीब्राह्मणोक्त आत्मा के दर्शन से *'सर्वं विदितम्'* इस प्रकार की उपपत्ति का प्रदर्शन किया गया।

श्रुत अद्वितीय वस्तु का वेदान्तों के अनुकूल युक्तियों के द्वारा अनवरत अनुचिन्तन करना ही तो मनन है।

वेदान्तों के अनुकूल युक्तियों के द्वारा अनुचिन्तन को मनन कहा गया। पुरुष की बुद्धि से उत्प्रेक्षित शुष्क

विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। समाधिर्द्विविधः— सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति।

तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम्—

ज्ञानादीत्यत्र आदिशब्देन ज्ञेयमुच्यते। **दृशिस्वरूपमि**ति। चिद्रूपमित्यर्थः। **गगनोपममि**ति। असङ्गमित्यर्थः। **सकृदि**ति। स्वप्रकाशमित्यर्थः। **अक्षरमि**ति। नाशशून्यमित्यर्थः। **अलेपकमि**ति। लेपः संसारः। **तदेव चे**ति। तथा च न ज्ञातृज्ञेयादिविकल्पलय इति भावः।

तर्कों से आत्मविषयक चिन्तन करना मनन नहीं है। अनवरत चिन्तन करने का तात्पर्य शरीरयात्रा का निर्वाह करने के लिए आवश्यक कर्मों को करने में जो समय लगता है, उससे अतिरिक्त समय में चिन्तन करने से है। निद्रा आदि के काल में चिन्तन करना सम्भव ही नहीं है तथा व्यवधान से किया हुआ चिन्तन आत्मसाक्षात्कार को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। इसीलिए अनवरत का अर्थ इसी रूप में लेना चाहिए। विद्वन्मनोरञ्जनी के लेखक तो अनवरत शब्द का अर्थ मनन की अवश्यकर्तव्यता के रूप मे लेते हैं।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य तो *'आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते'* (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक २/४/२१४) आगमार्थ के विनिश्चय के लिए मन्तव्यः ऐसा कहा जाता है, ऐसा कहते हुए मनन का प्रयोजन आगमजन्यवाक्यार्थ का दृढ निश्चय बताते हैं। वहीं पर आनन्दगिरि की टीका है *'श्रुत्यादिना ज्ञातस्य तत्त्वस्यासम्भावनादिनिरासेन निश्चयार्थं द्वैतमिथ्यात्वसाधको यस्तर्कस्तदनुसन्धानं मन्तव्य इत्युच्यत इत्यर्थः'* (द्रष्टव्य-पृ६९३, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी) श्रुति आदि के द्वारा ज्ञात तत्त्व के विषय में असम्भावना आदि का निरास करके निश्चय कराने के लिए द्वैत के मिथ्यात्व को सिद्ध करनेवाले जो तर्क हैं, उन तर्कों का अनुसन्धान ही मनन है।

श्रवण के उपरान्त भी वासनावशात् कदाचित् असम्भावनाबुद्धि हो सकती है, इस कारण इस असम्भावनाबुद्धि के निराकरणार्थ मनन करना आवश्यक है। वेदान्तानुकूल युक्तियों के द्वारा अनुचिन्तन करने पर असम्भावनाबुद्धि निवृत्त हो जाती है तथा वेदान्तावबोधित अर्थों में दृढनिश्चय हो जाता है।

चैतन्य से विजातीय देह, इन्द्रिय, बुद्धि, प्राण आदि के रूप में आत्मप्रत्यय से रहित अद्वितीय वस्तु के सजातीय प्रत्यय का प्रवाह ही निदिध्यासन है।

समाधि तो दो प्रकार की है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्पों के लयों की अपेक्षा किये बिना अद्वितीय वस्तु में अद्वितीयवस्त्वाकाराकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान ही सविकल्पक समाधि है। उस सविकल्पक समाधि की अवस्था में जैसे मृण्मय हाथी का भान होने पर भी वह मिट्टी है, ऐसा भान होता ही है, उसी प्रकार द्वैत का भान होने पर भी अद्वैत वस्तु भासित होती है। जैसा कि कहा गया है—

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ओम्॥" इति।

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षया अद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति, उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः।

अतितरामिति। विस्पष्टमनवभासनादिति भावः। दृष्टान्तमाह— **जलेति**। निर्विकल्पकसमाधेर्निद्रातो विशेषमाह— **ततश्चेति**। यद्यपि सुषुप्तिदशायामविद्यावृत्तिसद्भावोऽस्त्येव, तथाप्यन्तःकरणवृत्त्यभावेन वैषम्यम्।

"दृशिस्वरूप (चिद्रूप), गगनोपम (आकाश के समान असङ्ग), पर (श्रेष्ठ), सदा एकसमान प्रकाशित (स्वयम्प्रकाश), अज (अजन्मा), एक, अक्षर (अविनाशी), अलेपक (संसार में निर्लिप्त), सर्वगत (विभु=व्यापक), जो अद्वितीय है, वही सतत विमुक्त ओङ्कार मैं भी हूँ"।

इस प्रकार के आत्मस्वरूप के प्रदर्शन से पता चलता है कि सविकल्पक समाधि की दशा मे ज्ञाता, ज्ञेय आदि विकल्पों का लय नहीं होता।

ज्ञातृ, ज्ञान आदि विकल्पों के लय की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु में अद्वितीयवस्त्वाकाराकारित चित्तवृत्ति का अतिशय एकीभाव से अवस्थान ही निर्विकल्पक समाधि है। उस निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में जलाकाराकारित लवण के अनवभास तथा जलमात्र के अवभास की तरह अद्वितीय वस्तु के आकार में आकारित चित्तवृत्ति का भी अवभासन न होने के कारण अद्वितीय वस्तुमात्र का अवभासन होता है। इस कारण ही इस निर्विकल्पक समाधि की अवस्था का सुषुप्ति अवस्था के साथ अभेद की आशङ्का नहीं है क्योंकि दोनों में ही— निर्विकल्पक समाधि तथा सुषुप्ति में—वृत्ति का भान न होना समान होने पर भी उस वृत्ति के सद्भाव तथा असद्भाव से दोनों में भेद उपपन्न होता है।

अद्वितीय वस्तुमात्र शुद्ध चैतन्य के ही होने पर भी अनेकता का भान किस प्रकार से होता है? इसके उत्तर में वेदान्ती समाधान देते हैं कि एक ही वस्तु ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय इन विकल्पों में भासित होती है। इन तीन विकल्पों में जो भासित होता है, वह सब कुछ औपाधिक होने के कारण मिथ्या है। शुद्ध चैतन्य तो इन सारे ही बुद्धिविकल्पों से परे है। जब इन समस्त बुद्धि के विकल्पों का लय हो जाता है, तदुपरान्त ही अद्वितीय वस्तु में अद्वितीय वस्त्वाकाराकारित चित्तवृत्ति बनती है, जिसको कि निर्विकल्पक समाधि कहा जाता है। जैसे जल में मिला दिया गया नमक रहने पर भी दिखायी नहीं देता, केवल जलमात्र ही प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार अद्वितीयवस्त्वाकाराकारित चित्तवृत्ति रहने के बावजूद अनुभूत नहीं होती, अद्वितीय वस्तुमात्र ही भासित होता है।

निर्विकल्पक समाधि तथा सुषुप्ति के मध्य यह समानता है कि सुषुप्ति की अवस्था में भी कोई वस्तु भासित नहीं होती है, न तो ज्ञाता, न तो ज्ञान और न ही ज्ञेय ही। समान रूप से निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में भी कोई वस्तु भासित नहीं होती है, न तो ज्ञाता, न तो ज्ञान और न ही ज्ञेय। परन्तु इस समानता के होने पर भी यह अन्तर है कि निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में अद्वितीय वस्त्वाकाराकारित चित्तवृत्ति रहती है, परन्तु भासित नहीं होती। किन्तु सुषुप्ति की अवस्था में न तो कोई चित्तवृत्ति रहती है और न ही भासित होती है। यद्यपि सुषुप्ति की अवस्था में भी अविद्या की वृत्ति तो रहती ही है, उसी अविद्या की वृत्ति के द्वारा आनन्दानुभव सुषुप्ति की अवस्था में होता है, तथापि यह अविद्या की वृत्ति अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है। निर्विकल्पक समाधि में तो जो वृत्ति है वह चित्त की (अन्तःकरण की)ही वृत्ति है। इस कारण निर्विकल्पक समाधि तथा सुषुप्ति में वैषम्य उपपन्न होता है।

सदानन्द की इस व्याख्या से अद्वैत के अनेक आचार्य अपनी सम्मति नहीं रखते। सिद्धान्तबिन्दु की न्यायरत्नावली व्याख्या में गौड़ब्रह्मानन्दसरस्वती वेदान्तसार के इस मत की आलोचना करते हैं। चित्त का अखण्डाकार में परिणाम ही असम्प्रज्ञात या निर्विकल्पक समाधि है, ऐसा वेदान्तसार के लेखक सदानन्द ने प्रतिपादन किया। गौड़ब्रह्मानन्दसरस्वती की आलोचना यह है कि यदि निर्विकल्पक समाधि तथा सुषुप्ति में वृत्ति का भान न होना समान होने पर भी यही अन्तर हो कि सुषुप्ति में तो अविद्या की वृत्ति रहती है, परन्तु निर्विकल्पक समाधि की दशा में अविद्या की वृत्ति नहीं रहती, मन की वृत्ति रहती है। तो इस स्वीकृति से *'मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्'* मोक्षदशा में निर्विषय होता है, इस श्रुति से विरोध होगा। अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी अखण्डविषयक है ही, इस कारण निर्विकल्पकसमाधि की दशा में निर्विषयता की बात नहीं बन पायेगी। इसी प्रकार अन्य श्रुति भी है *'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह' 'तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि'* जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ अवस्थित (वृत्तिहीन) हो जाती हैं, उसको शान्त आत्मा में समाहित कर दे। इस श्रुति के अनुसार भी मन की किसी वृत्ति का न होना आवश्यक है। परन्तु वेदान्तसार के अनुसार तो निर्विकल्पक समाधि की दशा में भी मन की वृत्ति है। इस कारण यह मानना आवश्यक है कि निर्विकल्पक समाधि की दशा में प्रमाता का भान नहीं होता, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि सुषुप्ति से भिन्न काल में सर्वदा ही प्रमाता का भान होता है। यहाँ तक कि यह भी नहीं माना जा सकता है कि सुषुप्ति तथा निर्विकल्पक समाधि से अतिरिक्त काल में प्रमाता का भान होता है। शाब्दबोधादि के स्थल में शाब्दबोधकाल में प्रमाता का बोध होता है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। इस कारण निर्विकल्पक समाधि की दशा में प्रमाता का भान नहीं होता, यही मानना उचित है। सम्प्रज्ञात समाधि मनोदेहादिभिन्न रूप में साक्षी का ज्ञानप्रवाहरूप ही है। *'अहं ब्रह्मास्मि'* मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार के शाब्दज्ञान के उपरान्त तादृशबुद्धिप्रवाहरूप ही यह सविकल्पक समाधि है। निर्विकल्पक समाधि तो समस्त वृत्तिशून्य निरोधरूप में परिणत मन ही है। उस निर्विकल्पक समाधि की दशा में सुषुप्ति की दशा से वैलक्षण्य इतना ही है कि सुषुप्ति में अविद्या की वृत्ति रहती है, परन्तु निर्विकल्पक समाधि की दशा में मन समस्तवृत्तियों से शून्य होता है, यहाँ तक कि अविद्या की वृत्ति भी नहीं रहती। इस विवेचन के लिए सिद्धान्तबिन्दु की न्यायरत्नावली व्याख्या (पृ.१९, सिद्धान्तविन्दु, न्यायरत्नावलीयुत, महेश

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः।
तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

अस्येति। निर्विकल्पकसमाधेरित्यर्थः। समाधिशब्देन सविकल्पकः समाधिरुच्यते। **अस्तेयेति** पदच्छेदः। **प्रणिधानं** सेवनम्। उत्तरो ग्रन्थः स्पष्टः।

अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी) द्रष्टव्य है।

निर्विकल्पक समाधि का निरूपण करने के बाद इसके अङ्गों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

इसके अङ्ग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।

उसमें से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।

अहिंसा का अर्थ है हिंसा न करना। हिंसा का अर्थ है अशास्त्रीय प्राणिवध। प्राणिवध दो प्रकार के हो सकते हैं, एक वे जो शास्त्रों में विहित हैं यथा अनेक यज्ञों में जो हिंसा का विधान किया गया है। उस प्रकार की शास्त्रीय हिंसा वस्तुतः हिंसा नहीं है। इस कारण अशास्त्रीय हिंसा न करना ही अहिंसा है। वह अशास्त्रीय हिंसा भी कृत (करना), कारित (कराना) तथा अनुमोदित (स्वीकृति देना) के भेद से तीन प्रकार की होती है। इसी प्रकार सत्य का तात्पर्य है यथार्थभाषण। परन्तु अवध्य हिंसा आदि का अनुबन्धी जो यथार्थभाषण है, जिस सत्यवचन से किसी अवध्य गाय आदि की हिंसा हो सकती हो, ऐसा सत्यभाषण भी वस्तुतः असत्य ही है। इस कारण अहिंसा का तात्पर्य है अनृत का वर्जन। अनृत के दो अर्थ हैं अयथार्थभाषण तथा अवध्यहिंसानुबन्धी—अवध्य की हिंसा करानेवाला— यथार्थभाषण। इन दोनों का परिवर्जन ही अहिंसा है। अस्तेय का अर्थ है, स्तेय का परिवर्जन। स्तेय का अभिप्राय है अशास्त्रीय मार्ग से परद्रव्य का स्वीकार करना। जिस प्रक्रिया से शास्त्र परद्रव्य की स्वीकृति की मान्यता नहीं देता, उस प्रक्रिया से परधन को स्वीकार करना ही स्तेय है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है मैथुन का त्याग। मैथुनमात्र का त्याग अपेक्षणीय नहीं है किन्तु केवल अशास्त्रीय स्त्रीपुरुषसम्बन्धरूपी मैथुन का त्याग ही ब्रह्मचर्य है। अपरिग्रह का तात्पर्य है परिग्रह का वर्जन। परिग्रह का अर्थ है शास्त्र द्वारा अनिषिद्ध मार्ग का अनुसरण करते हुए देहयात्रा के लिए जितने भोग आवश्यक हैं, उनसे अधिक भोगों को स्वीकार करना। इस प्रकार के भोग का वर्जन ही अपरिग्रह है। इन पाँच को यम कहा जाता है क्योंकि यमशब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होता है उपरम=निवृत्ति; तथा इन पाँचों में ही निवृत्ति की बात की जा रही है।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

शौचादि नियमों को इस प्रकार से समझना चाहिए— शौच दो प्रकार के होते हैं बाह्य तथा आभ्यन्तर। मिट्टी, जल आदि के द्वारा शरीर आदि का प्रक्षालन करना, परिमित मात्रा में हितकारी तथा पवित्र भोजन करना ये बाह्य शौच है। मैत्री, मुदिता आदि के द्वारा चित्त के मलों का प्रक्षालन करना ही आन्तरिक शौच है। विद्यमान भोगों के उपकरणों से अधिक उपकरणों को प्राप्त करने की इच्छा न करनारूपा चित्तवृत्ति ही सन्तोष है। भूख-प्यास,

करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि।
रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः।
इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।
अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा।
तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्।

शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहना, काष्ठमौन (सङ्केत के द्वारा भी अपने अभिप्राय को न प्रकट करना), आकारमौन (आकार से मौन रहते हुए भी सङ्केत के द्वारा अपने अभिप्राय को प्रकट करना) आदि मौनव्रतों का पालन करना आदि तप है। स्वाध्याय का तात्पर्य है मोक्षशास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणव (ॐकार) का या वेद का जप। ईश्वरप्रणिधान का तात्पर्य है समस्त कर्मों के फल की अपेक्षा का परित्याग कर ईश्वर को समर्पित करना। ये पाँच नियम निवृत्तिपरक यम के विपरीत विधिरूप हैं।

हाथ, पैर आदि के संस्थानविशेष पद्म, स्वस्तिक आदि आसन हैं।

स्थिरता से बैठने के अनेक प्रकारों को आसन कहा जाता है। ये पद्मासन, सिद्धासन आदि के भेद से विविध प्रकार के हैं।

रेचक, पूरक और कुम्भकरूपी प्राण का निग्रह करने के उपाय हैं प्राणायाम।

प्राण को निगृहीत करने के उपाय हैं प्राणायाम। ऐसे तो प्राणायाम के विविध प्रकार हैं तथापि रेचक, कुम्भक तथा पूरक उनमें प्रमुख हैं। रेचक का तात्पर्य है रोकी हुई प्राणवायु का त्याग। कुम्भक का अर्थ है प्राणवायु को रोक कर रखना। पूरक का अर्थ है प्राणवायु को भरना।

इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से वापस लौटा लेना ही प्रत्याहार है।

हर एक इन्द्रिय के अपने-अपने विषय हैं, यथा चक्षु का विषय है रूप, रसना का विषय है रस। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के भी विविध विषय हैं। उन-उन विषयों से इन्द्रियों को लौटा लेना ही प्रत्याहार है।

अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में अन्तरिन्द्रिय अर्थात् मन को धारित करना धारणा है।

योगसूत्र के अनुसार 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' चित्त को किसी एक देश से बाँधकर रखना ही धारणा है। परन्तु योगसूत्र की उक्त परिभाषा से वेदान्तसार का मतभेद दिखता है। वेदान्तसार के अनुसार अद्वितीय वस्तु में *अन्तरिन्द्रिय* को धारित करना ही धारणा है।

अपरोक्षानुभूति में भगवत्पाद आचार्य शङ्कर ने—

'यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता।।' अपरोक्षानुभूति—१२२

जहाँ-जहाँ मन जाये, वहाँ-वहाँ ब्रह्म को देखना तथा वहाँ वहाँ मन को ब्रह्मभाव में धारण करना ही श्रेष्ठ धारणा बताया है।

समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव।

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति।

लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा।

अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः।

लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्ड-वस्त्वनवलम्बनं कषायः।

अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः, समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निवातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्य-मात्रमवतिष्ठते यदा, यदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।

उसमें अद्वितीय वस्तु में अन्तरिन्द्रिय का रुक-रुक कर प्रवाहित होना ही ध्यान है।

समाधि तो वही है, जिसको कि सविकल्पक समाधि कहा गया है।

समाधि दो प्रकार की बतायी गयी एक तो अङ्ग दूसरी अङ्गी। सविकल्पक अङ्ग है, निर्विकल्पक अङ्गी। सविकल्पक के उपरान्त ही व्यक्ति निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में जा सकता है।

इस अङ्गी निर्विकल्पक समाधि के लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद रूपी चार विघ्न सम्भावित हैं।

अखण्डवस्तु का अवलम्बन न करने से चित्त की निद्रावृत्ति ही लय है।

अखण्डवस्तु का अवलम्बन न करने से चित्त के द्वारा अन्य वस्तु का अवलम्बन कर लेना ही विक्षेप है।

लय तथा विक्षेप के न रहने पर भी राग आदि वासनाओं के कारण चित्त की वृत्ति के स्तब्ध हो जाने के कारण अखण्डवस्तु का अवलम्बन न करना ही कषाय है।

अखण्डवस्तु का अवलम्बन न करने पर भी चित्तवृत्ति के द्वारा सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करना अथवा समाधि के आरम्भ के काल में सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करना ही रसास्वाद है।

इस विघ्नचतुष्टय (चार प्रकार के विघ्नों) से रहित चित्त जब निर्वात में रखे हुए दीप की तरह अचल हो जाता है, तथा अखण्डचैतन्यमात्र का अवलम्बन करता है, तो वही अवस्था निर्विकल्पक समाधि की अवस्था कही जाती है। जैसा कि कहा गया है—

'चित्त यदि लय होने लगे तो उस चित्त को सम्बोधित करे, विक्षिप्त हो तो उसका शमन करे, सकषाय होने लगे तो उसे जाने (जानकर उसको रागादि से हटाये), जब चित्त समप्राप्त हो जाये तो उसको न चलाये, उस

सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्।।
नास्वादयेत्सुखं[1] तत्र निस्सङ्गः प्रज्ञया भवेत्" इति।
"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" इति च।

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम— स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते, अज्ञानतत्कार्यसञ्चित-कर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः;

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।" इत्यादिश्रुतेः।

विक्षेपादीनां दोषत्वे सम्मतिमाह— **तदुक्तमिति।**

प्रसङ्गादाह— **अथेति।** जीवन्मुक्तो नाम ब्रह्मनिष्ठ इति सम्बन्धः। प्रपञ्चसत्त्वात्कथं ब्रह्मनिष्ठत्वम्? तत्राह—**अखिलेति।** बन्धराहित्ये हेतुमाह— **अज्ञानेति। सञ्चितेति।** प्रारब्धकर्मणां तु भोगेनैव क्षयः, 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति वचनात्।

सविकल्पक समाधि की दशा में सुख का आस्वादन न करे, तथा प्रज्ञा से निःसङ्ग हो जाये'

तथा अन्यत्र भी—

'जैसे निर्वात में रखा हुआ दीप चलायमान नहीं होता, वही निर्विकल्पकसमाधि में लग्न चित्त की उपमा है'।

दीपक जब निर्वात स्थान पर रखा रहता है, तो उसकी लौ में कोई कम्पन नहीं होता। इसी प्रकार चित्त में जब कोई कम्पन न हो, वही अवस्था निर्विकल्पक समाधि की अवस्था है। सविकल्पक समाधि से निर्विकल्पक की ओर बढ़ने में लय, विक्षेप आदि ये चार विघ्न सम्भावित हैं। इन विघ्नों को किस प्रकार से वश में करे इसे यहाँ पर स्पष्ट किया गया।

निर्विकल्पकसमाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। इस कारण—

अब—निर्विकल्पक समाधि का निरूपण करने के बाद—जीवन्मुक्त का लक्षण कहा जा रहा है। अपने स्वरूप अखण्ड ब्रह्म को जान लेने के कारण ब्रह्मविषयक अज्ञान के बाधन के द्वारा अपने स्वरूप अखण्डब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर, अज्ञान तथा अज्ञानकार्यभूत समस्त सञ्चित कर्मों, संशय, विपर्यय आदि के भी बाधित हो जाने के कारण समस्त बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ ही जीवन्मुक्त है। श्रुति भी कहती है—

'हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त सन्देह निवारित हो जाते हैं, उस पर तथा अवर के दिख जाने पर इसके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं'।

ब्रह्मनिष्ठ ही जीवन्मुक्त है, इस प्रकार से अन्वय करना चाहिए। जब तक व्यक्ति जीवित है, तब तक संसार का

१.नास्वादयेद्रसं इत्यपि पाठान्तरम्।

न च सञ्चितस्यापि ज्ञानेन नाशे मानाभावः? 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इति वचनस्यैव मानत्वात्।

न च प्रारब्धसञ्चितयोरभेदः, प्रायणकाले चोद्बुद्धवृत्तिकस्य प्रारब्धत्वात्, अनुद्बुद्धवृत्तिकस्य तु सञ्चितत्वादिति भावः। अज्ञानादिबाधने हेतुमाह—स्वेति। तत्र सम्मतिमाह— भिद्यत इति। हृदयग्रन्थिः चिदचिद्ग्रन्थिः, अहङ्कार इति यावत्। अज्ञानादिसकलस्य बाधनात् परममुक्तित्वमेव युक्तम्, न तु जीवन्मुक्तित्वम्।

प्रत्यक्ष होता ही रहता है, भूख-प्यास आदि तो उसी प्रकार से लगते रहते हैं, फिर ब्रह्मनिष्ठ किस कारण कहा जा सकता है? इसी का समाधान दिया कि अखण्डब्रह्म का ज्ञान हो जाने के कारण ब्रह्मविषयक अज्ञान बाधित हो जाता है, इस कारण ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इस वजह से अज्ञान भी निवृत्त हो जाता है, साथ ही साथ अज्ञान के कार्य जो सञ्चित कर्म, संशय तथा विपर्यय आदि हैं, उनकी भी निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य भूत सञ्चित कर्म आदि के नष्ट हो जाने के कारण इस संसार में रहते हुए भी वस्तुतः कोई बन्धन नहीं रहता। इसी कारण वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है। प्रपञ्च के रहने पर भी उसके लिए कोई प्रपञ्च नहीं है, क्योंकि उसके लिए कोई बन्धन नहीं है, इसी कारण उसको ब्रह्मनिष्ठ कहा जा रहा है। ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने के कारण सञ्चित कर्मो का तो क्षय हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता है क्योंकि वचन है कि *'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'* विना भोग किये सैकड़ों करोड़ कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं होता है। प्रश्न हो सकता है कि इस श्रुतिवाक्य के द्वारा तो यह कहा जा रहा है कि विना भोग किये सैकड़ों करोड़ कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं होता। फिर यह कैसे निर्धारण किया जा रहा है कि इसके द्वारा प्रारब्ध कर्मों का ही विनाश विना भोग किये नहीं होता। सञ्चित कर्मों का भी तो विना भोग किये विनाश नहीं होना चाहिए? तो यह बात तो सही है, परन्तु गीता में वचन प्राप्त होता है कि *'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन!'* हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मो का विनाश कर देती है। इस प्रकार इस गीतावचन तथा ऊपर उद्धृत श्रुतिवचन का परस्पर विरोध होने के कारण दोनों ही वचनों की सङ्गति लगाने के लिए यह माना जाता है कि प्रारब्ध कर्मों का क्षय विना भोग किये नहीं होता तथा ज्ञानरूपी अग्नि समस्त सञ्चित कर्मों को भस्मसात् कर देती है।

वेदान्तसूत्रों में तदधिगमाधिकरण में चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के तेरहवें सूत्र 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' में इसका प्रतिपादन किया गया है कि तदधिगम होने पर— उस ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर—उत्तर तथा पूर्व कर्मों का क्रमशः अश्लेष तथा विनाश हो जाता है। तत्त्वज्ञान के उपरान्त जो कर्म किये जाते हैं, उनके फलों का कर्ता से सम्बन्ध नहीं होता, उनका फल नहीं प्राप्त होता है। पूर्व के जो पाप हैं, उन पापों का विनाश भी हो जाता है। आगे अनारब्धकार्याधिकरण में 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वेऽवधारितः' (ब्रह्मसूत्र ४/१/१५) में यह निर्धारित किया गया है कि वस्तुतः केवल उन्हीं कर्मों का विनाश ज्ञान के द्वारा हुआ करता है, जो सुकृत तथा दुष्कृत कर्म अभी अनारब्धकार्य हैं, अर्थात् जिन अच्छे या बुरे कर्मों का फल प्राप्त होना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ, उन समस्त कर्मों का विनाश ज्ञान के द्वारा हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेण, आन्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेण, अशनायापिपासाशोकमोहादि-भाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात् परमार्थतो न पश्यति,

तत्राह— **अयमित्यादिना**। **व्युत्थानेति**। समाधेः सकाशादिति शेषः। **ज्ञानेति**। ज्ञानाविरुद्धानि च तान्यारब्धफलानि चेति समासः। **बाधितत्वादिति**। अयं भावः— ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारेणाज्ञानादिसकलप्रपञ्चनिवृत्तावपि भोगैकनाश्यप्रारब्धस्यानिवृत्तेः पुनर्निवृत्तमपि प्रपञ्चं बाधितानुवृत्त्या पश्यति। अतो जीवन्मुक्तित्वम्।

न च तदानीं सकलकार्योपादानभूताज्ञानस्य निवृत्तेः कथं तत्कार्यस्य बाधितानुवृत्त्याऽपि सत्त्वम्, उपादानाभावे उपादेयस्यायोगादिति वाच्यम्? अज्ञानस्य सर्वथा अनिवृत्तेः। तथा हि—अज्ञानेऽस्मिन् शक्तित्रयम्। एका तावत्पारमार्थिकसत्त्वसम्पादनपटीयसी शक्तिः। तया च शक्त्या प्रपञ्चे पारमार्थिकत्वं स्फुरति। श्रवणाद्यभ्यासपरिपाकवशेन च सा निवर्तते। तस्यां च निवृत्तायां प्रपञ्चः पारमार्थिकतया न स्फुरति, किन्तु व्यावहारिकतया। अतोऽज्ञाने व्यावहारिकसत्त्वसम्पादनपटीयस्यपरा शक्तिर्विद्यते। सा च शक्तिरात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण निवर्तते। निवृत्तायां च तस्यां प्रपञ्चो न व्यावहारिकतया स्फुरति। किन्तु प्रारब्धस्य सत्त्वाद् बाधितानुवृत्त्या स्फुरति। अतः प्रातिभासिकसत्त्वसम्पादनपटीयस्यपि शक्तिरज्ञाने विद्यते। सा च भोगेन प्रारब्धक्षयेऽन्तिमतत्त्वसाक्षात्कारेणाज्ञानेन सह निवर्तते। ततो न प्रपञ्चस्फुरणम्।

कर्मों से अतिरिक्त समस्त सञ्चित तथा क्रियमाण, शुभ तथा अशुभ कर्मों के विनाश की बात ही ज्ञान के द्वारा कर्म के विनाश से कही गयी है।

यह पूछा जा सकता है कि जो अभी सञ्चित है, वही तो बाद में कभी प्रारब्ध कर्म होता है। फिर इस सञ्चित तथा प्रारब्ध का भेद किस प्रकार व्यवस्थापित किया जा सकता है? तो प्रायण (मृत्यु) के काल में जिस कर्म की वृत्ति उद्बुद्ध हो चुकी होती है, उस कर्म को प्रारब्ध कर्म कहा जाता है, तथा जिस कर्म की वृत्ति उद्बुद्ध नहीं हुई होती है, उसको सञ्चित कहते हैं।

ब्रह्मज्ञान हो जाने पर हृदय की ग्रन्थि भिद जाती है, ऐसा कहा गया। परन्तु वह हृदयग्रन्थि है क्या? तो वह हृदयग्रन्थि चिदचिद्ग्रन्थि ही है। चिदचिद्ग्रन्थि अहङ्कार ही है। अन्तःकरण ही चित् तथा अचित् के मध्य ग्रन्थि का कार्य करता है। अन्तःकरण ही चित् तथा जड के बीच की ग्रन्थि है। ब्रह्मज्ञान होने पर वह हृदयग्रन्थि टूट जाती है।

जैसे यह जादू है, ऐसा जाननेवाला व्यक्ति उस जादू को देखता हुआ भी यह परमार्थ है, ऐसे नहीं देखता। उसी प्रकार यह जीव भी समाधि से उत्थान के समय में मांस, रक्त, मूत्र, मल आदि के पात्रभूत इस शरीर से; अन्धता, मन्दता, पटुता, आदि के पात्रभूत इन्द्रियों के समूह से; भूख, प्यास, शोक, मोह आदि के पात्रभूत अन्तःकरण से पूर्व-पूर्ववासना के द्वारा क्रियमाण कर्मों को, ज्ञान के अविरोधी प्रारब्ध कर्मों के भोगे जाते हुए फलों को देखता

यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति, 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः। उक्तञ्च—

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयञ्च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः॥"

इति।

न च अत्र मानाभावः, 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति श्रुतेरेव मानत्वात्।

अत्र च 'अभिध्यान'शब्देन श्रवणाद्यभ्यासपरिपाक उच्यते। तस्माद्विश्वमायानिवृत्तिरिति प्रथमं सम्बन्धः। पारमार्थिकसत्त्वसम्पादनपटीयस्याः शक्तेर्नाशेन विशिष्टज्ञानस्यापि नाशान्मायेंत्युक्तम्। युज्यतेऽनेनेति योजनमात्मतत्त्वसाक्षात्कारः। तस्मादपि मायानिवृत्तिः, व्यावहारिकसत्त्वसम्पादनपटीयस्याः शक्तेर्नाशेन तद्विशिष्टस्याज्ञानस्य नाशात्। तत्त्वभावस्तत्त्वसाक्षात्कारस्तस्मात्, अन्ते प्रारब्धकर्मणां भोगेन क्षये विश्वमायानिवृत्तिः प्रातिभासिकसत्त्वसम्पादनपटीयस्या शक्त्या महाऽज्ञानस्य निवृत्तिः। भूयःशब्दश्च पारमार्थिकसत्त्वसम्पादनपटीयसीव्यावहारिकसत्त्वसम्पादनपटीयसीशक्तिविशिष्टाज्ञाननाशाय क्षयाभ्यासार्थक इत्यर्थः। एवञ्च तत्त्वसाक्षात्कारे विद्यमानेऽपि प्रारब्धस्य विद्यमानत्वात् प्रातिभासिकसत्त्वसम्पादनपटीयस्याः

हुआ भी बाधित होने के कारण परमार्थतः उनको नहीं देखता। श्रुति भी कहती है 'वह सचक्षु होता हुआ भी अचक्षु की तरह होता है, सकर्ण होता हुआ भी अकर्ण होता है'। अन्यत्र भी कहा गया है—

जगता हुआ भी जो सुषुप्त के समान अद्वय होने के कारण द्वैत को नहीं देखता है, तथा कर्म को करता हुआ भी जो निष्क्रिय है, वही आत्मवेत्ता है अन्य नहीं, यही यहाँ पर निश्चय है।

जीवन्मुक्ति किस कारण है, जब अद्वैतब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है तो प्रपञ्च तो रहा नहीं, जैसे शुक्ति को जान लेने पर सर्प तो तुरन्त ही निवृत्त हो जाता है, फिर अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर प्रपञ्च की निवृत्ति हो कर पुरुष को तुरन्त ही मुक्त हो जाना चाहिए। ऐसा क्यों नहीं होता? तो समस्त प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध की निवृत्ति तो केवल भोग से होती है, इस कारण निवृत्त भी प्रपञ्च को बाधितानुवृत्ति से देखता रहता है। इसी कारण विदेहमुक्ति के प्राक्काल में जीवन्मुक्ति आती है।

यह प्रश्न हो सकता है कि अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर समस्त कार्यों का उपादानभूत अज्ञान तो निवृत्त हो गया, फिर उसके कार्यभूत प्रपञ्च की सत्ता बाधितानुवृत्ति से भी किस प्रकार हो सकेगी? उपादानकारण के नष्ट हो जाने पर उस उपादानकारण का कार्य भी निश्चित रूप से नहीं रहेगा क्योंकि अज्ञान तो सर्वथा निवृत्त हो गया है। तो इसका समाधान यह है कि अज्ञान सर्वथा निवृत्त नहीं हुआ है, इसी कारण प्रपञ्च बाधितानुवृत्ति से रहता है। यदि अज्ञान की निवृत्ति सर्वथा हो चुकी होती, तो प्रपञ्च भी सर्वथा निवृत्त हो जाता, परन्तु सर्वथा अनिवृत्त होने के कारण प्रपञ्च बाधितानुवृत्ति से रहता है।

शक्तेः स्वविशिष्टस्याज्ञानस्य च अनिवृत्तिरिति युक्तं प्रपञ्चस्य बाधितानुवृत्त्या सत्त्वम्, उपादानस्याज्ञानस्यानुवृत्तेः। ततश्च यस्य केवलं बाधितानुवृत्त्या प्रपञ्चः स्फुरति, स जीवन्मुक्त इति जीवन्मुक्तलक्षणं सिद्धम्।

अज्ञान में तीन शक्तियाँ हैं— एक है परमार्थ सत्ता का सम्पादन करने में समर्थ शक्ति। इस शक्ति के प्रभाव से ही प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व स्फुरित होता है, प्रपञ्च पारमार्थिक की तरह दिखता है। श्रवणादि अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर अज्ञान की यह शक्ति निवृत्त हो जाती है। इस शक्ति के निवृत्त हो जाने पर प्रपञ्च पारमार्थिक रूप में स्फुरित नहीं होता है, किन्तु व्यावहारिकतया स्फुरित होता है। इसी कारण माना जाता है कि अज्ञान में दूसरी शक्ति भी है व्यावहारिक सत्ता का सम्पादन करने में समर्थ शक्ति। व्यावहारिक सत्ता का सम्पादन करन में समर्थ अज्ञान की यह शक्ति आत्मतत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर निवृत्त हो जाती है। इस द्वितीय शक्ति के निवृत्त हो जाने पर प्रपञ्च व्यावहारिकतया स्फुरित नहीं होता, किन्तु प्रातिभासिकतया स्फुरित होता है। इसी कारण अज्ञान में प्रातिभासिक सत्ता का सम्पादन करने में समर्थ तृतीय शक्ति भी स्वीकार की जाती है। यह प्रातिभासिक सत्ता का सम्पादन करन में समर्थ अज्ञान की शक्ति तो भोग के द्वारा प्रारब्धकर्म का क्षय हो जाने पर अन्तिमतत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा अज्ञान के साथ-साथ निवृत्त होती है। इसके निवृत्त हो जाने पर प्रपञ्च का स्फुरण नहीं होता। इस प्रक्रिया से अज्ञान की शक्तियों की निवृत्ति होने में कोई प्रमाण न हो, ऐसा नहीं है क्योंकि *'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'* उसके अभिध्यान से, योजन से तथा तत्त्वभाव से अन्त में विश्वमाया की निवृत्ति होती है, यह श्रुति ही इस विषय में प्रमाण है। इस श्रुति में आये हुए अभिध्यान शब्द का अर्थ है श्रवणादि अभ्यास का परिपाक हो जाने पर प्रथम बार विश्वमायानिवृत्ति होती है। यद्यपि श्रवणादि अभ्यास का परिपाक हो जाने पर भी माया की निवृत्ति नहीं होती है, अपितु माया की पारमार्थिक सत्त्व का सम्पादन करने में समर्थ शक्ति की ही निवृत्ति होती है, तथापि शक्तिरूप विशेषण का नाश हो जाने से उस शक्ति से विशिष्ट माया का भी विनाश हो गया, जैसे शिखामात्र के नष्ट हो जाने पर भी *'शिखी नष्टः'* शिखी नष्ट हो गया, ऐसा प्रयोग हुआ करता है, उसी प्रकार माया की पारमार्थिक सत्त्व का सम्पादन करने में समर्थ शक्ति की निवृत्ति होने से ही उस शक्ति से विशिष्ट माया की भी निवृत्ति का व्यवहार होता है। योजन शब्द की व्युत्पत्ति है 'युज्यते अनेन इति योजनम्' इससे जुड़ता है, इस व्युत्पत्ति के बल से योजन शब्द का अर्थ होता है आत्मतत्त्वसाक्षात्कार। आत्मतत्त्वसाक्षात्कार से भी माया की निवृत्ति होती है क्योंकि माया की व्यावहारिक सत्त्व का सम्पादन करने में समर्थ शक्ति की निवृत्ति हो जाने से उस शक्ति से विशिष्ट अज्ञान का भी नाश हो जाता है। अन्त में तत्त्वभाव से माया की निवृत्ति होती है। तत्त्वभाव का अर्थ है तत्त्वसाक्षात्कार। उस तत्त्वसाक्षात्कार से भी माया की निवृत्ति होती है क्योंकि प्रारब्ध कर्मों के फलों का भोग कर लेने से प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है, उससे माया की प्रातिभासिक सत्त्व का सम्पादन करने में समर्थ शक्ति की भी निवृत्ति होने से विश्वमायानिवृत्ति हो जाती है, महाज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। क्रमशः पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक इन तीन शक्तियों से युक्त माया की निवृत्ति की बात कही जा रही है, इस कारण मायानिवृत्ति का अभ्यास हो रहा है, इसी कारण भूयःशब्द का प्रयोग उक्त श्रुतिवचन में किया गया है।

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवतीति, शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। तदुक्तम्—

"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।।" इति।

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः" इति च।

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्—

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।।" इति।

जीवन्मुक्तस्य नाशुभे प्रवृत्तिरित्याह— **अस्येति**। तत्त्वज्ञानस्य तथैव स्वभाव इति भावः। **तदानीमिति**। ज्ञानस्य सिद्धत्वादिति भावः।

इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार के विद्यमान रहने पर भी प्रारब्ध कर्मों के विद्यमान रहने के कारण प्रातिभासिकसत्त्व का सम्पादन करनेवाली शक्ति तथा उस शक्ति से विशिष्ट अज्ञान के निवृत्ति न हुई रहने से प्रपञ्च बाधितानुवृत्ति से है ही क्योंकि प्रपञ्च का उपादानभूत अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है। इसी कारण जिसको केवल बाधितानुवृत्ति से प्रपञ्च स्फुरित होता है, वही जीवन्मुक्त है, यह सिद्ध हुआ।

जीवन्मुक्त के लिए कोई विधि-निषेध नहीं रह जाते हैं। तो क्या जीवन्मुक्त की प्रवृत्ति शुभाशुभ समस्त कार्यों में होती है? तो जीवन्मुक्त की प्रवृत्ति अशुभ कर्मों में नहीं होती—

जीवन्मुक्त को ज्ञान के पूर्व में विद्यमान आहार-विहार आदि की अनुवृत्ति के समान शुभ वासनाओं की ही अनुवृत्ति होती है, अथवा शुभ तथा अशुभ दोनों से ही उदासीनता हो जाती है। इसी कारण कहा गया है कि—

'अद्वैत तत्त्व को जान लेने पर यदि पुरुष का आचरण मनमाना हो जाता हो, तो अशुचिभक्षण में (अपवित्र वस्तु का भक्षण करने में) कुत्ते में और तत्त्वज्ञानी में क्या अन्तर रह जायेगा' तथा और भी कहा गया है कि 'अपने कर्तृताध्यास की तरह ब्रह्मज्ञता के अभिमान को भी छोड़कर जो नित्यज्ञानरूप को जानता है, वही आत्मज्ञ है दूसरा कोई नहीं'।

जीवन्मुक्त तथा कुत्ते दोनों को ही यथेष्टाचरण प्राप्त होता है, तथापि जीवन्मुक्त ज्ञान से पूर्व की वासनाओं के कारण या तो शुभमात्र में प्रवृत्त होता है, या तो शुभ तथा अशुभ दोनों से ही उदासीन हो जाता है। कुत्ता या तो समान रूप से शुभाशुभ दोनों में ही प्रवृत्त होता है, अथवा पूर्व-पूर्ववासना के कारण अशुभ में ही प्रवृत्त होता है। इस कारण जीवन्मुक्त पर इस प्रकार कुत्ते से समानता का गलत आक्षेप नहीं किया जा सकता। तत्त्वज्ञान का कुछ ऐसा स्वभाव ही है कि जीवन्मुक्त की प्रवृत्ति अशुभ कर्मों में होती ही नहीं।

उस समय—ज्ञान के सिद्ध हो जाने के बाद जीवन्मुक्ति की अवस्था में— अमानित्व आदि ज्ञानसाधन

किं बहुना— अयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःख-लक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सति, अज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्

उपसंहरति— **किं बहुनेति। तदवसाने सति** प्रारब्धक्षये सतीत्यर्थः।

अनन्ताङ्घ्रियुगं स्मृत्वा रचिता बालबोधिनी।
आपदेवेन वेदान्तसारतत्त्वस्य दीपिका।।

।।इति श्रीआपदेवविरचिता बालबोधिन्याख्या वेदान्तसारव्याख्या समाप्ता।।

तथा अद्वेष्टृत्वादि सद्गुण अलङ्कार की तरह अनुवर्तित होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

'जिसको आत्मावबोध हो गया है, ऐसे व्यक्ति को अद्वेष्टृत्वादि गुण बिना किसी यत्न के ही हुआ करते हैं, उन अद्वेष्टृत्वादि गुणों के लिए ब्रह्मज्ञानी को किसी साधन का सहारा नहीं लेना पड़ता है'।

अमानित्व, अद्वेष्टृत्व आदि सद्गुण ज्ञान के साधन हैं। अभय, मन से शुद्ध व्यवहार, दान, इन्द्रियों का निरोध, देवपूजन, स्वाध्याय, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणिमात्र पर दया, लालच का अभाव, मृदुता, लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, शौच, धैर्य, किसी से द्वेष न करना, घमण्ड न करना इत्यादि गुणों के रहने पर ही व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व इन गुणों का रहना आवश्यक है, परन्तु एक बार ज्ञान प्राप्त हो जाये, तो इन गुणों के द्वारा जिसका साधन करना अपेक्षित था, सिद्ध कर लिया गया। परन्तु ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त इन गुणों की अनुवृत्ति स्वयं ही होती रहती है, ये अलङ्कार की तरह उस ब्रह्मज्ञानी को विभूषित करते रहते हैं।

अधिक क्या कहा जाये यह (आत्मसाक्षात्कार जिसने कर लिया है, ऐसा व्यक्ति) देहयात्रा मात्र के लिए इच्छा, अनिच्छा, परेच्छा से प्राप्त कराये गये सुख-दुःखरूप प्रारब्ध कर्मों के भोगों को भोगता हुआ अन्तःकरणाभासादि का अवभासक होता हुआ अन्तःकरणादि का अवसान हो जाने पर, प्रत्यगात्मा परब्रह्म में लीन हो जाने पर, अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यभूत संस्कारों का भी विनाश हो जाने पर परमकैवल्य आनन्दैकरस, समस्त भेदों के प्रतिभास से रहित अखण्ड ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है, अखण्डब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इसके समर्थन में अनेक श्रुतियाँ प्राप्त होती हैं 'उसके प्राण उत्क्रान्त नहीं होते हैं' 'यहीं पर लीन हो जाते हैं' 'विमुक्त ही विमुक्त हो जाता है' इत्यादि।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है चरम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति। उस मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के तत्त्वज्ञान से हुआ करती है। आत्मा के तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया बतायी गयी। इस कारण आत्मा का साक्षात्कार जिसको हो जाता है, उसने जो भी कर्तव्य था वह कर लिया, जो प्राप्तव्य था प्राप्त कर लिया। उसके लिए इस जीवन में कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। इस कारण आत्मसाक्षात्कार के बाद उसकी कोई अपनी इच्छा नहीं शेष रहती। वह आप्तकाम हो जाता है। वह जानता है कि पहले बहुत सारे कार्य थे, वे सब अब पूरे हो

परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते; 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'अत्रैव समवलीयन्ते' 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादिश्रुतेः।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचितो वेदान्तसारः समाप्तः ।।

गये। जो करना था उसको कर लिया, यह सोचता हुआ वह हमेशा तृप्त रहता है। जो अज्ञानी हैं, वे पुत्र आदि की कामना से संसार में संसरण करें, मैं तो परमानन्द से पूर्ण हूँ, मैं किस लिए किसी कामनावश कोई कार्य करूँ। परलोक को जाने की कामना रखनेवाले लोग परलोक की प्राप्ति के लिए कर्मों का आचरण करें, मैं तो स्वयं उन परलोक आदि से अतिरिक्त नहीं हूँ, मुझे परलोकादि की कामना से भी किसी कार्य का सम्पादन करने की क्या आवश्यकता। जो लोग वेदाध्ययन के या शास्त्र पढ़ने के अधिकारी हैं, वे वेदों का अध्ययन करें, शास्त्रों का अध्ययन करें, मैं तो अक्रिय हूँ, इस कारण मेरा तो किसी में भी कोई अधिकार नहीं। निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच आदि की भी इच्छा मेरी नहीं है, न तो वस्तुतःअक्रिय मैं इनमें से कुछ भी करता हूँ। यदि देखनेवाले, मिलनेवाले भिक्षा आदि की सुविधा कर देते हैं, तो ठीक है, मुझे कुछ इच्छा करने की आवश्यकता नहीं है। गुञ्जापुञ्ज को अग्नि समझ लेने पर भी वह गुञ्जापुञ्ज हमें जलाता नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्म में आरोपित यह संसार भी है, तथा इसके धर्म भी हैं। ये मुझको किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं कर सकते। जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं है, वे श्रवण करें, मैं तो ज्ञानसम्पन्न हूँ, मुझको श्रवण करने की क्या आवश्यकता। जिनको सन्देह है, वे उस सन्देह की निवृत्ति के लिए मनन करें, मुझे तो कोई संशय नहीं है, मुझे मनन की आवश्यकता नहीं। जिसको विपर्ययात्मक ज्ञान है, वे निदिध्यासन करें, मुझे तो देह के आत्मा होने का विपरीतज्ञान कथमपि नहीं है। 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार का कथनात्मक व्यवहार तो 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार के देहाध्यास के विना भी वासनावश हो सकता है। इस कारण मेरे इस प्रकार के व्यवहार से भी मुझे देहाध्यास है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। यह व्यवहार तो उस समय तक चलता रहेगा, जब तक कि प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं हो जाता, जब तक प्रारब्ध कर्म क्षीण नहीं हुए हैं, तब तक हजारों ध्यान करने पर भी यह व्यवहार क्षीण नहीं होगा। मेरे मन में कोई विक्षेप नहीं है, इस कारण मुझे समाधि भी नहीं है। समाधि तथा विक्षेप दोनों ही विकारी मन में ही होते हैं। चित्त की वृत्तियाँ बनने पर उनका निरोध करने के लिए समाधि की भी अपेक्षा होती है। मेरे मन के शुद्ध हो जाने के कारण न तो उस प्रकार की वृत्तियाँ ही बनती हैं, तथा न तो समाधि की ही आवश्यकता रह जाती है। ऐसे तो मैं अकर्ता हूँ, निर्लिप्त हूँ, फिर भी प्रारब्ध के अनुसार चाहे लौकिक तथा चाहे शास्त्रीय समस्त व्यवहार सम्पन्न हों।.अथवा मैं भले ही कृतकृत्य हो गया हूँ, परन्तु सामान्य जनों पर अनुग्रह की कामना से शास्त्रीय मार्ग का ही अनुवर्तन करता हूँ, इसमें कोई क्षति नहीं है। देवताओं की अर्चना, तीर्थों में स्नान, शौच, भिक्षा आदि में मेरा शरीर लगा रहे, मेरी वाणी तारस्वर में वेदों का उसी प्रकार पाठ करती रहे। मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन रहे, मैं साक्षी इसमें न तो कुछ करता हूँ और न तो करवाता हूँ। इस प्रकार के विचार

सर्वदा ही करता हुआ, प्रारब्धानुसार ही इच्छा, अनिच्छा या परेच्छा से जो भी प्राप्त हो जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहता हुआ आत्मज्ञ लोकसङ्ग्रह करता हुआ, अपने जीवन को व्यतीत करता हूँ।

जीवन्मुक्त के किसी भी कर्म का कोई फल नहीं रहता, क्योंकि उसके कर्मों में कामना का संस्कार नहीं शेष रहता। उसकी इच्छा भी वस्तुतः प्रारब्धजन्य ही होती है। वह अपना शेष जीवन केवल अपने प्रारब्ध कर्मों का उपभोग करने में ही व्यतीत करता है, आगे भोग के लिए किसी कर्म को सञ्चित नहीं करता। अन्त में उसके प्राण ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।

ब्रह्मसूत्रों में चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद में मरण के क्रम का प्रदर्शन किया गया है। भगवत्पाद आचार्य शङ्कर ने विशेष पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का उपस्थापन करते हुए वहाँ पर सिद्धान्तित किया है कि मरण के काल में वाणी आदि समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का मन में लय हो जाता है। अविद्वान् देह के प्रति कारणभूत सूक्ष्म भूतों का आश्रय लेकर कर्म से प्रयुक्त कुत्सित या श्रेष्ठ देह के ग्रहण द्वारा स्वकृत शुभ व अशुभ कर्मों के फलों का अनुभव करने के लिए संसरित होता है। विद्वान् तो ज्ञान से प्रकाशित मोक्षनाडीद्वार का आश्रय लेता है। जिसने निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे विद्वान् के प्राणादि शरीरान्तर का परिग्रहण करने के लिए उत्क्रमण नहीं करते हैं, अपितु अतितप्त लौहपिण्ड पर पड़ा हुआ जलबिन्दु जिस प्रकार उसी लौहपिण्ड में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार विद्वान् के प्राणादि ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।

महेशानन्दपादाब्जप्रसादाल्लब्धकीर्तिना।
सच्चिदानन्दमिश्रेण टीका भाषामयी कृता।।

।। इस प्रकार वेदान्तसार की श्री सच्चिदानन्दमिश्रविरचित बालव्युत्पत्तिवर्धिनी नामक हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।।



परिशिष्टम् (१)

वेदान्तसारोद्धृत उद्धरणों की आकरनिर्देशसहित सूची

उद्धरण	आकर	पृष्ठसङ्ख्या
अजामेकाम्	श्वेताश्वतरोपनिषत् ४/५	७६
अत्रैव समवनीयन्ते	बृहदारण्यकोपनिषत् ३/३/१९	१७१
अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः	तैत्तिरीयोपनिषत् २/५/१	१२६
अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः	तैत्तिरीयोपनिषत् २/२/१	१२३
अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः	तैत्तिरीयोपनिषत् २/३/१	१२४
अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः	तैत्तिरीयोपनिषत् २/४/१	१२५
असदेवेदमग्र आसीत्	छान्दोग्योपनिषत् ६/२/१	१२७
अहं ब्रह्मास्मि	बृहदारण्यकोपनिषत् १/४/१०	१५१
आचार्यवान् पुरुषो वेद	छान्दोग्योपनिषत् ६/१४/२	१६२
आत्मा वै जायते पुत्रः	कौषीतकीब्राह्मणोपनिषत् २/११	१२१
आनन्दभुक् तेजोमुखः	माण्डूक्योपनिषत् ५	८५
इन्द्रो मायाभिः	बृहदारण्यकोपनिषत् २/५/१९	८३
उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं	छान्दोग्योपनिषत् ६/१/३	१६२
उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो	नैष्कर्म्यसिद्धि ४/६९	१७९
एकमेवाद्वितीयम्	छान्दोग्योपनिषत् ६/२/१	१६१
एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः	तैत्तिरीयोपनिषत् २/१/१	१०२
एष सर्वेश्वरः	माण्डूक्योपनिषत् ६	८९
ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्	छान्दोग्योपनिषत् ६/८/७	१६१
कर्मणा पितृलोको विद्यया	बृहदारण्यकोपनिषत् १/५/१६	३२
घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं	हस्तामलकीय १०	९४
जागरितस्थानो बहिःप्राज्ञः	माण्डूक्योपनिषत् ३	११८
तत्त्वमसि	छान्दोग्योपनिषत् ६/८/७	१३९, १४०, १५१, १६२
तपसा कल्मषं हन्ति	मनुस्मृति १२/१०४	३१
तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन	बृहदारण्यकोपनिषत् ४/४/२२	३१
तरति शोकमात्मवित्	छान्दोग्योपनिषत् ७/१/३	५०
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह	मुण्डकोपनिषत् १/२/१३	५३
ते ह प्राणाः प्रजापतिं	छान्दोग्योपनिषत् ५/१/७	१२३

परिशिष्टम् (२)

बालबोधिनी में उद्धृत उद्धरणों की आकरनिर्देशसहित सूची

उद्धरणवाक्य	आकर	पृष्ठसङ्ख्या
अकुर्वन् विहितं कर्म	मनुस्मृति ११/४४	२४
अक्षय्यं ह वै ....सुकृतं भवति	शतपथब्राह्मण २/६/३/१	१०
अजामेकाम्	श्वेताश्वतरोपनिषत् ४/५	७५,७७
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	ब्रह्मसूत्र १/१/१	३,६,१०
अध्यापयीत	...	१८
अपञ्चीकृतानि पञ्चीकृततामापद्यन्ते	पञ्चपादिकाविवरण	१०४
अपाम सोमममृता अभूम	अथर्वशीर्ष ३	१०
अभिधेयाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणा	...	१४०
अर्थी समर्थो विद्वान्	...	१३
असदेवेदमग्र आसीत्	छान्दोग्योपनिषत् ३/१९/१	६८
अहरहः सन्ध्यामुपासीत	...	२८
आत्मन आकाशः सम्भूतः	तैत्तिरीयोपनिषत् २/१	११४
आत्मा वै पुत्रः	...	१२२
आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते	विष्णुपुराण २/८/९६	१०
इच्छातोऽनुष्ठेयत्वान्मानसी क्रियैषा न ज्ञानम्	पञ्चपादिका पृ.११५	३१
इन्द्रो मायाभिः	बृहदारण्यकोपनिषत् २/५/१९	७५
एकमेवाद्वितीयम्	छान्दोग्योपनिषत् ६/२/१	६७
एतया ग्रामकामं याजयेत्	तैत्तिरीयसंहिता २/३/९	१८
एष सर्वेश्वरः	बृहदारण्यकोपनिषत् ४/४/२२	९०
ऐहिकपारलौकिक..विरागः	...	४०
जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।	महाभारत शान्तिपर्व ३३९/२९	१३४
जडे आवरणाभावात्	...	९९
जन्म आदिर्यस्येति	ब्रह्मसूत्र १/१/२ शाङ्करभाष्य	१४५
जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत	...	३६
जीवाश्रिताभिरविद्याभिर्विषयीकृतत्वमुपाधिः	ब्रह्मसूत्र २/३/४३ शाङ्करभाष्य-भामती-कल्पतरु	८१